ब्रह्म तत्त्व

वैद्यनाथ अग्निहोत्री

ब्रह्म तत्त्व

: लेखक :

वैद्यनाथ अग्निहोत्री

शिव निवास

चौक, लखनऊ

प्रकाशक :

वैद्यनाथ अग्निहोत्री

'शिव निवास'

चौक, लखनऊ

मूल्य :

श्रद्धा एवं मनन

सं० २०२१ वि०

मुद्रक :

बजरंग शरण तिवारी

दुर्गा प्रेस, शिवाजी मार्ग

लखनऊ

उपोद्घात

भारतीय वाङ्मय में वेदों का स्थान सर्वोपरि है। वेद में दो भाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण। मन्त्रभाग को 'संहिता' भी कहा जाता है। ब्राह्मण भाग में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् का समावेश है। वेदों की ११३१ शाखायें हैं। यजुर्वेद की १०१ शाखा, सामवेद में १०००, ऋग्वेद में २१ और अथर्ववेद की ९ शाखायें हैं। प्रत्येक शाखा में एक भाग मन्त्र का, एक ब्राह्मण का, एक आरण्यक और एक भाग उपनिषद् का होता है। चारों मिल कर एक शाखा कही जाती है। इस प्रकार ११३१ मन्त्र की शाखायें, इतने ही ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् की शाखायें भी होती हैं। सबकी सम्मिलित संज्ञा 'वेद' है। इस समय संहिता भाग की केवल १२ शाखायें ही प्राप्त हैं, अन्य सभी कालक्रम से विनष्ट हो गईं।

वेदों को अपौरुषेय माना गया है अर्थात् किसी पुरुष द्वारा इनकी रचना नहीं हुई है। कुछ विद्वानों का कथन है कि इनकी रचना ईश्वर द्वारा की गयी है, ईश्वर भी 'पुरुष' है, इसलिये वेद पौरुषेय हैं। किन्तु प्राचीन मान्यता के अनुसार वेदों का निर्माण ईश्वर द्वारा भी नहीं हुआ। प्रत्येक कल्प के आरम्भ में ईश्वर द्वारा इनका प्रकाशन मात्र होता है। वेद नित्य हैं, जैसे ईश्वर नित्य है वैसे ही ईश्वर का ज्ञान भी नित्य है, ईश्वरीय ज्ञान ही वेद हैं। अतः वेद नित्य, अपौरुषेय एवं सर्वदोषविवर्जित हैं। इसी से वेद स्वतः प्रमाण हैं, वेदों के आधार पर स्मृति आदि शास्त्र होने से परतः प्रमाण हैं। सब प्रमाणों में श्रेष्ठ और निर्दोष प्रमाण वेद ही है। लौकिक विषयों में प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाण हैं, किन्तु पारलौकिक विषय, धर्म, ज्ञान, आत्मा, ब्रह्म आदि में एक मात्र वेद ही प्रमाण है।

वेद के मन्त्र या संहिता भाग में ऋषियों द्वारा बड़े ही सारगर्भित रूप में सच्चिदानन्द, परब्रह्म परमात्मा की स्तुति की गई है। अग्नि, इन्द्र, वरुण, अश्विनीकुमार, विष्णु, रुद्र आदि नामों से एक ही चेतन सत्ता ब्रह्म का यशोगान किया गया है। अग्निहोत्र, चातुर्मास, सोमयाग, अश्वमेध आदि यज्ञों का भी निरूपण मिलता है।

ब्राह्मण भाग में यज्ञ प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन है और यज्ञों की आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक व्याख्या भी की गई है। वाचस्पति मिश्र का कहना है कि 'जिसमें किसी मन्त्र का यज्ञादि में विनियोग, उसका प्रयोजन, व्याख्यान और प्रतिष्ठान आदि का निरूपण हो, उसे 'ब्राह्मण' कहते हैं।' इस प्रकार ब्राह्मण भाग कर्म प्रधान है।

गृहस्थाश्रम के उपरान्त द्विज अरण्य में तप, साधना एवं उपासना के लिये प्रस्थान करते थे। इस वानप्रस्थ आश्रम के नियमों का उल्लेख 'आरण्यक' में है। निष्काम

कर्म द्वारा ईश्वरोपासना, तप से देहाध्यास की निवृत्ति, वाह्य एवं आन्तरिक शुद्धि के लिये स्नान, नियमित आहार-विहार तथा प्राणायामादि कर्म का विधान किया गया है। साथ ही प्रतीकोपासना आदि का वर्णन भी आरण्यक में मिलता है। इस प्रकार 'आरण्यक' उपासना प्रधान हैं।

उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। खेत में खाद छोड़कर, निरा कर और जोत कर जब योग्य भूमि तैयार कर ली जाती है, तब बीज बोने से अन्न की उपज ठीक होती है। इसी प्रकार पुरुष की मनोभूमि भी तैयार की जाती है, कामना को निरा कर, निष्काम कर्म से मन को जोत कर पुनः ईश्वरोपासना की खाद देकर उसे इस योग्य बनाया जाता है कि उसमें ब्रह्मज्ञानरूपी बीज की उपज हो। ब्राह्मण और आरण्यक मनोभूमि को योग्य बनाने का कार्य करते हैं। फिर उपनिषद् से ब्रह्म-ज्ञान का बीज बोया जाता है। उपनिषदों में ब्रह्म, जीव एवं जगत् का बड़ा ही मार्मिक, हृदयग्राही और रहस्यात्मक विवेचन मिलता है। उपनिषदों में जगत् का एक मात्र अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म ही कहा गया है। ब्रह्म ही सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान है, अतः जगत् ब्रह्म में ही कल्पित है, ब्रह्म से अतिरिक्त किसी की सत्ता नहीं हैं। जीव भी ब्रह्मस्वरूप ही है, अज्ञान से अपने को भिन्न समझता है। जब ज्ञानोदय होता है एवं अज्ञानान्धकार विलुप्त हो जाता है, तब जीव स्वयं 'मैं ब्रह्म हू" का अनुभव करता है। इस प्रकार उपनिषद् ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं।

वर्तमान काल में मन्त्र, ब्राह्मण और आरण्यक की अपेक्षा उपनिषद् अधिक संख्या में उपलब्ध हैं। 'मुक्तिकोपनिषद्' में प्रधान उपनिषदों के नाम और सँख्या १०८ दी गई है। वह सभी इस समय विद्यमान हैं, इनके अतिरिक्त और भी बहुत से उपनिषद् पाये जाते हैं, वेदों के शीर्षस्थानीय उपनिषद् का महत्व सर्वाधिक है। अनेक आचार्यों ने उपनिषदों के ऊपर भाष्य लिख कर अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्त की स्थापना की है। महर्षि वेदव्यास ने 'वेदान्त दर्शन' में उपनिषदों का सार निचोड़ कर रख दिया है। 'वेदान्त दर्शन' समस्त दर्शनों का मुकुटमणि है। इसमें प्रत्यगभिन्न चेतन ब्रह्म का प्रतिपादन बड़े ही कौशल से किया गया है। एक ही सूत्र में जिस प्रकार अनेक मणियां ग्रथित रहती हैं, उसी प्रकार जीव, जगत्, प्रकृति आदि तत्त्व एक ही ब्रह्मरूपी सूत्र में ग्रथित किये गये हैं। इसीसे 'ब्रह्म-सूत्र' भी इसका एक नाम है। मूल तत्व का अनुसन्धान जिस ग्रन्थ में किया जाय, उसे 'दर्शन' कहते हैं। ब्रह्म-सूत्र की रचना का आधार है—'वेदान्त' और मूलतत्व का अन्वेषण किया गया है, इसी से 'वेदान्त-दर्शन' भी इसे कहा जाता है।

मूलतत्व का अन्वेषण ही मोक्ष का परम साधन है। पुरुषार्थ चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—में सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ मोक्ष ही है। यद्यपि अन्य दर्शनकारों ने भी

मोक्ष का विचार किया है, किन्तु जितना सारगर्भित, प्रामाणिक, सयुक्तिक, सूक्ष्म और बुद्धिग्राह्य विचार 'वेदान्त-दर्शन' में किया गया है, उतना किसी अन्य में नहीं। 'वेदान्त-दर्शन' का मोक्ष ब्रह्म को प्राप्त करना नहीं है, किन्तु ब्रह्मस्वरूप ही हो जाना है। इस जीवन में ही मोक्ष का अनुभव कर कृतकृत्य होना और परमानन्दामृतार्णव में निमग्न रहना है। 'वेदान्त-दर्शन' का मोक्ष प्रत्यक्ष है, क्योंकि ब्रह्म प्रत्यक्ष है—'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृह० ३।४।१)। इसी कारण इसकी सर्वाधिक मान्यता है। जितना सूक्ष्म विवेचन, श्रुति-प्रमाणों की संगति भगवान् आद्य शंकराचार्य के इस पर लिखे भाष्य में मिलती है, उतनी अन्य किसी भाष्य में नहीं।

वस्तुतः उपनिषदों की परम प्रामाणिक टीका ही है—'वेदान्त-दर्शन'। भगवद्गीता भी उपनिषद्-तत्त्व का प्रतिपादन करती है। इसी से उपनिषद्, गीता और ब्रह्म सूत्र 'प्रस्थान त्रय' के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'प्रस्थान त्रय' निवृत्ति प्रधान ग्रन्थरत्न हैं और इस विषय में परम प्रमाण भी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'ब्रह्मतत्त्व' में 'प्रस्थान त्रय' का सार-संग्रह किया गया है। विशेष रूप से उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र का आश्रय लिया है। भगवान् शंकराचार्य ने अपने भाष्य में जिस ब्रह्मात्मैक्यज्ञान का प्रतिपादन किया हैं, उसी निष्कण्टक राजमार्ग में चलने का प्रयास इस ग्रन्थ में भी किया गया है। इसमें पांच खण्ड हैं—प्रथम 'अनुबन्ध चतुष्टय खण्ड', द्वितीय 'ब्रह्म खण्ड', तृतीय 'जीव खण्ड', चतुर्थ 'उपासना खण्ड' और पंचम 'ज्ञान खण्ड' है। नामानुसार विषयों का प्रतिपादन प्रत्येक खण्ड में है।

प्रतिपादित विषय में शंका न हो, इस कारण श्रुति, सूत्र एवं स्मृति के प्रमाणों का संग्रह भी किया गया है। प्रमाण-संग्रह से ग्रन्थ में प्रामाणिकता, एवं उपयोगिता असंदिग्ध रूप से हो जाती है। सभी संस्कृत-प्रमाणों का हिन्दी अनुवाद भी साथ में दिया गया है। भाष्यकार शंकराचार्य के भाष्य का कहीं शब्दशः और कहीं भावरूप से उपयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्राचीन ग्रन्थों एवं आधुनिक ग्रन्थों का भी आश्रय लिया है। इस प्रकार देखने पर ज्ञात होगा कि इसमें अपना कुछ भी नहीं है। किन्तु इससे हमें लज्जा का नहीं, गौरव का ही अनुभव होता है। क्योंकि ग्रन्थ-प्रतिपादित विषय में किसी प्रकार के सन्देह का अवसर नहीं रहता।

आशा है विद्वज्जन इसकी परीक्षा करेंगे और जो त्रुटि होगी उसका निःसंकोच उल्लेख भी करेंगे। जो बुद्धिमान साधक श्रद्धापूर्वक ग्रन्थ का मनन करेंगे, वह ग्रन्थ-प्रतिपादित ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान का साक्षात्कार कर अपना जीवन सफल बनायेंगे।

शिव निवास,
चौक लखनऊ

वैद्यनाथ अग्निहोत्री

अनुक्रमणिका

जिनकी दया-दृष्टि

अज्ञान तम का दलन कर

ज्ञान स्वरूप तेज

का

साक्षात्कार करा देती है ;

उन अवधूत शिरोमणि गुरुदेव

श्री स्वामी आत्मानन्द सरस्वती जी

के

श्री चरणों में

सादर समर्पित

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

१

अनुबन्ध चतुष्टय खण्ड

इस खण्ड के कुछ आधार वाक्य

'तस्मादेवं विच्छान्तो दान्तो उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति'

—बृहदारण्यक उपनिषद् ४.४.२३

'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदः यजुर्वेदः सामवेदः'

—बृहदारण्यक उपनिषद् २.४.१०

'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्'

—बृहदारण्यक उपनिषद् ३.९.२६

'शास्त्रयोनित्वात्'

—ब्रह्मसूत्र १.१.३

'सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् ।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैक प्रयोजनम् ॥'

—भागवत १२.१३.१२

'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'

—मुण्डकोपनिषद् ३.२.९

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'

—तैत्तिरीयोपनिषद् २.१.१

'पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः'

—ब्रह्मसूत्र ३.४.१

अधिकारी-निरूपण

अमरत्व, ज्ञान एवं आनन्द की अभिलाषा सभी प्राणियों में होती है। जिसका कभी विनाश न हो ऐसा नित्य जीवन सभी चाहते हैं। भूत, वर्तमान तथा भावी के अखण्ड ज्ञान की इच्छा सभी करते हैं एवं दुःखलेशरहित निरतिशय सुख की भी सभी कामना करते हैं। किन्तु अविनाशी जीवन, अखण्ड ज्ञान और पूर्णानन्द की प्राप्ति प्राकृतिक पदार्थों में सम्भव नहीं। उत्पन्न पदार्थों का अन्त है विनाश, अतः उत्पन्न पदार्थ अविनाशी नहीं हो सकते। इसी प्रकार मनोनुकूल पदार्थ से सुख और विपरीत पदार्थ से दुःख होता है। सभी पदार्थों का ज्ञान एवं भूत, वर्तमान तथा भावी का ज्ञान भी असम्भव है। तात्पर्य भूत, भौतिक पदार्थों में इनकी पूर्ति सम्भव नहीं।

जो अनुत्पन्न हो, त्रिकालाबाधित हो एवं आनन्दस्वरूप हो, वही नित्य, अविनाशी, अखण्ड ज्ञान एवं पूर्णानन्द हो सकता है। ऐसा एकमात्र आत्मतत्व है। आत्मतत्व सम्पूर्ण प्राणियों का स्वरूप है। वह जन्मरहित, नित्य, अविनाशी, चेतन और आनन्दस्वरूप है। अविनाशी आत्मरूप होने पर भी विनाशी शरीर में ही 'अहं' भावना करने से प्राणी अपने को विनाशी समझ लेता है। तभी अज्ञान, दुःख और जन्म-मरणशील होता हैं। और इनसे मुक्ति पाने के

लिए दिन-रात्रि प्रयत्न में निमग्न रहता है। विनाशी पदार्थों में अविनाशी तत्व का अन्वेषण करता है, जड़ में चेतन का और अनानन्द में आनन्द प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। किन्तु इनमें मानव सर्वथा विफल रहता है।

जब किसी पुण्योदय के प्रताप से विवेक उत्पन्न होता है, विवेकी पुरुष का संग और मोक्ष शास्त्र का अध्ययन करता है, तब नित्य-अनित्य पदार्थ का ज्ञान होता है। शरीर और भौतिक पदार्थ अनित्य हैं, आत्मा नित्य है। आत्मा ही अजर, अमर, चेतन और आनन्दस्वरूप है। इसके दर्शन से ही अनात्म पदार्थों में सुख बुद्धि और परिणाम स्वरूप जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि बंधन से मुक्ति मिलती है। अनात्मदर्शन से बन्धन और आत्मदर्शन से मोक्ष होता है। अविनाशी जीवन, अखण्ड ज्ञान एवं अनन्त आनन्द एकमात्र आत्मा ही है। अतः आत्मदर्शन से इनकी प्राप्ति और मुक्ति सम्पन्न होती है। वस्तुतः यह नामभेद है, वस्तु एक है। आत्मा मुक्तस्वरूप है, इसके दर्शन से अनात्म वन्धन की निवृत्ति होती है और सच्चिदानन्द, शुद्ध, बुद्ध, अद्वय, मुक्तस्वरूप की प्राप्ति होती है।

आत्मा तथा ब्रह्म एक ही है। मोक्ष शास्त्र का फल चिदात्मस्वरूप ब्रह्म है और वह जीवनकाल में ही प्रत्यक्षानुभवसिद्ध एवं अविनाशी है। किन्तु वह अधिकारी पुरुष के सम्मुख ही प्रकाशित होता है, अनधिकारी के सम्मुख नहीं। जिस प्रकार रूप-दर्शन अनन्ध व्यक्ति को ही होता है, अन्ध को नहीं, शब्द-श्रवण बधिरताविहीन को ही होता है, बधिर को नहीं और रसास्वादन रसनासम्पन्न पुरुष को ही होता है, रसनारहित को नहीं। उसी प्रकार ब्रह्मात्म दर्शन साधनचतुष्टय-सम्पन्न पुरुष को ही होता है, अन्य को नहीं। ज्योतिष्टोम-सम्पन्न व्यक्ति को स्वर्ग प्राप्त होता है, व्यापारी को धन और स्त्रीसंयुक्त को जैसे पुत्र प्राप्त होता है, उसी प्रकार साधनसम्पन्न पुरुष को मोक्ष प्राप्त होता ही है। यद्यपि स्वस्वरूप होने से सभी प्राणियों को आत्मा प्राप्त ही है, प्रतिक्षण अनुभव भी सभी को हो रहा है किन्तु सामान्य अनुभव होने पर भी विशेषानुभव नहीं होता। श्रुति में दृष्टान्त देकर बतलाया है कि हिरण्यनिधि के ऊपर जाने-आने पर भी अज्ञ पुरुष नहीं जानते कि यही स्वर्ण-निधि है उसी प्रकार नित्यप्रति सुषुप्ति में प्राणी आत्मा में ही लीन होते हैं और वहीं से आते हैं। पर यह नहीं जानते

कि 'यही आत्मा है।' जाग्रत् में भी क्षण-क्षण में संकल्प-विकल्प के मध्य आत्मा स्पष्ट प्रकाशित होता है, संकल्प-विकल्प का अधिष्ठान है, जैसे तरंग का जल। किन्तु संकल्प-विकल्प के ज्ञान के अभ्यस्त होने से और बहिर्मुखी वृत्ति रहने से अपने स्वरूप का सामान्य ज्ञान होने पर भी विशेष नहीं होता। जिस प्रकार मुक्तामणियों से सूत्र आवृत्त रहता है, वैसे ही संकल्पादि से आत्मा आवृत्त रहता है। मणियाँ पृथक् करने पर जैसे सूत्र का दर्शन स्पष्ट होता है, उसी प्रकार संकल्पादिरहित होने से आत्म-दर्शन भी स्पष्ट होने लगता है। बाह्य एवं आन्तरिक कर्मों का परित्याग और ब्रह्माकार बुद्धि-वृत्ति होने पर स्वरूपानुभव होता है।

वेदान्त शास्त्र या ब्रह्मज्ञान का अधिकारी न तो वह अज्ञानी पुरुष है, जिसकी दृष्टि में 'खाओ, पियो और मौज करो' का सिद्धान्त है और न वह व्यक्ति है, जो अप्सराओं आदि सुखोपभोग के लिए स्वर्ग के साधन कर्मों में तल्लीन है। जिस पुरुष को ब्रह्मात्मानुभव है, वह भी अधिकारी नहीं है; क्योंकि वह कृतकृत्य है। अधिकारी वही है, जिसे लौकिक एवं पारलौकिक सुखों से पूर्ण वैराग्य हो अविनाशी तत्व तथा विनाशी तत्व का विवेक हो, कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों एवं मन पर जिसका नियन्त्रण हो और एकमात्र मोक्ष की कामना हो। श्रुति का स्पष्ट निर्देश है कि एकमात्र त्याग से ही अमृतत्व प्राप्त होता है—**'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः'**। स्मृति भी है—**'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते। तस्मात् कर्मन कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥'** (म० शा० २४१,७) कर्म से प्राणी बन्धन में पड़ते हैं और विद्या से मुक्त होते हैं, अतः पारदर्शी मुनि कर्म नहीं करते। कर्म से भोग प्राप्त होते हैं, मोक्ष नहीं। शुभाशुभ कर्मों से मानव, देवादि उच्चयोनियों में और शूकर कूकर, कीट-पतंगादि नीच योनियों में कर्मानुसार भोग मिलते हैं। कर्म-फल पूर्ण होने पर पुनः कर्म के लिए जन्मादि का चक्र निरन्तर चलता रहता है। जब अनेक जन्मों के सुकृत उदय होते हैं, तब मानव-जन्म और उसमें भी विवेक होता है। वह विचार करता है कि कर्मों के फल विनाशी हैं, इनसे अविनाशी तत्व प्राप्त नहीं हो सकता। अतः भोग और कर्म को त्याग कर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। उससे वैराग्योदय होता है। विषयों के प्रति विरक्त भावना, इन्द्रियनिग्रह, विषयों का परित्याग, प्रारब्धानुसार

कष्टों को सहन करने की इच्छा आदि होती हैं और मोक्ष की कामना होती है। तभी वह 'अधिकारी' कहा जाता है, उसी में ब्रह्मविद्या का फलोदय होता है।

ब्रह्म सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश और अद्वय है। वही प्राणी का स्वरूप है, जीव और ब्रह्म के स्वरूप में कोई भेद नहीं। किन्तु यहाँ प्रश्न होता है कि 'जब ब्रह्म स्वप्रकाश और जीव का स्वरूप ही है, तब जीव में अज्ञान आया कहाँ से ?' इसका उत्तर है कि जैसे उदयास्तरहित सूर्य मेघ के आवरण से तिरोहित हो जाता है और मेघ के हट जाने पर वही प्रकाशित होने लगता है, उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानावरण से तिरोहित और ज्ञान से आवरण भंग होने पर प्रत्यक्ष भासित होने लगता है। संतप्त सूर्य की किरणों से ही मेघ उत्पन्न होते हैं और सूर्य को ढक लेते हैं। इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा से ही अज्ञान उत्पन्न होता है और आत्मा को ढक लेता है। 'मैं नहीं जानता' यह अनुभव सर्व-प्रसिद्ध है और यही अज्ञान का स्वरूप है। 'मैं नहीं जानता' यह ज्ञान भी आत्मा से ही होता है, किसी अन्य से नहीं। सुषुप्ति में मानव द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन का अभाव होने पर कुछ भी नहीं देखता, जगने पर कहता है–'सुख से सोये, कुछ भी न जाना'। सुखानुभव और कुछ न जानने (अज्ञान) का अनुभव ज्ञानस्वरूप आत्मा से होता है, अतः सामान्य ज्ञान और अज्ञान में कोई विरोध नहीं है। इसे दूसरे प्रकार से यों समझा जा सकता है—सूर्य-प्रकाश से मन्दिर प्रकाशित हो रहा है, पर यदि वहाँ सहस्रों दर्पण हों और सूर्य प्रकाश उसमें प्रतिबिम्बित हो कर मन्दिर में पड़े, तो मन्दिर द्विगुणित प्रकाशित हो उठता है। प्रथम वह सामान्य रूप से प्रकाशित होता था, दर्पणादिक के प्रकाश से विशेष प्रकाशित होने लगता है। इसी प्रकार सूक्ष्म देह के सम्बन्ध से आत्मा का सामान्य ज्ञान होता है, विशेष नहीं; क्योंकि जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, उनके मूल में आत्मा की ही शक्ति रहती है। अन्तःकरण और इन्द्रियों की प्रवृत्ति बहिर्मुखी होने से उससे स्थूल एवं सूक्ष्म देह और विषयों का ही ज्ञान होता है, आत्मा का ज्ञान नहीं होता। तभी वह कहता है कि 'मैं आत्मा को नहीं जानता।' यही अज्ञानावस्था है। 'मेरा स्वरूप आत्मा है या देह ?' यह संशय-कथन

अज्ञान की दूसरी सीढ़ी है, जिसे 'संशयज्ञान' कहा जाता है। 'मैं शरीर हूँ' यह अज्ञानावस्था की तीसरी सीढ़ी है, इसे 'विपरीतज्ञान' या 'अध्यास' कहते हैं। इस अध्यास के कारण ही प्राणी कामना, तथा कर्म करता और तदनुसार भोग भोगता है। सर्वानर्थ का मूल शरीर में अहंभावना ही है।

अहंभावना से विषयों में राग उत्पन्न होता है। राग से इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होती हैं। विषयभोगों से मन में आसक्ति होती है। आसक्ति से पुनः विषयप्राप्ति की कामना और कामना से कर्म होते हैं। कर्म में असफल होने से क्रोध, क्रोध से विवेक का विनाश और विवेकनाश से प्राणी का पतन हो जाता है। शरीराध्यास ही पतन का मूल है। राग, इन्द्रिय-लोलुपता आदि तो शाखा प्रशाखाएँ है। ऐसे पतनोन्मुखी पुरुष के लिए वेदों में सकाम कर्मों का विधान किया है। उसका लक्ष्य है, कामनाओं पर अंकुश लगाना और लौकिक कर्मो से वैदिक कर्मो में प्रवृत्त कराना। वैदिक कर्मों से जब मन में विषयों के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाय, तब सकाम कर्मों को त्याग कर निष्काम कर्म में प्रवृत्ति होती है। उस समय ब्राह्मण यज्ञ, दान एवं अनाशक तप से ब्रह्मज्ञान की इच्छा करते हैं—**'ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'** (बृह० ४।४।२२)। इसी श्रुति के आधार पर 'वेदान्तदर्शन' में सूत्र है—**'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्'** (३।४।२६)। इसमें यज्ञ, दान एवं तप को बाहिरंग साधन कहा गया है। ज्ञान के अन्तरंग साधन के लिए पृथक् सूत्र है—

**'शमदमाद्युपेतःस्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्ग
तया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्।'** (३।४।२७)

इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मज्ञानार्थी को शम, दमादि से युक्त होना चाहिए, कारण विद्या के अंगरूप में **'तस्मादेवं विच्छान्तो दान्तो उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति'** (बृह० ४।४।२३,) (अर्थात् इसलिए ऐसा आपाततः जाननेवाला शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु एवं समाहित होकर आत्मा में ही आत्मा को देखता है) इत्यादि श्रुति से शमादि का विधान है और विहित होने से वह अनुष्ठेय है। इस प्रकार अधिकारसम्पन्न होने पर ब्रह्म की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। महर्षि ने **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** (१।१।१) इस प्रथम सूत्र के 'अथ' शब्द से

अन्तरङ्गसाधनचतुष्टय का ही उल्लेख किया है। जिस प्रकार **'अथातो धर्मजिज्ञासा'** से जैमिनि मुनि ने 'अथ' शब्द से वेदाध्ययन के अनन्तर धर्म की जिज्ञासा कही है, उसी प्रकार 'वेदान्तदर्शन' में विवेक, वैराग्य, शम-दमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा का विधान किया गया है। साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारी पुरुष का ही वेदान्ताध्ययन या श्रवण में अधिकार है। ब्रह्मात्मैक्यबोधक महावाक्यों का श्रवण ही 'श्रवण' कहलाता है। वाक्य-श्रवण से ब्रह्म-ज्ञान होता है।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि 'अनेक ऐसे पुरुष देखे जाते हैं, जिन्हें श्रवण के अनन्तर भी ज्ञान नहीं होता।' इसका समाधान यह है कि उनमें साधनों की न्यूनता से ही ज्ञानोदय नहीं होता। वैराग्यादि का सम्बन्ध अन्तःकरण से है, बाह्य-विषयों के त्याग या किसी वेष से वैराग्यादि नहीं होते। इसके अतिरिक्त ज्ञानोदय न होने में अन्य कारण 'प्रतिबन्ध' भी हैं। प्रतिबन्ध तीन प्रकार के होते हैं—भूत, वर्तमान और भावी। भूत प्रतिबन्ध के सम्बन्ध में एक गाथा प्रसिद्ध है कि किसी संन्यासी को पूर्व-गृहस्थाश्रम में भैंस से अत्यन्त स्नेह था। उस स्नेह के कारण उसे तत्त्वज्ञान न होता था। गुरु ने भैंस को ही ब्रह्म बताकर उसकी उपासना करने को कहा। उस उपासना से प्रतिबन्ध-क्षय होने पर उसे तत्त्व-बोध हो गया। यह भूत प्रतिबन्ध था। वर्तमान प्रतिबन्ध हैं—विषयासक्ति, प्रज्ञामान्द्य, कुतर्क, विपर्यय और दुराग्रह। इनका निवारण विवेक, वैराग्य एवं शम, दमादि के पूर्णरूपेण होने पर ही होता है। जन्मान्तर प्राप्त करानेवाला प्रारब्धशेष भावी प्रतिबन्ध है। वामदेव को गर्भ में ही ज्ञान हो गया था और भरत को तीन जन्म में ज्ञान हुआ। यदि प्रतिबन्धक न हों, साधन की पूर्णता हो, तो इसी जन्म में मुक्ति होती है, अन्यथा जन्मान्तर में। महर्षि ने एक सूत्र द्वारा यही प्रदर्शित किया है—

'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्।' (३.४.५१)

प्रतिबन्धकाभाव होने पर इसी जन्म में ज्ञान होता है अन्यथा जन्मान्तर में।

प्राणी का मूलबन्धक अज्ञान है। इसके तीन भेद ऊपर बतलाये जा चुके हैं—अज्ञान, संशय ज्ञान और विपर्यय-ज्ञान। पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर कठिन हैं। इन तीनों के विनाश के लिए तीन अन्तरङ्गतम साधन हैं—

श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन। श्रवण से अज्ञान का निवारण होता है, मनन से संशयज्ञान का और निदिध्यासन से विपर्यय-ज्ञान का। जितने अज्ञानादि प्रबल होंगे, उतनी ही प्रबलता से दीर्घकाल तक श्रवणादि भी कर्तव्य हैं।

'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्।' (४, १, १)

इससे श्रवण मनन एवं निदिध्यासन की बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए—ऐसा सूत्रकार विधान करते हैं। जैसे अवघातादि का पर्यवसानतण्डुल की निष्पत्ति होने पर होता है, क्योंकि वह दृष्टार्थ है, वैसे ही श्रवणादि की आवृत्ति का पर्यवसान साक्षात्कार में है। साक्षात्कार-पर्यन्त आवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि ये साधन दृष्टार्थ हैं। निष्कर्ष यह है कि अनुद्विग्नमना होकर ज्ञान के साधनों में लगना चाहिए।

यहाँ एक शङ्का और होती है कि 'स्वर्ग के साधन ज्योतिष्टोमादि यज्ञ विनाशी हैं और स्वर्गफल भी कालान्तर में नाशवान् है। पाप एवं पुण्य और उनके फल अशुभ एवं शुभ भी कालान्तर में भोग से क्षीण हो जाते हैं। इसी प्रकार साधनचतुष्टय तथा श्रवणादि भी नित्य नहीं हैं। तब उन के फल ब्रह्मज्ञान एवं मोक्ष भी नित्य नहीं हो सकते, वे भी विनाशी ही होंगे। अतएव साधनों में श्रम और समय का अपव्यय ही है?' समाधान यह है कि स्वर्गादि नाशवान् होने पर भी ब्रह्म नित्य तथा अविनाशी है एवं मोक्ष और ब्रह्म अभिन्न हैं। इसलिए स्वर्ग और ब्रह्म की तुलना नहीं की जा सकती। पुरुष को स्वर्गादि प्राप्त नहीं रहते। उन्हें प्राप्त करने के लिए वह ज्योतिष्टोमादि कर्मों का संग्रह करता है। वह जितने अधिक यज्ञ करता है, उतने अधिक काल तक स्वर्ग-सुख का उपभोग कर पुनः वहाँ से नीचे गिरता है, क्योंकि कर्म क्षीण होने से उसके फल का भी क्षीण हो जाना स्वाभाविक है। किन्तु यज्ञादि कर्मों से विवेकादि साधन सर्वथा भिन्न हैं। इनको कर्म की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि इनका फल अप्राप्त की प्राप्ति नहीं है। विवेक, वैराग्यादि तो पुरुष में स्वाभाविक हैं। किन्तु अज्ञान, कामना, कर्मादि तथा अविवेक, राग, इन्द्रियलोलुपता, शरीरा-भिमानादि के आवरण से ढँक गये हैं। अविवेक, रागादि आवरण हटाने के लिये विवेक वैराग्यादि का विधान किया गया है। साधन चतुष्टय से कोई

नवीन वस्तु प्राप्त नहीं होतीकिन्तु पूर्व की स्वाभाविक स्थिति हो जाती है। जिस प्रकार घट में आकाश स्वाभाविक व्याप्त रहता है, पर उसीमें मृत्तिका, कूड़ा आदि भर जाने पर वह छिप जाता है। आकाश को पुन: प्रकट करने के लिए मृत्तिकादि हटाना ही साधन है। आकाश को प्रकट करने के लिएकिसी कर्म की अपेक्षा नहीं है,क्योंकि वह तो है ही। इसी प्रकार रागादि को हटाने के लिए वैराग्यादि का विधान है। रागादि के हट जाने पर चित्त शुद्ध, और विवेक, वैराग्य-दियुक्त से जैसा पूर्व में था, वैसा ही हो जाता है। उसमें कोई नवीनता नहीं आती। ऐसे शुद्ध चित्त में घट में आकाशवत् आत्मा का स्वत: प्राकट्य होता है। श्रवणादि से अज्ञानादि की निवृत्ति होती है, तब सामान्य आत्मानुभव से विशेष आत्मानुभव होता है।उस समय अशेष कर्मबन्धनों का विनाश, मोक्षानुभव और परमानन्द प्राप्त होता है। फिर ब्रह्मस्वरूप से कभी उसका पतन नही होता। अत: यज्ञादि कर्मों के समान ये न तो विनाशी फलवाले हैं, न श्रम और समय का अपव्यय करना है। इनका फल अविनाशी मोक्ष है और यही मानव का परम पुरुषार्थ है। सब का सार यही कि श्रवणादि की सफलता अधिकारी पर निर्भर है, अत: अधिकारसम्पन्न व्यक्ति का ही वेदान्त-श्रवण में अधिकार है।

एक बात और।। साधन सम्पन्न व्यक्ति भी कभी-कभी रागादि से ग्रसित हो जाते हैं। क्योकि जन्मान्तरीय कर्मविपाक विचित्र होते हैं और उनकी शान्ति भोग से ही होती है। ऐसी स्थिति आने पर भी मुमुक्षु को धैर्य नहीं छोड़ना चाहिये और श्रद्धारहित भी नहीं होना चाहिये। क्योंकि अज्ञ, श्रद्धाशून्य एवं संशयशील पुरुष परमपुरुषार्थ से पतित हो जाता है। अत: पूर्ण श्रद्धा से विषयों में दोष-दर्शन तथा ब्रह्मनिष्ठा में संलग्न रहना ही कर्तव्य है। इससे रागादि की स्वयं निवृत्ति होगी और परमानन्दस्वरूप ब्रह्मात्म तत्व का साक्षात्कार होगा।

—:०:—

प्रमाण एवं सम्बन्ध-समीक्षा

किसी वस्तु की सिद्धि के लिए प्रथम प्रतिज्ञा की जाती है। फिर लक्षण और प्रमाणों द्वारा उसकी पुष्टि करनी पड़ती है। सुवर्ण की परीक्षा के लिए जिस प्रकार कसौटी अपेक्षित है, उसी प्रकार वस्तु की सिद्धि के लिए प्रमाण भी आवश्यक है। प्रमाणों में सभी दर्शनकारों का ऐकमत्य नहीं। फिर भी हम उनके दो विभाग कर सकते हैं—एक तार्किक और दूसरे श्रौत। गौतम, कणाद आदि को तार्किक तथा वेदव्यास को श्रौत श्रेणी में रखा जा सकता है। 'न्यायदर्शन' में गौतम ने 'अनुमान' प्रमाण से ईश्वरादि की सिद्धि की है, श्रुति-प्रमाण को गौणस्थान दिया है। किन्तु महर्षि व्यास ने 'वेदान्त-दर्शन' में श्रुति-प्रमाण का ही अङ्गीकार किया है, इसीसे वह श्रौत कहे गये। व्यास का स्थान सभी दर्शनकारों में सर्वोपरि है, उन जैसा शास्त्र-रहस्यज्ञ अन्य कोई नहीं। तीक्ष्ण मेधाशक्ति, सूक्ष्मग्राही बुद्धि एवं वेदों का स्वत:प्रामण्य उनका वैशिष्ट्य है।

'योगदर्शन' कार ने **'प्रत्यक्षानुमानागमः प्रमाणानि'** (१।१।७) सूत्र से प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम—ये तीन प्रमाण स्वीकार किये हैं। इसी प्रकार 'सांख्यकारिका' में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तवाक्य को प्रमाण माना गया है। 'पूर्वमीमांसा'

में छः प्रमाण माने जाते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि। इस प्रकार स्पष्ट प्रमाण-निदर्शन 'वेदान्त-दर्शन' में नहीं है; क्योंकि 'वेदान्तदर्शन' का विषय प्रत्यगभिन्न चेतनतत्त्व है और वह प्रमाण का विषय नहीं, अप्रमेय है। 'ब्रह्मबिन्दूपनिषद्' (९) में कहा है—

'निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम्।
अप्रमेयमनाद्यं च ज्ञात्वा च परमंशिवम्॥'

निर्विकल्प, अनन्त एवं हेतुदृष्टान्तरहित, अप्रमेय और अनादि परम-शिव को जानकर प्राणी मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार गीता में भगवान् ने **'अनाशिनोऽप्रमेयस्य'** (२।१८) विनाशरहित और अप्रमेय कहा है। अप्रमेय शब्द का अर्थ करते हुए आचार्य शङ्कर लिखते हैं—'अप्रमेयस्य = न प्रमेयस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणैः' अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जिसका स्वरूप निश्चित न किया जा सके, वह अप्रमेय है। शब्दादिरहित **'अशब्दमस्पर्शम-रूपमव्ययम्'** (कठ० १।३।१५) अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप तथा व्ययरहित होने से आत्मा प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय नहीं है। अनुमान-प्रमाण का भी विषय नहीं है, क्योंकि **'व्यापकोऽलिङ्ग एव च'** (कठ० २।६।८) वह व्यापक और अलिङ्ग है। **'हेतुदृष्टान्तवर्जितम्'** (ब्र० बि०, ९) हेतु और दृष्टान्त से वर्जित होने से वहाँ सादृश्य का अभाव है। इससे उपमान-प्रमाण का भी विषय नहीं है। आत्मा शब्द-प्रमाण का भी विषय नहीं, क्योंकि **'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रम्'** (मु० १।१।६) वह अदृश्य, अग्राह्य तथा अगोत्र है, अतः नाम, रूप, जाति आदि का उसमें अभाव है। अन्यथानुपपत्ति का अभाव होने से वह अर्थापत्ति का विषय नहीं और भावरूप होने से अनुपलब्धि का भी विषय नहीं है। अपने में अध्यस्त समस्त प्रमाण-प्रमेयों के सद्भाव और असद्भाव का प्रकाशक तथा स्व-प्रकाश होने से आत्मा का स्वतःप्रामाण्य है, इसीलिए वह 'अप्रमेय' है।

यदि हम ब्रह्म को प्रमेय ही कहना चाहें, तो भी प्रमाण से वह ज्ञात नहीं हो सकता, क्योंकि योगादि दर्शनकारों की दृष्टि में चेतन प्रमेय भिन्न है और 'वेदान्त-दर्शन' का प्रमेय अभिन्न चेतन है। भिन्न चेतन प्रमेय में प्रमाण अचेतन है और प्रमेयाभिन्न चेतन में प्रमाण भी चेतन है। दोनों

स्थितियों में प्रमेय प्रमाणवेद्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जड़ प्रमाण से चेतन प्रमेय जाना नहीं जा सकता। चेतन ही जड़ का ज्ञाता होता है, जड़ चेतन का नहीं। शरीर, इन्द्रिय, प्राण एवं मनादि जड़ों का ज्ञाता चिदात्मा सर्वानुभवसिद्ध है, किन्तु जड़ शरीरादि से चेतन आत्मा अविज्ञात ही है। इसलिए जड़ प्रमाण से चेतन प्रमेय कदापि वेद्य नहीं। चेतन प्रमाण से चेतन प्रमेय भी नहीं जाना जा सकता, क्योंकि चेतन होने से दोनों अभिन्न हैं। एक ही ज्ञाता हो और ज्ञेय भी, यह सम्भव नहीं। सुषुप्ति और समाधि में जब ज्ञाता ज्ञेयाभिन्न होता है, तब कुछ भी ज्ञान नहीं होता। उस स्थिति में कौन, किससे, क्या जाने ? न वहाँ ज्ञेय होता है, न ज्ञाता। इस प्रकार प्रमाण प्रमेयाभिन्न होने से भी प्रमेय प्रमाणवेद्य नहीं।

इस पर यदि यह कहा जाय, कि परात्पर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् राम का कथन है कि **'वेदान्ते सुप्रतिष्ठोऽहं वेदान्तं समुपाश्रय'** (मु० ७) अर्थात् वेदान्त में मैं उत्तम रीति से प्रतिष्ठित हूँ, अतः तुम वेदान्त का आश्रय लो। 'बृहदारण्यक' में भी **'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'** (३।९।-२६) उपनिषदों में प्रतिपादित उस पुरुष को पूछता हूँ, इत्यादि अनेक शब्द हैं, जिनमें कहा गया है कि ब्रह्मात्मा शब्द से गम्य है, तो इसका उत्तर है कि यद्यपि इस प्रकार के शब्द हैं, तथापि शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त का अभाव है, इसलिए उसमें शब्द प्रवृत्ति नहीं होता। **'यतो वाचो निवर्तन्ते'** (तै० २।४) जहाँ से वाणी लौट आती है, यह श्रुति शब्दप्रवृत्ति से ब्रह्म को अगम्य कहती है, अतः शास्त्र से वह जाना नहीं जा सकता। तर्क से भी उसे कोई प्राप्त नहीं कर सकता—**'नैषा तर्केण मतिरापनेया'** (कठ० १।२।९)।

इस पर यदि यह कहा जाय कि 'तब तो उपनिषदादि शास्त्र अप्रमाण होंगे', तो यह ठीक नहीं, क्योंकि श्रुति निर्विशेष आत्मा का कथन करती है, इसलिए श्रुति का प्रामाण्य उपपन्न है। आत्मा में अध्यस्त सम्पूर्ण विशेष को निषेध कर श्रुति अधिष्ठानभूत सन्मात्र निर्विशेष आत्मा को बतलाती है। सविशेष आत्मा के जानने पर भी निर्विशेष आत्मा जानने में नहीं आता। श्रुति अज्ञात का ज्ञान कराने वाली है, अतः उसमें प्रमाण का लक्षण जाता है। फिर भी इंदरूप से 'यह आत्मा है' इस प्रकार

साक्षात् कथन अशक्य है। इसलिए आत्मा श्रुति का विषय नहीं है। **'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते'** अध्यारोप तथा अपवाद के द्वारा श्रुति निष्प्रपञ्च (निर्विशेष) आत्मा का वर्णन करती है। प्रथम निर्विशेष, अज, अद्वय एवं शान्त आत्मा में माया का आरोप, माया के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निर्माण श्रुति कहती हैं, पुनः आरोपित ब्रह्माण्ड तथा माया का **'नेति नेति'** (बृह० २।३।६) 'यह नहीं है, यह नहीं है' द्वारा निषेध करके सर्वाधिष्ठान, शुद्ध, प्रत्यगभिन्न चेतन ब्रह्म को शेष रखती है। इस प्रकार श्रुति की सार्थकता है।

शुद्ध, निर्विशेष, प्रत्यगभिन्न ब्रह्म की स्थिति में न प्रमाण, प्रमाता तथा प्रमेय है और न ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान। कारण वहाँ सर्वथा द्वैत का अभाव है, तब कौन, किससे क्या जाने—**'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** (बृह० २।४।१४)। किन्तु प्रमाण की प्रवृत्ति तथा उपयोगिता अज्ञातावस्था में है। चिदात्मा होने पर भी आत्मा का अभाव ही 'अज्ञातावस्था' है। इस अज्ञात चिदात्मज्ञान के लिए ही शब्द-प्रवृत्ति होती है। जैसे—**'दशमस्त्वमसि'** तू ही दसवाँ है। वेदान्त में एक कथा प्रसिद्ध है—दस व्यक्ति नदी-स्नान करने गये। स्नान के पश्चात् कहने लगे कि कोई मित्र नदी में डूब तो नहीं गया, इसलिए गणना कर लो। एक ने गणना की, नौ व्यक्ति आये, दसवें मित्र का पता नहीं। सभी ने गिनती की, पर दसवें का कहीं पता नहीं चला। वे नदी-तट पर बैठकर विलाप करने लगे। उधर से एक बुद्धिमान् पुरुष निकला। उसने जब यह सब जाना तो कहा—'दसवाँ मित्र नदी में डूबा नहीं है, तुम फिर गिनती करो।' उनमें से एक ने गिनती की, वही नौ। तब उस पुरुष ने कहा—'तुम हीं दसवें हो।' वह मूर्ख अपने को छोड़कर गिनता था, जब उस पुरुष ने उसे ही दसवां पुरुष बतला दिया, तब वे प्रसन्न होकर चले गये। इसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय एवं अन्तर्बाह्य का ज्ञान सभी को हो रहा है, किन्तु जिस चेतन, स्वप्रकाश आत्मा से सबको जानते हैं, स्वयं उसका ज्ञान नहीं। इसीका परिणाम है कि कर्तृत्व, भोक्तृत्वाभिमानी होकर दुःख में रोना। जब वेदान्त के शब्दश्रवण से ज्ञात होता है कि 'मैं अकर्ता, अभोक्ता, ब्राह्मत्मा ही हूँ', तब सम्पूर्ण दुःख और अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। यद्यपि कोई अपूर्व

वस्तु प्राप्त नहीं हुई, केवल अज्ञान का ही निवारण हुआ, तथापि जो आत्मा अज्ञात था, वह ज्ञात हो गया। इसीलिए शास्त्र अज्ञातज्ञापक हैं और उनका प्रामाण्य उपपन्न है। चिदात्मवृत्ति द्वारा अज्ञानावरण का विध्वंस और स्वतःसिद्ध साक्षी द्वारा आत्मानुभव होता है।

'वेद (शास्त्र) स्वतःप्रमाण है या परतः ?' इस पर मतभेद है। नैयायिक वेदों का स्वतःप्रामाण्य नहीं मानते, वेदान्ती स्वतःप्रामाण्य मानते हैं। नैयायिक श्रुति को प्रमाण इसलिए मानते हैं कि वह प्रमाणभूत ईश्वर से प्रणीत हैं। श्रुतिप्रमाण का प्रामाण्यज्ञान अनुमानप्रमाण के अधीन है, इसलिए अनुमान श्रुति का प्राणप्रद है। श्रुति पुरुषविशेष ईश्वर से प्रणीत होने से पौरुषेय है, अतः वह परतः प्रमाण है। यह मत तार्किकों का है। किन्तु वेदान्ती श्रुति को स्वतःप्रमाण तथा अपौरुषेय मानते हैं और अनुमान को श्रुति का अनुग्राहक एवं सेवकरूप में स्वीकार करते हैं। अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष पर आधृत है, जब ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं दृष्टिगोचर होता, तो उससे ईश्वर-सिद्धि भी सम्भव नहीं। विषपान द्वारा किसी पुरुष को मरते देखकर अन्य मृतक पुरुष में भी यही अनुमान यदि कोई करे कि यह भी विष-पान से मरा है, क्योंकि पूर्व का पुरुष भी मरा था, तो यह ठीक नही हो सकता। तर्क पुरुष बुद्धि की कल्पना है, दो पुरुषों में कल्पना-विरोध होने से किसका प्रमाण स्वीकार हो किसका नही ? एक पुरुष द्वारा तर्क से स्थापित सिद्धान्त दूसरा तीक्ष्ण-बुद्धिसम्पन्न पुरुष खण्डित कर देता है, दूसरे का तीसरा। यह सब बुद्धि का चमत्कार हो सकता है, किन्तु अचिन्त्य वस्तु के निर्णय में हेतु नहीं। इसीलिए कहा है—

'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यःपरं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥'

(महा० भीष्म० ५।१२)

जो ईश्वर अचिन्त्य है, उसे कभी तर्क की कसौटी में नहीं कसना चहिए, जो प्रकृति से परे है, वही अचिन्त्य है। **'तर्काप्रतिष्ठानात्'** (ब्र० सू० २।१।११) सूत्र से 'वेदान्त दर्शन' में निरपेक्ष तर्क को अप्रतिष्ठित कहकर खण्डन किया है। श्रुति के अनुकूल तर्क को सहायक मानकर स्वीकार भी किया है।

'वेदान्तदर्शन' में प्रमाणविषयक प्रथम सूत्र है—**'शास्त्रयोनित्वात्'** (१।१।३)। इसके दो प्रकार के अर्थ हैं–एक तो 'ब्रह्म शास्त्र का कारण (रचयिता) है' और दूसरा 'ब्रह्म के स्वरूप में शास्त्र कारण (प्रमाण है)।' प्रथम अर्थ के अनुसार ईश्वर शास्त्र का प्रणेता है। ईश्वर ने शास्त्रों का प्रणयन किस प्रकार किया, यह विचारणीय है। 'रघुवंश' का प्रणयन कालिदास ने या 'रामायण' की रचना वाल्मीकि ने जिस प्रकार की, उसी प्रकार क्या ईश्वर ने शास्त्रों की रचना की ? यदि हाँ तो शास्त्र भी पौरुषेय हो सकते हैं। यदि जैसे प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन किया जाता है, उस प्रकार ईश्वर ने प्रकाशनमात्र किया है, तो वेद अपौरुषेय एवं स्वतःप्रमाण सिद्ध हो जाते है। इस विषय में स्वयं श्रुतिका कथन हैं–

'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदः
यजुर्वेदः सामवेदः' (बृह० २।४।१०)

इस महान् भूत का जो निःश्वसित है, वह ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद है। वस्तुतः परमात्मा अप्राण, अमन, विशुद्ध एवं श्रेष्ठ अक्षर से भी उत्कृष्ट है—**'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः'** (मुण्ड० २।१।२) इसलिए निःश्वास लेने की कोई कल्पना ही नहीं। इसका इतना ही तात्पर्य है कि जैसे पुरुष का निःश्वास बिना प्रयत्न के स्वतः चलता रहता है, पुरुष का उसमें कुछ भी कर्तृत्व नहीं होता, उसी प्रकार निःश्वासवत् बिना प्रयत्न के ही वेदों का प्रादुर्भाव परमात्मा से होता है। परमात्मा ने अर्थ-ज्ञानपूर्वक वेदों की रचना नहीं की। जहाँ अर्थ-ज्ञानपूर्वक वाक्यज्ञान वाक्य की उत्पत्ति में कारण होता है, वहाँ पौरुषेयता होती है। ईश्वर को एक ही समय अर्थ-ज्ञान और वाक्यज्ञान होता है, इसलिए वेदों में पौरुषेयता की कल्पना नहीं की जा सकती। कल्पारम्भ में वेद की आनुपूर्वी का स्मरण करके उसी क्रम से ब्रह्मादि में उसका आविर्भाव कराता है। इसीका प्रतिपादन श्रुति भी करती है—**'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'** (श्वेता० ६।१८) जो सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा को उत्पन्न करता और उसके लिए वेदों को प्रवृत्त करता है। तात्पर्य, ईश्वर बिना प्रयत्न एवं अबुद्धिपूर्वक वेदों की रचना कर ब्रह्मादि

को आदिसृष्टि में प्रदान करता है। इसलिए वेद अपौरुषेय एवं स्वतः-प्रमाण हैं।

यदि दूसरे प्रकार का अर्थ स्वीकार किया जाय कि ब्रह्म का ज्ञान वेदों से होता है, किसी अन्य प्रमाण से नहीं, तो इसमें भी श्रुति-प्रमाण है--**'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्'** (बृ० ३।९।२६) जिसका अर्थ है औपनिषद पुरुष अपने ही स्वरूप से स्थित है और उपनिषदों में ही विज्ञेय है। जिस प्रकार परमात्मा नित्य है, कभी उसका अभाव नहीं होता, वैसे ही परमात्मा का ज्ञान भी नित्य है, कभी अभाव नहीं होता। परमात्मा का ज्ञान ही वेद है, इसलिए वेद नित्य है, उनका न कभी निर्माण हुआ है और न कभी अभाव। कल्पारम्भ में प्रकाशनमात्र होता है और कल्प के अन्त में तिरोधान होता है, विनाश नहीं। जैसे प्रातःकाल सूर्य का उदय और सायं सूर्यास्त होता है, न प्रातः सूर्य का निर्माण होता है और न सायं विनाश; वैसे ही वेदों का न कभी निर्माण होता है, न विनाश। 'वेदान्त-दर्शनकार' को यही मत ग्राह्य है, क्योंकि कुछ सूत्र इसी अर्थ के सूचक हैं। 'जैसे--**'अत एव च नित्यत्वम्'** (१।३।२९) इस सूत्र में कहा है कि देव आदिक समस्त जगत् की वेद-शब्द से उत्पत्ति होती है, इसलिए वेद में नित्यत्व है। **'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्'** (२।१।२७) सूत्र से बतलाया कि ब्रह्म श्रुतिमूलक ही है, अतः श्रुति के अनुसार ब्रह्म का जगदुपादान होना और जगत् से पृथक् रहना अविरुद्ध है। भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने भी कहा है—**'ब्रह्मशब्दप्रमाणकं नेन्द्रियादिप्रमाणम्'** ब्रह्म में श्रुति ही प्रमाण है, इन्द्रियादि प्रमाण नहीं। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों से ब्रह्म नहीं जाना जा सकता, एकमात्र श्रुतिप्रमाण से ही ज्ञात होता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार के माने गये हैं, एक वह, जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध का अनुभव श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना तथा घ्राण इन्द्रियों से होता है। मन से मनन, बुद्धि से निश्चय, अहंकार से शरीरादि में 'मैं' भावना तथा कर्तृत्वादि का आरोप और कर्मेंद्रियों से सम्पूर्ण कर्मों का अनुभव 'प्रत्यक्ष' प्रमाण है। इन इन्द्रियों में सीमित शक्ति है, नेत्र रूप का ही दर्शन कर सकता है, न गन्ध का अनुभव कर सकता है, न रस का, स्पर्श एवं शब्द को भी नहीं जान सकता। केवल रूप-दर्शन ही कर

सकता है और वह भी निश्चित परिमाण तथा निश्चित दूरी तक ही। इसी प्रकार सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का ग्रहण सीमित परिमाण में कर सकती हैं, असीम वस्तु का ग्रहण नहीं कर सकतीं। ब्रह्मात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म, प्रकृति से पर एवं निस्सीम है, तब उसका दर्शन इन्द्रियों से कैसे सम्भव है? अतः प्रत्यक्ष प्रमाण साधारण विषयों तक ही सीमित है, ब्रह्मात्मा में उसकी गति नहीं। दूसरा प्रत्यक्ष प्रमाण है श्रुति। ईश्वरीय ज्ञान होने से ईश्वर को सर्वकालीन सम्पूर्ण ज्ञान सर्वदा ही रहता है। पुरुष को प्रत्यक्ष में इन्द्रियादि की अपेक्षा है, किन्तु ईश्वर को किसी भी इन्द्रिय, विषय या प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है। पुरुष के प्रत्यक्ष में रज्जुसर्प की भ्रान्ति भी होती है, पर ईश्वर के प्रत्यक्ष में इसका लेश भी सम्भव नहीं। अतः श्रुति निर्दोष, प्रत्यक्ष प्रमाण है। कल्मषरहित योगी को श्रुत्यनुकूल साक्षात्कार होने से भी श्रुति की प्रामाणिकता है। प्रत्यक्ष श्रुति के आधार पर ऋषियों ने जिन स्मृति-ग्रन्थों का निर्माण या कथन किया, वस्तुतः वह 'अनुमान' प्रमाण है। क्योंकि प्रत्यक्ष के पीछे उनका मान, बोध हुआ। प्रत्यक्ष के पीछे बोध को तर्क, हेतु आदि से निश्चय करना ही 'अनुमान' प्रमाण है। अतः ऋषिप्रणीत वाक्य ही 'अनुमान' हैं। नेत्रादि इन्द्रियाँ एवं रूपादि भौतिक विषयों पर आधारित 'अनुमान' प्रमाण कोरी कल्पना है। भौतिक विषयों तक अनुमान प्रमाण कभी सफल भी हो सकता है और कभी निष्फल। किन्तु भूत, भौतिक एवं प्रकृति से अतीत प्रत्यगभिन्न, एकमेवाद्वितीय, अखण्ड, चेतन, तत्व तक उसकी गति सर्वथा असम्भव है। निष्कर्ष यही कि भूत, भौतिक विषयों तक ही प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों की गति है, वह भी सर्वदा दोषरहित नहीं। इससे पर भूत, निसर्गादि का कारण परब्रह्म, परमात्मा के जानने के लिए एकमात्र श्रुति ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। श्रौत प्रत्यक्ष प्रमाणाधारित स्मृति अनुमान प्रमाण भी ब्रह्मज्ञान में सहायक है। इसीलिए 'वेदान्तदर्शन' में एकमात्र श्रौतप्रमाण ही स्वीकार किया गया है। श्रुति को ही प्रत्यक्ष, शब्द आदि से और स्मृति को अनुमान से ग्रहण किया है। इस विषय में कुछ सूत्र उद्धृत किये जा रहे हैं--

'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।' (१।३।२८)

इसका अर्थ है कि वेद वाक्य में विरोध होगा यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि वेद-शब्द से ही देवतादि जगत् की उत्पत्ति होती है। **'स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्'** (बृ० १।२।४) (प्रजापति ने मन से त्रयीरूप वाणी का आलोचन किया।) **'वेद-शब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः'** (मनु० १।२१) अर्थात् उस महेश्वर ने वेद-शब्दों से ही नाम-रूपादि की सृष्टि की, इत्यादि श्रुति एवं स्मृति से ही जाना जा सकता है। इस सूत्र के भाष्य में भगवान् शंकराचार्य ने लिखा है--'प्रत्यक्षं श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिः, प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात्'। प्रत्यक्ष श्रुति ही है, क्योंकि उसके प्रामाण्य के लिए किसी की अपेक्षा नहीं है। अनुमान स्मृति है, क्योंकि उसके प्रामाण्य के लिए श्रुति की अपेक्षा है।

'कामाच्च नानुमानापेक्षा।' (१।१।१८)

'सोऽकामयत' (तै० २।६) इस श्रुति में आनन्दमय कामना करने वाला कहा गया है, अतः अनुमानगम्य सांख्यस्मृति से परिकल्पित प्रधान नहीं है, क्योकि जड़प्रधान में कामना सम्भव नहीं है। इस सूत्र से यह भी प्रतिपादन किया गया है कि श्रुतिविरुद्ध सांख्यादि स्मृतियाँ प्रमाण नहीं हैं, श्रुत्यनुकूल स्मृतियाँ ही प्रमाण हैं।

'स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति।' (१।२।२५)

'यस्याग्निरास्यम्' (म० शा० ४७।६८) स्मृति से प्रतिपादित त्रैलोक्यात्मकरूप अपनी मूलभूत श्रुति का अनुमान करता हुआ परमात्मा का ज्ञापक है।

'नानुमानमतच्छब्दात्।' (१।३।३)

सांख्यस्मृतिकल्पित प्रधान द्यु, भू आदि का आश्रय नहीं है, क्योंकि 'यस्मिन् द्यौः' (मु० २।२।५) श्रुति में प्रधान वाचक शब्द नहीं है।

'आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न
शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च।' (१।४।१)

कुछ शाखावाले **'महतः परमव्यक्तम्'** (क० १।३।११) इत्यादि में साँख्य-स्मृति से निरूपित प्रधान को भी स्वीकार करते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि **'शरीरं रथमेव तु'** (क० १।३।३) से रथसादृश्य से

कल्पित शरीर का ही यहाँ ग्रहण है। पूर्वापरसन्दर्भ से शरीर का ही यहाँ अव्यक्त शब्द से ग्रहण उचित है।

'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्।' (२।२।१)

सांख्यसिद्धान्तानुसार जगत् सुख, दुःख, मोहात्मक वस्तु से निर्मित है, मृत्तिका से बने घट के समान। इस अनुमान से प्रधान जगत् का मूल है। पर यह ठीक नहीं, क्योंकि स्रष्टव्य के ज्ञान से रहित अचेतन प्रधान से विचित्र रचनाएँ नहीं बन सकती।

'कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च।' (३।१।८)

स्वर्ग के लिए किये कर्मों के उपभोग के अनन्तर उस कर्म से अतिरिक्त कर्मयुक्त ही जीव इस लोक में आता है, क्योंकि **'तद्य इह रमणीयचरणा'** (छा० ५।१०।७) श्रुति और 'प्रेत्यकर्मफलमनुभूय' स्मृति प्रमाण भूत है। जिस धूमादि मार्ग से वे गये हों, उससे और उससे विपरीत मार्ग द्वारा इस लोक में आते हैं।

'अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्।' (३।३।३१)

सभी सगुणोपासनाओं के मार्ग का नियम नहीं है और प्रकरण के साथ विरोध भी नहीं हैं **'तद्य इत्थ विदुः'** (छा० ५।१०।१) श्रुति और **'शुक्लकृष्णे गती ह्येते'** (गी० ८।२६) स्मृति होने से।

'न चाधिकारिकमपि पतनानुमानातदयोगात्।' (३।४।४१)

आधिकारिक प्रायश्चित नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए नहीं है, क्योंकि **'आरूढो नैष्ठिकं धर्मम्'** श्रुत्यनुमापक स्मृति है, अतः प्रायश्चित्त असम्भव है।

'प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः।' (४।४।१८)

'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १।६।२) प्रत्यक्ष श्रुति से विद्वान् के निरंकुश ऐश्वर्य का श्रवण है। किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सूर्यमण्डल में रहनेवाले आधिकारिक परमात्मा की उत्तरवाक्य में उक्ति होने से परमातमा ही प्राप्य रूप से उक्त है। इससे विद्वान् का सातिशय ऐश्वर्य है।

'दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने।' (४।४।२०)

और भी इसी प्रकार **'न तत्र सूर्यो भाति'** (क० २।२।१५) श्रुति और **'न तद्भासयते'** (गी० १५।६) स्मृति ब्रह्म का निर्गुण रूप बतलाती है।

इस प्रकार 'वेदान्त-दर्शन' में श्रुति को ही प्रत्यक्ष और स्मृति को अनुमान प्रमाण कहा गया है। 'वेदान्त-दर्शन' का यह वैशिष्ट्य है।

एक बात और, वेद एवं ईश्वर के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि 'वेद से ही ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान होता है और वेद ईश्वरप्रणीत हैं एवं वेद में ही वेद को परम प्रमाण अपौरुषेय कहा गया है। इस प्रकार ईश्वरप्रणीत होने से वेद परम प्रमाण और वेद से ईश्वर का ज्ञान होने से अन्योन्याश्रय दोष होता है, अतः इसे स्वीकार करना दुष्कर है।' इसका उत्तर है कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार अग्नि की सत्ता से उष्णता एवं प्रकाश का ज्ञान होता है और उष्णता एवं प्रकाश से अग्नि का। वैसे ही ईश्वर की सत्ता से ईश्वरीय ज्ञान वेद का भान होता है और वेद से ईश्वर का ज्ञान होता है। पुरुष का ज्ञान पुरुष की सत्ता का बोधक है और पुरुष की सत्ता से ही ज्ञान है। इसी प्रकार वेद से ईश्वर की सत्ता का ज्ञान और ईश्वर की सत्ता से वेद का प्रकाश उपयुक्त ही है। इसे अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है। जैसे लौह का आकर्षक चुम्बक है और चुम्बक का आकर्षक लौह, दोनों का पारस्परिक आकर्षण है। इनमें यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि चुम्बक में आकर्षण है, लोहे में नहीं, या लोहे में आकर्षण है, चुम्बक में नहीं। वस्तुतः दोनों में आकर्षण शक्ति है, यदि लौह में गुरुत्वाकर्षण होगा, तो चुम्बक को अपनी ओर खींच लेगा और यदि चुम्बक में गुरुत्वाकर्षण होगा, तो लौह को अपनी ओर आकर्षित कर लेगा। लौह के अभाव में चुम्बक का निर्णय असम्भव है, वैसे ही वेद के अभाव में ईश्वर के अस्तित्व का निर्णय असम्भव है। वेदाध्ययन के गुरुत्वाकर्षण से ईश्वर का आकर्षण और ईश्वर-साक्षात्कार के गुरुत्वाकर्षण से ईश्वरीय ज्ञान वेद का आकर्षण सम्भव है। दोनों में ही आकर्षण-शक्ति है। प्रशान्त जल एवं तरंग में जैसे नाममात्र की भिन्नता है, वैसे ही ईश्वरीय ज्ञान वेद में तथा ईश्वर में नाममात्र की भिन्नता है, वस्तुतः दोनों एक हैं। घ्राणेन्द्रिय के अस्तित्व का बोधक गन्ध है, नेत्र का बोधक रूप एवं श्रवण का बोधक शब्द है। यदि गन्ध, रूप तथा शब्द का अभाव हो, तो घ्राण, नेत्र और

श्रवण के अस्तित्व का भान कदापि नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि वेद न हों, तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, ईश्वर के अस्तित्व का भी ज्ञान सम्भव नहीं और आधार ईश्वर के विना वेद की कल्पना ही असम्भव है। क्या अग्नि के बिना उष्णता की कल्पना की जा सकती है? कदापि नहीं उसी प्रकार ईश्वर के बिना वेद की कल्पना नहीं की जा सकती और बिना वेद के ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए जिस प्रकार नेत्र तथा रूप परस्पर आश्रित हैं और उसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि वस्तुतः वह दो पदार्थ नहीं, एक ही हैं। वैसे ही ईश्वरीय ज्ञान वेद और ईश्वर दो पदार्थ नहीं, एक ही हैं। अतः कोई दोष नहीं है।

'शास्त्रयोनित्वात्' (१।१।३) सूत्र में महर्षि व्यास ने इन दोनों अर्थों को ग्रथित किया है। यह व्यासदेव का चमत्कार है। निष्कर्ष यही कि वेद ही प्रत्यक्ष, सर्वदोषविवर्जित, विशुद्ध एवं स्वतःप्रामाण्य हैं।

कर्म और ज्ञान का सम्बन्ध भी विचारणीय है वेदों में प्रथम यज्ञादि कर्मों का विधान किया गया है और अन्त में ज्ञान का। इसीलिए पूर्वभाग 'कर्मकाण्ड' और उत्तर भाग 'ज्ञानकाण्ड', 'वेदान्त' या 'उपनिषद्' नाम से प्रसिद्ध है। कामना, कर्म तथा भोगप्रधान व्यक्तियों की कर्मकाण्ड में ही प्रवृत्ति होती है और मोक्षार्थी की निवृत्तिपरायण ज्ञानकाण्ड में। 'कर्म-काण्ड' की मीमांसा महर्षि जैमिनि ने 'पूर्वमीमांसा' में की है और ज्ञानकाण्ड की मीमांसा महर्षि वेदव्यास ने 'उत्तरमीमांसा' या 'वेदान्तदर्शन' में। जो कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का सम्बन्ध है, वही पूर्वमीमांसा और उत्तर-मीमांसा का सम्बन्ध है। इनमें क्या सम्बन्ध है? इस पर किञ्चित् विचार अपेक्षित है।

पूर्वमीमांसा और उत्तर-मीमांसा भिन्नार्थक हैं या अभिन्नार्थक? यदि भिन्नार्थक हैं, तो दोनों का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता; क्योंकि 'न्यायदर्शन' और 'पूर्वमीमांसा' दोनों भिन्नार्थक हैं और भिन्नार्थक होने के कारण इनका कोई सम्बन्ध नहीं। कर्म और अकर्म, कला तथा साहित्य एवं धर्म तथा अधर्म का क्या सम्बन्ध है? सभी भिन्न-भिन्न विषयों का प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार यदि भिन्न अर्थ के प्रतिपादक पूर्वमीमांसा और उत्तर-मीमांसा हैं, तो इनका भी कोई सम्बन्ध नहीं। यदि दोनों अभिन्नार्थक

हैं, तो भी सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अभिन्नार्थक होने से दोनों के एक ही वाक्य हैं, और जब दो वाक्य नहीं तो सम्बन्ध कैसा? पूर्व और उत्तर जब दो हों, तभी सम्बन्ध सम्भव है? इसका एकमात्र समाधान है कि कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का सम्बन्ध साधन साध्यरूप है—कर्मकाण्ड साधन और ज्ञानकाण्ड साध्य है। सापेक्षार्थक होने से दोनों में पूर्व एवं उत्तरभाव संलग्न है।

प्रत्येक पुरुष स्वभावतः इष्ट में प्रवृत्त और अनिष्ट से निवृत्त होता है। पुरुषों में ही नहीं, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, देव एवं दानवादि सभी प्राणियों में यह प्रवृत्ति और निवृत्ति देखी जाती है। लौकिक विषयों में इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-निवृत्ति के विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण से सम्भव है। किन्तु जन्मान्तरसम्बन्धी आत्मा के अस्तित्व और जन्मान्तर में इष्ट-प्राप्ति एवं अनिष्ट-निवृत्ति के उपायों का ज्ञान एकमात्र वेदों से होता है। प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों से आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती। वैदिक प्रमाणों के आधार पर नैयायिक आदि अनुमान प्रमाण से आत्मा की सिद्धि करते हैं, किन्तु वे वैदिक-लिंगों से ही 'ये हमारी बुद्धि से निकले तर्क हैं' ऐसी कल्पना करके अहंकार में निमग्न हैं और कहते हैं कि 'आत्मा प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण का भी विषय है।'

"स्वाभाविक अज्ञान, काम एवं कर्म से तदनुकूल कीट, पतंग, पशु, पक्षी, देव, दानव, मानव आदि योनियों की प्राप्ति होती है। अनेक दुःखों में निमग्न प्राणियों के लिए एकमात्र कल्याण कारक वैदिक-मार्ग का निर्माण ईश्वर ने किया है। देहान्तर से सम्बन्ध रखने वाला आत्मा है"—ऐसा माननेवाले एवं देहान्तरगत इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-निवृत्ति के उपाय विशेष के इच्छुक पुरुषों को उपाय का ज्ञान कराने के लिए कर्मकाण्ड है।

इसी पर एक दृष्टान्त है! पिता-पुत्र गंगास्नान करने गये। पिता स्नानकर सन्ध्यादि कर्म करने लगे, किन्तु पुत्र वालुका में गृह बनाकर खेलने लगा। यदि कोई वहां से निकलता, तो वह कहता कि 'यह हमारा गृह है, उधर से जाओ।' पिता जब चलने लगे, तो पुत्र से कहा कि अब चलो, अपने घर चलें।' किन्तु पुत्र कहता कि 'हमारा घर तो यही है, हम नहीं जायँगे।' तब पिता ने युक्ति निकाली। पुत्र से भी विशाल वालुका

का ही गृह बनाया और कहने लगे : 'तेरा घर छोटा तथा असुन्दर है, हमारा बड़ा और सुन्दर है।' बालक ने खीजकर अपना घर बिगाड़ डाला, फिर पिता के घर में आकर उनका भी बिगाड़ दिया। बस, दोनों संग अपने घर आ गये। इसमें पिता-पुत्र की ईश्वर और जीव का प्रतीक बतलाया गया है। बालक के खेल को जीव के स्वाभाविक अज्ञानमय कर्म और पिता के खेल को वैदिक कर्म समझना चाहिए। लौकिक एवं वैदिक कर्मों के खेल को समाप्त करने पर ही जीव एवं ईश्वर एक संग अपने घर—वास्तवित स्वरूप को प्राप्त होते हैं।

'मुक्तिकोपनिषद' में भी यही बात प्रकारान्तर से कही गयी है—पुरुषार्थ दो प्रकार का है, एक शास्त्रविरुद्ध और दूसरा शास्त्रानुकूल। शास्त्र विरुद्ध अनर्थ का कारण और शास्त्रानुकूल परमार्थ-प्रदाता है—

तच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं मतम्।
तयोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्॥

(२. १)

शास्त्र विरुद्ध कर्मों की वासना अशुभ होती है और शास्त्रानुकूल कर्मों की वासना शुभ। इसलिए अशुभ मार्ग से वासना एवं कर्म को पृथक् कर पुरुषार्थ से प्रयत्न के द्वारा शुभ मार्ग में लगाना चाहिए —

पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि।
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत्॥

(२, ६)

जब कषायों का परिपाक हो जाय और पूर्ण तत्वज्ञान की प्रतीत हो, तब तुम सम्पूर्ण शुभ वासनाओं को भी त्याग दो —

ततः पक्वकषायेन नूनं विज्ञातवस्तुना।
शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निराधिना॥

(२, १३)

तात्पर्य, लौकिक काम्य, कर्म की वासना का वैदिक कर्म की वासना से उन्मूलन करना चाहिए और शुभ वैदिक कर्मों की वासना का भी तत्वज्ञान से निवारण करके परम शान्त हो जाना चाहिए। क्योंकि वैदिक शुभ वासनाओं से कर्तृत्वाभिमान होता है। कर्मानुसार नीचोच्च योनियों

की प्राप्ति और सुख-दुःखात्मक भोगों की परम्परा अक्षुण्ण रहती है। धर्मसंज्ञक कर्मों का फल पितृलोक की प्राप्ति है और उपासना संज्ञक कर्मों का फल देवलोक की प्राप्ति है। ब्रह्मलोक तक की प्राप्ति उपासना-विशिष्ट कर्म से सम्भव है, किन्तु सद्योमुक्ति नहीं। इसलिए अन्त में कर्म त्यागकर ज्ञान के आश्रय का विधान है, क्योंकि मुक्ति ज्ञान से ही होती है।

वेदान्त और पूर्वमीमांसा का सम्बन्ध साध्य-साधन है, यह कहा जा चुका है। महर्षि व्यासदेव ने इस सम्बन्ध में कई सूत्रों की रचना की है: **'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्** (३-४-२६) इस सूत्र का आशय है कि विद्या अपनी उत्पत्ति के लिए सभी आश्रम-कर्मों की अपेक्षा करती है, क्योंकि श्रुति का कथन है—**'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'** (बृ० ४-४-२२) अर्थात् उस आत्मा को ब्राह्मण वेद के नित्य स्वाध्याय से, यज्ञ से, दान से और अनाशक तप से जानने की इच्छा करते हैं। यह श्रुति यज्ञादि को विद्या का साधन बताती है। विविदिषा के साथ यज्ञादि का सम्बन्ध होने से ये उत्पत्ति में साधन हैं। मोक्ष में कर्मों की अपेक्षा नहीं है, जैसे योग्यता से अश्व रथ में ही जोता जाता है, हल में नहीं, वैसे ही कर्म भी अयोग्य होने से मोक्ष में अपेक्षित नहीं है। कारण ब्रह्म विद्या स्वतन्त्र ही पुरुषार्थहेतु है। यह बात **'पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः'** (३-४-१) सूत्र में कह चुके हैं। इस सूत्र का अर्थ है कि आत्मज्ञान से मोक्ष पुरुषार्थ सिद्ध होता है, क्योंकि **'तरति शोकमात्मवित्'** (छा० ७-१-३) आत्मवेत्ता शोक का अतिक्रमण करता है, आदि अनेक श्रुतिवचन हैं और बादरायणाचार्य की भी यही सम्मति है। इसीलिए अपने आश्रमविहित कर्मों की ब्रह्मविद्या अपेक्षा नहीं रखती। यही बात **'अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा'** (३-४-२५) सूत्र में कही गयी है।

किन्तु आश्रम-कर्म चित्तशुद्धि द्वारा विविदिषा (जानने की इच्छा) उत्पन्न करने में परमोपयोगी हैं, इसीलिए उनकी अपेक्षा है। जो मुमुक्षु नहीं है, उसको भी आश्रम-कर्मों का अनुष्ठान अवश्य ही करना चाहिए, क्योंकि **'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति'** यह श्रुति अमुमुक्षु के लिए भी

आश्रम-कर्मों का विधान करती है। '**विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि**' (३-४-३२) सूत्र से महर्षि ने यही कहा है। '**सहकारित्वेन च**' (३-४-३३) सूत्र में कहा है कि ये कर्म विद्या की उत्पत्ति के साधनत्व में ही चित्तशुद्धि द्वारा सहकारी हैं। '**सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात्**' (३-४-३४) सूत्र से और पुष्ट करते हुए कहते हैं कि '**तमेतं वेदानुवचनेन**' (बृ० ४-४-२२) और '**अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।**' (गी० ६-१) आदि श्रुति, स्मृति उभयलिंग के अनुसार नित्य और विद्यार्थ होने से यज्ञादि कर्म अवश्य करने चाहिए।

यहाँ शङ्का होती है कि 'नित्य और नैमित्तिक कर्म विविदिषोत्पत्ति द्वारा मोक्ष में परम्परया साधन हैं, काम्य कर्म नहीं, क्योंकि काम्य कर्मों के पुत्र, पशु, आदि फल नियत हैं। '**प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरंयेषु कर्म**' (मु० १-२-७) यहाँ यज्ञादि कर्म अस्थिर और नाशवान् कहे गये हैं। इस श्रुति में काम्य कर्मों की निन्दा भी की गयी है और वे विनाशी कहे गये हैं। अतः निन्दनीय और विनाशी कर्म विविदिषा-उत्पत्ति के हेतु नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में वेद के कर्मकाण्ड के एकदेश का सम्बन्ध ज्ञानकाण्ड से होगा, सम्पूर्ण कर्मकाण्ड का नहीं। अतः फलबोधक श्रुतियाँ अप्रमाण हो जायंगी ?'

इसका समाधान है कि नित्य-नैमित्तिक के समान काम्यकर्म भी विविदिषा के हेतु हैं, अतः सम्पूर्ण वेद एक मात्र आत्मज्ञान के लिए ही है। वेदों के तीनों काण्डों का विषय है ब्रह्म और आत्मा का एकत्व। किन्तु मन्त्रद्रष्टा ऋषि परोक्षवादी हैं और परोक्ष कथन मुझे (भगवान् कृष्ण को) भी प्रिय है—

वेदा ब्रह्मात्मविषया त्रिकाण्डविषया इमे।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम्॥

(भाग० ११-२१-३५)

काम्य श्रुतियां मनुष्यों के लिए स्वर्गादि फल को परम पुरुषार्थ नहीं कहतीं, किन्तु मोक्ष की विवक्षा से कर्मों में रुचि उत्पन्न करने के लिए ही फल का प्रदर्शन कराती हैं, जैसे कि बालक को कटु औषधि पिलाने के लिए शर्करा का लोभ दिखाया जाता है—

'फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् ।
श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम् ॥'
(भा० ११-२१-२३)

लौकिक, काम्य कर्मपरायण पुरुषों को स्वर्गादि फलों का प्रलोभन देकर कर्मों को निवृत्ति के लिए कर्म का विधान किया गया है—**'कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ।'** (भा० ११-३-४४) **'तमेतं वेदानुवचनेन'** श्रुति में भी यज्ञादि के द्वारा काम्य कर्मों का भी समावेश है ही । फलाभिसन्धिरहित काम्य कर्मो के अनुष्ठान से भी चित्त की शुद्धि होती है, केवल फलासक्ति की निन्दा है, कर्म की नहीं । फलासक्ति से जिसका चित्त दूषित है, उस पुरुष के लिए यह कर्मजा शुद्धि भी हेतु होती है । जिस प्रकार नित्य कर्मों का फल नहीं है, अतः आसक्ति नहीं होती । फिर भी चित्त शुद्धि के लिए मुमुक्षु अनुष्ठान करता है; वैसे ही काम्य कर्मों का फल होने पर भी आसक्ति-त्याग करने से नित्य कर्मों के समान वे चित्तशुद्धिकारक हो जाते हैं । जिस प्रकार कुनैन सेवन से ज्वर दूर होकर स्वास्थ्य लाभ होता है और शर्करा में लिपटी कुनैन की गोली से भी ज्वर दूर होकर स्वास्थ्य-लाभ होता है, वैसे ही नित्य कर्मों के समान काम्य कर्मों से भी चित्त शुद्ध होकर विविदिषा उत्पन्न होती है । भोग और चित्तशुद्धि में कोई विरोध नहीं है । भोग होने पर भी चित्तशुद्धि में कोई प्रतिबन्ध नहीं हो सकता । वास्तविक प्रतिबन्ध आसक्ति ही है । यदि फलाभिसन्धि न हो तो काम्य-कर्म भी चित्तशुद्धि के ही हेतु हैं । आसक्ति की ही निन्दा है, काम्यकर्म की नहीं । अतः सभी कर्मों का साधन रूप से परम्परया ज्ञान में उपयोग है । इसलिए ज्ञान और कर्म का साध्य-साधनभाव सुरक्षित है ।

यद्यपि त्रिगुणमय कर्म होने से सभी कर्म दोष युक्त हैं, तथापि वर्णाश्रम विहित कर्म अवश्य कर्तव्य हैं । क्योंकि फलाभिसन्धिरहित और ईश्वरार्पण बुद्धि पूर्वक कर्म करने से वह कर्म ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति में सहायक होते हैं । गीता में कहा है—

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥'
(९।२७)

—हे कुन्ती पुत्र ! तू जो कुछ भी स्वतः प्राप्त कर्म करता है, जो खाता, जो कुछ श्रौत-स्मार्त यज्ञरूप हवन करता है, जो सुवर्ण, अन्नादि दान देता है और जो तप का आचरण करता है, वह सब मेरे समर्पण कर। इस प्रकार शुभाशुभ फल देने वाले विहित एवं निषिद्ध कर्मबन्धन से मुक्त हो जाओगे—**'शुभाशुभ फलै रेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः'** (गी० ९।२८)। ईश्वरार्पण कर्म ब्रह्मज्ञानोत्पन्न में साधन हो जाते हैं। अतः कर्म साधन और ज्ञान साध्य है।

कर्मों के समान संस्कार भी ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति में उपयोगी हैं। गर्भाधानादि अष्टाचत्वारिंशत् (४८) संस्कारों से भी चित्त शुद्ध होता है। कर्म और संस्कार दोनों ही ज्ञानोत्पत्ति के साधन हैं, फिर भी दोनों में अन्तर है। ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति के प्रतिबन्धक पापों का विनाशक संस्कार है और चित्तशुद्धि द्वारा विविदिषोत्पत्ति का हेतु कर्म है। यही संस्कार और कर्म के फल में अन्तर है। निष्कर्ष यही कि संस्कार से पापों का निवारण, पापविनाश से निष्काम कर्म, कर्म से चित्तशुद्धि होकर विविदिषा की उत्पत्ति, विविदिषा से शम, वैराग्यादि और वैराग्यादि से श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन में प्रवृत्ति होती है। निदिध्यासन से समाधि, समाधि से ब्रह्मात्मैक्य-दर्शन, ब्रह्मात्मैक्य दर्शन से सम्पूर्ण द्वैत-प्रपञ्च और निखिल दुःखों का निवारण एवं परमानन्दस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार 'वेदान्तदर्शन' और 'पूर्वमीमांसा' अथवा ज्ञानकाण्ड एवं कर्मकाण्ड कासाध्य-साधन सम्बन्ध है।

विषय-विचार

वेदों के शीर्षस्थानीय उपनिषदों में ब्रह्मात्मैक्य-विज्ञान का निरूपण किया गया है। तदनुकूल गीतादि स्मृतियों में भी यही विषय प्रतिपादित है। दर्शनग्रन्थों में 'वेदान्त-दर्शन' का भी यही विषय है। उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्र की प्रतिपादनशैली भिन्न होने पर भी विषय की एकरूपता है। तीनों ही ग्रन्थ निवृत्ति-परायण हैं। वे भारतीय वाङ्मय के सारस्वरूप हैं। यही कारण है कि 'प्रस्थानत्रय' नाम से इनकी प्रसिद्धि है। वस्तुतः गीता और ब्रह्मसूत्र के आधार हैं उपनिषद्। दूसरी दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि उपनिषदों का सार एवं प्रामाणिक टीका ही हैं गीता और ब्रह्मसूत्र। उपनिषदों में ब्रह्म, जीव एवं जगत् का ऐक्य कहा गया है, इसमें किञ्चित्-मात्र सन्देह नहीं। श्रीमद्भागवतमहापुराण में विषय के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण श्लोक है :

'सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्॥'

(१२।१३।१२)

तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण उपनिषदों का सार ब्रह्म एवं आत्मा का एकत्वस्वरूप है। उस अद्वितीय वस्तु में एक मात्र कैवल्य (मोक्ष) के लिए तन्निष्ठ होना चाहिए। इस ब्रह्म एवं आत्मा के

एकत्व के लिए एकमात्र ज्ञान की ही अपेक्षा है, क्योंकि भिन्नता का कारण अज्ञान है। अज्ञान का निवारण ज्ञान से ही सम्भव है। तत्वज्ञानाग्नि से आत्माश्रित अज्ञान समूल भस्म हो जाता है, क्योंकि अज्ञान का विरोधी ज्ञान है। कर्म अज्ञान का विरोधी नहीं है, इसलिए कर्म से अज्ञान का निवारण नहीं हो सकता।

यहाँ कर्मवादी विद्वान् आक्षेप करते हैं कि 'मोक्ष' कर्म से ही प्राप्त हो सकता है, ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं। यदि इस पर ज्ञानवादी यह कहें कि अनित्य कर्म से नित्य मोक्ष की सिद्धि कैसे सम्भव है? तो इसका उत्तर है कि निषिद्ध कर्मों का त्याग एवं काम्य कर्मों को न करते हुए जो पुरुष नित्यनैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करता है, वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। क्योंकि निषिद्ध कर्मों का फल नरक तथा काम्य कर्मों का फल देवत्वादि की प्राप्ति उसे न होगी और जिन धर्माधर्मों से वर्तमान देह की प्राप्ति हुई है, उनका भोग से क्षय हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि वेदान्त-वाक्य-ज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति कही गयी हैं, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि वेदार्थवेत्ता महर्षि जैमिनि का कथन है कि **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थ-क्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते'** (मी० सू० १।२।१) अर्थात् वेद क्रिया-र्थक हैं, अतः अक्रियार्थक वाक्य निष्फल हैं। **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीवि-षेच्छतं समाः'** (ईशा० २) प्राणी कर्म करता हुआ ही अपनी आयु व्यतीत करने की इच्छा करे, अध्यात्मप्रकरण में भी यह वेदमन्त्र सम्पूर्ण आयु कर्म करने का आदेश देता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मरूप सिद्ध वस्तु में भी वाक्य ही प्रमाण है और वाक्य क्रियापद के बिना अर्थ का बोधक नहीं होता। इसलिए वाक्य में क्रियापद की प्रधानता होने से वाक्य क्रिया का ही प्रतिपादक है, ब्रह्मज्ञान का विधायक नहीं। अतः कर्म से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है, ज्ञान से नही।'

किन्तु कर्मवादी का उपर्युक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि स्वस्वरूपस्थिति-रूप मुक्ति नित्यसिद्ध होने के कारण आत्मरूप है, अतः वह कर्म से प्राप्त नहीं हो सकती। कर्म का फल उत्पाद्य, प्राप्य, संस्कार्य एवं विकार्य चार प्रकार का ही हो सकता है। किन्तु मुक्ति इन कर्मफलों से सर्वथा पृथक् है। कर्म से अन्न का उत्पादन होना कर्म का 'उत्पाद्य' फल है। धन-सम्पत्ति,

मान, प्रतिष्ठा एवं स्वर्गादि की प्राप्ति 'प्राप्य' फल है। लोहादि धातु से मल का निवारण या तैल में सुगन्ध का आधान करना 'संस्कार्य' फल हैं और दूध से दधि निष्पन्न करना कर्म का 'विकार्य' फल हैं। मुक्ति नित्य है, इसलिए उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। स्वस्वरूप होने से अप्राप्ति भी नहीं। इसीलिए प्राप्ति कर्म की भी अपेक्षा नहीं है। शुद्ध, एकरस और निर्विकारी होने से संस्कार तथा विकार के लिए भी कर्म अनावश्यक हैं। इसके अतिरिक्त कर्मों का फल और कोई सम्भव न होने से मोक्ष में कर्म की गति नहीं है। एकमात्र अज्ञाननिवृत्ति ही मुक्ति का स्वरूप है। अज्ञान और कर्म में कोई विरोध नहीं है; क्योंकि दोनों एक ही हैं, अज्ञान कारण है और कर्म कार्य। जैसे अन्धकार में रज्जु-सर्प का भ्रम अन्धकार से ही नहीं दूर हो सकता, वैसे ही अज्ञानोत्पन्न कर्म भी अज्ञान का नाश करने में असमर्थ है। जिस प्रकार रज्जुसर्पभ्रम अन्धकार के विनाशक से ही निवृत्त होता है, उसी प्रकार ज्ञान से अज्ञान का निवारण होने पर ही मुक्ति का साक्षात्कार होता है। अतः मुक्ति में कर्म की अपेक्षा नहीं हैं।

निषिद्ध और काम्य कर्मों का त्याग उचित ही है और नित्यादि कर्मों का फल कुछ नहीं होता। इसलिए कर्म मोक्ष का साधन कैसे हो सकता है ? श्रुति में कर्म से मोक्ष की प्राप्ति कहीं भी नहीं कही गयी है। इसके विपरीत कर्मत्याग से मुक्ति का प्रतिपादन श्रुति ने बार-बार किया है—

'न कर्मणान प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।'

(कैव० ३) न कर्म से, न संतान से और न धन से ही मोक्ष प्राप्त होता है, एकमात्र त्याग से ही अमृतत्व मिलता है। **'तरति शोकमात्मवित्'** (छा० ७।१।३) आत्मज्ञानी शोक से पार हो जाता है। **'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'** (मुण्ड० ३।२।९) ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही होता है, आदि अनेक वाक्यों से कर्म की निन्दा और ज्ञान से मोक्ष बताया गया है। 'वेदान्तदर्शन' में महर्षि व्यास ने भी यही कहा है—**'पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः'** (३।४।१) बादरायणाचार्य का कथन है कि आत्मज्ञान से मोक्षरूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है। मुक्ति कर्म से उत्पन्न होने वाली कोई नवीन वस्तु नहीं है, वह स्वात्मस्वरूप है, इसका प्रतिपादन **'संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्'** (४।४।१) से किया गया है। इसका अर्थ है कि प्रकाशस्वरूप आत्मा का

साक्षात्कार करके उस आत्मरूप से विद्वान् आविर्भूत होता है, **'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'** (छा० ८।१२।३) अपने आत्मरूप से आविर्भूत होता है, इस श्रुति-शब्द से यही कहा गया है। **'अविभागेन दृष्टत्वात्** (४।४।४) सूत्र से कहा गया है कि मुक्त पुरुष ब्रह्मरूप से ही अवस्थित रहता है, क्योंकि **'तत्त्वमसि'** (छा० ६।८।७) वह तू ही है' **'अहं ब्रह्मास्मि** (बृ० १।४।१०) मैं ब्रह्म हूँ, आदि श्रुतियों में अभेद देखा जाता है। यही कारण है कि महर्षि ने प्रथम सूत्र में **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** (१।१।१) में साधन चतुष्टय के अनन्तर ब्रह्म की जिज्ञासा का कथन किया है। **'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म'** (तै० ३।१) तू उस ब्रह्म को विशेष रूप से जानने की इच्छा कर, इस श्रुति के अनुसार ही सूत्र का अर्थ है। तात्पर्य ब्रह्मज्ञान ही पुरुषार्थ है, यही मुक्ति है। इसे जानने की इच्छा करनी चाहिए।

'वेद क्रियार्थक हैं, अतः सिद्धार्थक वाक्य निष्फल हैं' इस आशय का महर्षि जैमिनि का जो वाक्य उद्धृत किया गया है, उसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि सम्पूर्ण वेद कर्म के ही प्रतिपादक हैं। यदि उनका आशय यही होता, तो **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** (ब्र० सू० १।१।१) साधन चतुष्टय के अनन्तर ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए और जिससे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय होते हैं वह ब्रह्म है—**'जन्माद्यस्य यतः'** (१।१।२) इत्यादि ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करने वाले सूत्र उनके गुरु महर्षि व्यासदेव न बनाते। इसलिए विधिवाक्यों का जैमिनि द्वारा किये अर्थ में प्रामाण्य है। जीव-ब्रह्म की एकता के बोधक वेदान्त-वाक्य भी ऐकात्म्य में प्रमाण हैं, क्योंकि अज्ञात वस्तु का ज्ञापन करना दोनों में समान हैं। विधिप्रकरण में निष्फल अर्थवादादि वाक्य ही क्रिया-परक होते हैं, इनको लक्ष्य में रखकर ही जैमिनि जी का वह सूत्र सफल है और यही उनका अभिप्राय है। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य विधिप्रकरण में न होने के कारण क्रियापरक नहीं हो सकते, वे सार्थक हैं। जीव-ब्रह्म की एकता-बोधक वाक्यों का फल प्रत्यक्ष है। रज्जु-सर्प-भ्रान्ति के समान जीवत्व की भ्रान्ति है। 'यह सर्प नहीं, रज्जु ही है' वाक्य से जिस प्रकार सर्प की भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य से

जीवत्व की भ्रान्ति भी तिरोहित हो जाती है और आत्मस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। अतः सभी वाक्य क्रियार्थक नहीं हैं।

'मैं अकर्ता, अभोक्ता, शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राणादि से पृथक् और सर्वसाक्षी हूँ' इस प्रकार जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो गया है, वह पुरुष किसी भी विधि-निषेध के बन्धन में नहीं है। श्रुति का शासन ब्रह्मज्ञानी पर नहीं हो सकता। अतः **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि…'** मन्त्र का शासन उस पुरुष पर है, जिसे मनुष्यत्व का अभिमान है और अपने को कर्ता-भोक्ता, दुःखी-सुखी, वर्णाश्रमादिवाला समझता है। उसी के लिए आयुपर्यन्त कर्म करने का विधान है। जो अद्वितीय ब्रह्म को प्राप्त हो गये हैं उनके लिए नहीं। **'नाविशेषात्'** (३।४।१३) सूत्र से महर्षि व्यास ने भी यही कहा है कि **'कुर्वन्नेवेह'** श्रुति ज्ञानी पुरुष के लिए नहीं है, क्योंकि श्रुति में 'विद्वान्' शब्द नहीं कहा है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मविद्या संन्यास-आश्रम में ही श्रुत है, इसलिए ब्रह्मविद्या कर्माङ्ग नहीं, स्वतन्त्र है—**'ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि'** (३।४।१७) और दूसरे सूत्र **'अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा'** (३।४।२५) से महर्षि ने कहा है कि ब्रह्मविद्या स्ववर्णाश्रमविहित कर्मों की अपेक्षा नहीं रखती। अतः ब्रह्मज्ञान स्वतन्त्र ही मोक्ष का साधन है, कर्म नहीं।

कर्मवादी ने जो कहा कि 'वाक्य क्रिया के प्रतिपादक हैं,' वह भी ठीक नहीं, क्योंकि सभी स्थानों में चाहे जिस क्रिया का अध्याहार नहीं किया जा सकता। किन्तु जिस स्थान में जो क्रिया ईप्सित अर्थ के सम्बन्ध को संघटित कर सकती हो, उसी का अध्याहार करना चाहिए। इस प्रकार की क्रिया अस्वीकार नहीं की जा सकती। वेदान्त-वाक्यों में उत्पत्तिविनाश-रहित, द्वैतबुद्धि से पृथक् तथा स्वयंप्रकाश आत्मवस्तु का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए 'असि' (है), 'अस्मि' (हूँ) आदि सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले क्रियापदों का अध्याहार करना चाहिए। जिस प्रकार 'दानार्थे' दानरूप अर्थ में 'धावेत्' (दौड़े) इस क्रिया का प्रयोग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार स्वतःसिद्ध, वृद्धयादि विकारों से रहित आत्मवस्तु के प्रतिपादक वाक्यों में 'एधि' (बढ़ो) आदि विकार प्रतिपादक क्रियाओं का प्रयोग नहीं किया जा सकता। **'तत्त्वमसि'** (छा० ६।८।७) वह तू है, आदि वेदान्त-वाक्यों का स्वतः सिद्ध आत्मवस्तु का बोध कराने के अतिरिक्त

अन्य कोई अर्थ नहीं। व्यवहार में भी सिद्धार्थ वाक्य का प्रयोग होता है। **'देवदत्त ! पुत्रस्ते जातः'** (देवदत्त तुम्हें पुत्र उत्पन्न हुआ है) वाक्य न प्रवर्तक है, न निवर्तक। इस वाक्य-श्रवण से पिता को आनन्द होता है, अतः पुरुषार्थपरक है। इसी प्रकार कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमानी सांसारिक पुरुष को जब **'तत्त्वमसि'** आदि वेदान्तवाक्यों से बतलाया जाता है कि तू कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित, सांसारिक धर्मों से असम्पृक्त ब्रह्मस्वरूप ही है, तब वह इस ज्ञान से सम्पूर्ण अज्ञान एवं अज्ञानकृत बन्धनों से विमुक्त होकर कृतकृत्य हो जाता है। अतः सिद्धार्थक वाक्य भी सप्रयोजन हैं। निष्कर्ष यही कि मोक्ष का एकमात्र साधन ज्ञान है, कर्म नहीं।

समुच्चयवादी विद्वानों का कहना है कि 'न कर्म से मोक्ष होता है और न ज्ञान से, किन्तु ज्ञान-कर्म के समुच्चय से मोक्ष होता है। वेदों में **"विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥"** (ईशा० ११) जो विद्या और अविद्या दोनों को एक साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार कर अमरत्व प्राप्त कर लेता है। इसमें विद्या ज्ञान और अविद्या कर्म के समुच्चय का कथन है, इसलिए कर्म एवं ज्ञान के समुच्चय से ही मुक्ति होती है।' किन्तु यह भी ठीक नहीं है; ज्ञान एवं कर्म का विरोध है। कर्म और ज्ञान के समुच्चय की कल्पना तीन प्रकार से की जा सकती है—१. कर्म प्रधान तथा ज्ञान गौणरूप से, २. कर्म तथा ज्ञान समभाव से और ३, ज्ञान प्रधान एवं कर्म गौणभाव से। कर्म प्रधान और ज्ञान गौण का समुच्चय बन ही नहीं सकता, क्योंकि कर्म अतःकरण-शुद्धि द्वारा ज्ञान का साधन है। **'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानशकेन'** (बृ० ४।४।२२) उस इस आत्मा को ब्राह्मण वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, दान एवं अनाशक तप से जानने की इच्छा करते हैं, इस श्रुति में यज्ञादि कर्म ज्ञानेच्छा के लिए कहे गये हैं। तात्पर्य कर्मों से ज्ञान की इच्छा उत्पन्न होती है। गीता में भी कहा है—**'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'** (५।११) कर्मी पुरुष फलासक्ति त्यागकर अन्तःकरण-शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। 'ब्रह्मसूत्र' में भी **'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्,** (३।४।२६)

ज्ञानोत्पत्ति में सभी आश्रम कर्मों की अपेक्षा बतलायी गयी है। कर्म साधन और ज्ञान साध्य है। इसलिए साध्यभूत ज्ञान के साथ साधन कर्म की एककाल में स्थिति न होने से ज्ञान और कर्म का अङ्गाङ्गीभाव समुच्चय नहीं हो सकता।

कर्म और ज्ञान का सम प्रधानभाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे सिंह और मेष का परस्पर विरोध होने के कारण एक स्थान पर सम्मिलित रहना असम्भव है, वैसे ही ज्ञान और कर्म का बाध्यबाधकभाव होने से एक ही समय एक पुरुष में इनका रहना सम्भव नहीं। अज्ञान मिथ्यावस्तु-विषयक है और ज्ञान मिथ्यावस्तु का विनाशक एवं सत्य का प्रकाशक। इस प्रकार दोनों में विरोध होने के कारण सूर्य और अन्धकार के समान दोनों का समुच्चय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त कर्त्ता, कर्म, करणादि-संयुक्त पुरुष ही कर्म का अधिकारी है। जिसने कर्त्ता, कर्मादिरहित ब्रह्म-स्वरूप का ज्ञान द्वारा साक्षात्कार कर लिया है, उस पुरुष को कर्म में प्रवृत्त कराने में सम्पूर्ण विधि निषेधशास्त्र भी कुण्ठित हो जाते हैं। जैसे क्षत्रि-यत्व के अभिमानी पुरुष की बृहस्पतिसव नामक यज्ञ में प्रवृत्ति नहीं होती और ब्राह्मणत्व का अभिमान करने वाले की क्षत्रिय के राजसूय-यज्ञ में प्रवृत्ति नही होती, वैसे ही जिस पुरुष की दृष्टि देहादि क्रियाओं तक को नहीं देखती, जिसकी पूर्ण देहाभिभानरहित एकमात्र आत्मस्वरूप में ही स्थिति है, उसकी कर्म में प्रवृत्ति ही कहाँ से होगी? 'मैं शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वरूप आत्मा हूँ' यदि इस प्रकार पुरुष विशेषरूप से जान जाय, तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामना से शरीर के पीछे संतप्त होगा?

'आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीत पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥'

(बृ० ४।४।१२)

देहाभिमानी अज्ञानी पुरुष की ही कर्मों में प्रवृत्ति होती है, जैसे बालक मिट्टी के हाथी को हाथी मानकर क्रीड़ा में प्रवृत्त होता है, वैसे ही अज्ञानी पुरुष अनात्म देहादि में आत्मा का आरोप कर कर्म में प्रवृत्त होता है। अतः कर्म और ज्ञान का समभाव से भी समुच्चय नहीं हो सकता।

ज्ञान प्रधान और कर्म गौण का भी समुच्चय नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान से ही मोक्ष कहा गया है, कर्म से नहीं। जब ज्ञान से मोक्ष सिद्ध हो गया, तो कर्म की आवश्यकता ही क्या ? जहां ज्ञानाग्नि तीव्र गति से प्रज्वलित हो रही है, वहां कर्मरूपी काष्ठ क्या शेष रह सकता है ? वह तो ज्ञानाग्नि मे भस्म हो जायगा—**'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते-तथा'** (गी० ४।३७) आत्मज्ञानी के लिए कोई भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है—**'तस्य कार्यं न विद्यते'** (गी० ३।१७) **'उपमर्दं च'** (३।४।१६) सूत्र से वेदान्त दर्शन में कहा गया है कि कर्मानुष्ठान के हेतुभूत अविद्यावृत क्रिया, कारक और फलों का विद्या के प्रभाव से उपमर्द या अभाव हो जाता है। श्रुति भी है– **'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् केन कं जिघ्रेत्'** (बृ० २।४।१४) जिस ज्ञानावस्था में सम्पूर्ण नाम, रूप आदि आत्मा ही हो जाता है, उस अवस्था में स्थित विद्वान् किस करण से किस विषय को देखे और किस करण से किस गन्ध को सूंघेगा ? इस कारण ज्ञान प्रधान और कर्म गौण का भी समुच्चय नहीं हो सकता।

ज्ञान-कर्म के समुच्चय का खण्डन भगवान् राम ने भी बड़ी युक्तियों से किया है। उनका कहना है : **'देहाभिमानादभिवर्धते क्रिया विद्यागताहङ्कृतितः प्रसिद्ध्यति।'** (अध्या० उ० ५।१४) कर्म देहाभिमान से होता है और ज्ञान अहंकार के नाश होने पर होता है। विशुद्ध विज्ञान के प्रकाश से उद्भासित जो चरम आत्मवृत्ति होती है, उसी को आत्मज्ञान कहते हैं। इसके अतिरिक्त कर्म सम्पूर्ण कारकादि की सहायता से होता है, किन्तु विद्या समस्त कारकादि का नाश कर देती है—

'विशुद्धविज्ञानविरोचनाञ्चिता विद्यात्मवृत्तिश्चरमेति भण्यते।
उदेति कर्माखिलकारकादिभिर्निहन्ति विद्याखिलकारकादिकम् ॥'

(अध्या० ५।१६)

'तस्मात्त्यजेत्कार्यमशेषतः सुधीर्विद्याविरोधान्नसमुच्चयो भवेत्।'

(५।१५)

इसीलिए विद्वान् समस्त कर्मों को त्याग दें, क्योंकि विज्ञान का विरोध होने से ज्ञान और कर्म का समुच्चय नहीं हो सकता। इसलिए समुच्चय-का सिद्धान्त भ्रान्त है।

समुच्चयवादी ने जो श्रुति प्रमाण में कही है, उसका तात्पर्य ज्ञान एवं कर्म के समुच्चय में नहीं है: क्योंकि ज्ञान और कर्म के समुच्चय की असारता प्रदर्शित की जा चुकी है। इस श्रुति में 'विद्या' से तात्पर्य देवताविषयक ज्ञान से है, परमात्मज्ञान से नहीं । **'विद्यया देवलोकः'** (बृ० १-५-१६) विद्या से देवलोक प्राप्त होता है; यह दूसरी श्रुति विद्या से देवलोकप्राप्ति बतलाती है, मोक्ष नहीं। देवता ज्ञान से ही देवलोक की प्राप्ति हो सकती है। यदि परमात्मज्ञान अर्थ होता, तो परमात्मा की प्राप्ति होती। इसलिए यहाँ श्रुति कर्म और देवोपासना के समुच्चय का उपदेश कर रही है और इसी के अनुसार फल का भी निर्देश है। **'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते'** (ईश० ११) यहाँ अग्निहोत्रादि कर्म ही 'अविद्या' शब्द से कहे गये हैं। कर्म से स्वाभाविक ज्ञान एवं कर्म दोनों को पारकर देवताविषयक ज्ञान से अमृत अर्थात् देवतात्मभाव की प्रप्ति होती है। गीता में भी **'मामनुस्मर युद्धच च'** (८-७) से भगवत्स्मरणस्वरूप उपासना और स्वधर्मरूप कर्म का ही समन्वय बतलाया गया है, ज्ञान एवं कर्म का नहीं। ब्रह्मसूत्र में **'यदेव विद्ययेति हि** (४-१-१८) सूत्र से कहा गया है कि उपासनासहकृत कर्म ही ब्रह्मज्ञान का साधन है, इसलिए उपासना और कर्भ का समुच्चय उचित है। नित्यकर्म विद्यारहित वीर्य हैं और उपासनाविशिष्ट कर्म वीर्यवत्तर हैं। **'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति'** (छा० १-१-१०) जो विद्या, श्रद्धा और योग से युक्त होकर कर्म करता है, वह वीर्यवत्तर (अविद्वान् के कर्म से अधिक फलवाला) होता है। यह श्रुति भी उपासना और कर्म का एक साथ विधान करती है। वस्तुतः उपासना भी मानसी क्रिया है, अतः उसका कर्म से कोई विरोध नहीं। यही कारण है कि कर्मोपासना का समुच्चय श्रेष्ठ कहा गया है। किन्तु ज्ञान का तो कर्म से विरोध होने के कारण समुच्चय हो ही नहीं सकता।

हाँ, कुछ स्थल ऐसे हैं, जहाँ ज्ञान और कर्म का समुच्चय होता है, उनका अपलाप नहीं किया जा सकता। जैसे स्थाणु (वृक्ष के ठूंठ) को चोर जानकर मनुष्य भय से पलायन करता है या रज्जु को सर्प समझकर भयकम्पादि से युक्त हो पुरुष भागता है। इसी तरह भ्रान्त पुरुष देहेन्द्रिय को

आत्मा समझकर कर्म करता है। देहेन्द्रिय में आत्मज्ञान होने से भ्रान्त पुरुष की कर्मों में प्रवृत्ति होती है। कर्मों में प्रवृत्ति का कारण ज्ञान है, इसलिए ज्ञान कर्म का अङ्ग है और कर्म अङ्गी। ऐसे स्थलों में ज्ञान और कर्म का विरोध नहीं है; क्योंकि वस्तुतः वह ज्ञान ज्ञान ही नहीं है। वह तो विपरीत-ज्ञान, भ्रान्त-ज्ञान है। विपरीत-ज्ञान तो अज्ञान से भी निकृष्ट कोटि का है। अतः इसका और कर्म का विरोध नहीं। किन्तु 'यह स्थाणु है', 'यह रज्जु है' इस प्रकार का ज्ञान भय या पलायन का कारण नहीं होता। वैसे ही 'मैं अकर्त्ता, अभोक्ता, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप हूँ' इस आत्म ज्ञान से कोई भी कर्म नहीं होता। अतः आत्मज्ञान और कर्म का समुच्चय किसी भी दृष्टि से सम्भव नहीं। एकमात्र ज्ञान से मुक्ति होती है, यही शास्त्रीय सिद्धान्त है।

कुछ लोगों का कथन है कि 'केवल कर्म या कर्मज्ञानसमुच्चय से मुक्ति नहीं होती। किन्तु मुक्ति उपासना से होती है। श्रुति में **'आत्मेत्येवोपासीत'** (बृ० १-४-७) आत्मा है, इसी प्रकार उपासना करनी चाहिए **'आत्मानमेव लोकमुपासीत** (बृ० १-४-१५) आत्मा की ही स्वलोक रूप से उपासना करे। उपासक उपासना के प्रभाव से ब्रह्मलोक प्राप्त करता है, वही मुक्ति है। केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं होती, क्योंकि जैसे रज्जुस्वरूप के श्रवण से सर्प का भय निवृत्त हो जाता है, वैसे ब्रह्मस्वरूप के श्रवण मात्र से संसारित्व की भ्रांति निवृत्त नहीं होती, क्योंकि ब्रह्म-श्रवण के अनन्तर भी मानव पूर्व के समान सुखी-दुःखी देखे जाते हैं। इसीलिए श्रुति में **'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** (बृ० २-४-५) श्रवण एवं मनन के अनन्तर निदिध्यासन का विधान किया है। निदिध्यासन उपासना ही है। निदिध्यासन से उसके संस्कार दृढ़ होते हैं, तब उस अज्ञान का निवारण हो सकता है। **'तमेवधीरो विज्ञायप्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः'** (बृ० ४-४-२१) बुद्धिमान् ब्राह्मण को उसे जानकर उसी में प्रज्ञा करनी चाहिए। इसमें भी प्रथम जानकर फिर प्रज्ञा (ध्यान) करने का आदेश है। अतः मोक्ष केवल ज्ञान से नहीं; उपासनासहकृत ज्ञान से ही होता है।'

किन्तु यह पक्ष भी कर्म के समान अयुक्त है, क्योंकि जिस प्रकार कर्म

और उसका फल अनित्य है, वैसे ही उपासना और उसका फल अनित्य है। कर्म स्थूल है, शरीरेन्द्रियों से होता है और उपासना सूक्ष्म है, वह मन से होती है। पर दोनों ही क्रिया स्वरूप हैं और पुरुष के अधीन हैं। किन्तु ज्ञान इनसे विलक्षण है। ज्ञान पुरुष के अधीन नहीं, प्रमाण और वस्तुपरतन्त्र है। यदि कहा जाय कि ज्ञान भी उपासना के समान मानसिक क्रिया है, तो वह ठीक नहीं। कारण ज्ञान और उपासना में भेद है। क्रिया उसे कहते हैं, जिसका वस्तुस्वरूप की अपेक्षा के बिना ही विधान किया जाता है और जो पुरुष के संकल्प के अधीन होती है। जैसे **'पुरुषो वाव गौतमाग्निः,** (छा० ५-७-१) **'योषा वाव गौतमाग्निः'** (छा० ५-८-१) हे गौतम ! पुरुष अग्नि है, हे गौतम ! स्त्री अग्नि है, यहां पुरुष और स्त्री में अग्नि-बुद्धि मानसिक है। वह केवल विधिजन्य होने के कारण क्रिया ही है और पुरुष के अधीन है। पुरुष इसमें स्वतन्त्र है—वह करे, न करे या अन्य प्रकार से करे। किन्तु प्रसिद्ध अग्नि में जो अग्नि-बुद्धि होती है, वह न तो विधि के अधीन है और न पुरुष के अधीन। वह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली अग्नि के अधीन है। अतः वह ज्ञान ही है, क्रिया नहीं। **'मनोब्रह्मे त्युपासीत'** (छा० ३-१८-१) मन ब्रह्म है, ऐसी उपासना करनी चाहिए, **'आदित्यो ब्रह्मे त्यादेशः'** (छा० ३-१९-१) आदित्य ब्रह्म है, ऐसा उपदेश है। यहां प्रधानता से मन और सूर्यरूपी आलम्बन में ध्यान करना प्रतीकोपासना है। यह उपासना 'अध्यास' है। किन्तु **'तत्वमसि'** (छा० ६-८-७) वह तू है, **'अहंब्रह्मास्मि'** (बृ० १-४-१०) मैं ब्रह्म हूं, **'अयमात्माब्रह्म'** (बृ० २-५-१९) यह आत्मा ब्रह्म है, आदि वाक्य अध्यास नहीं है। इसी प्रकार संपद् विशिष्टक्रियायोग निमित्त अथवा कर्माङ्ग संस्कार भी नहीं है। इन वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य प्रतिपादन और अज्ञानरूपी ग्रन्थि का निवारण करना ही है। **'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'** (मु० ३-२-९) जो ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है; **'भिद्यतेहृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः'** (मु० २-२-८) हृदय की रागादि ग्रन्थियां टूट जाती हैं और सब संशय दूर हो जाते हैं, यह वाक्य प्रमाण हैं। अतः ब्रह्मात्मज्ञान पुरुष के नहीं, प्रमाण और वस्तु के अधीन है। मन, सूर्य या जीव में ब्रह्मभावना करने से ब्रह्मत्व की प्राप्ति भी कैसे सम्भव

है ? यदि मन आदि ब्रह्म से सर्वथा पृथक् और नित्य हैं, तो कितनी भी भावना की जाय, वे ब्रह्म नहीं हो सकते, क्योंकि वस्तु का स्वरूप ध्यान से बदला नहीं जा सकता । फिर, यदि मनादि ब्रह्म ही हैं, तो भी ध्यान की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वाक्यज्ञान से उनका बोध हो ही जायगा । अत: उपासना की आवश्यकता ही क्या है ?

वस्तुत: किसी भी युक्ति से ब्रह्म और उसके ज्ञान की कार्य के साथ सम्बन्ध-कल्पना नहीं की जा सकती । 'विदि' (जानना) क्रिया के कर्मरूप से भी कार्य के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध नहीं है. क्योंकि **'अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि'** (केनो० १-३) वह विदित (कार्य) से और अविदित (कारण) से भी विलक्षण है। **'येनेदंसर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्'** (बृ०२-४-१३) जिस आत्मा से सम्पूर्ण प्रपञ्च को जानते हैं : उसको किस साधन से जानें ? इन श्रुतियों से स्पष्ट है कि ब्रह्म विदिक्रिया का कर्म नहीं है । इसी प्रकार उपास्ति-क्रिया के कर्मरूप से भी ब्रह्म में कार्य-सम्बन्ध का निषेध : **'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते'** (केनो० १-३) उसीको तू ब्रह्म जान, उसे नहीं, जिसकी लोक उपासना करते हैं । तात्पर्य ब्रह्म प्रत्यगात्मा है । उसीको समस्त विषयों का ज्ञान होता है । प्रत्यगात्मा के जानने के लिए कोई भी साधन नहीं है । शास्त्र अज्ञान का निवारक है । जिस प्रकार कण्ठ में रत्न-माला धारण करके भी भ्रमवश कोई यह कहकर कि 'मेरी रत्न-माला खो गयी है'; दु:खी होता है, किन्तु वही किसी विज्ञ पुरुष के यह कहने पर कि 'वह खोयी नहीं, तुम्हारे कण्ठ में ही है ?' माला को पाकर प्रसन्न हो उठता है। ठीक इसी तरह प्रत्यगात्मा के अज्ञान और देहेन्द्रिय में आत्मा का आरोप कर तथा देहेन्द्रिय के कर्मों में कर्तृत्व, भोक्तृत्व मानकर पुरुष दु:खी और जन्म-मरण के चक्र में निरन्तर पड़ते है । शास्त्र-वाक्य उनके अज्ञान और अध्यास का निवारण करके **'तत्त्वमसि'** (छा० ६-८-७) अकर्ता, अभोक्ता, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप ही तू है, का उपदेश करते हैं । तब बुद्धिमान् अपने स्वरूप को वैसा ही जानकर सम्पूर्ण अनर्थ-परम्परा से मुक्त हो जाता है । इसलिए ज्ञान से ही मुक्ति निश्चित है । उपासना से वह सम्भव नहीं ।

श्रुतियों में लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय विधिवाचक देखे जाते हैं, इससे भी ज्ञान को विधेय नहीं समझना चाहिए। **'ब्रह्म त्वं विद्धि'** (केनो० १।५) तुम ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करो, **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'** (बृ० २।४।५) आत्मा का साक्षात्कार करो, आदि वाक्यों में जो विधिप्रत्यय देखे जाते हैं, उनका तात्पर्य ब्रह्म को विधि का विषय बनाना नहीं है। किन्तु मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति जो विषयों की ओर होती है, उससे उन्हें विमुख करना ही उनका प्रयोजन है। जो पुरुष बाह्य विषयों में 'इष्ट वस्तु मुझे प्राप्त हो, अनिष्ट न प्राप्त हो' इस प्रकार बहिर्मुख हो प्रवृत्त होता है, वह विषयों से परम पुरुषार्थ प्राप्त नहीं कर सकता। उस परम पुरुषार्थ की इच्छा करनेवाले को 'आत्मा का दर्शन करना चाहिए', इत्यादि वाक्य शरीर, इन्द्रिय एवं अन्तःकरण के स्वाभाविक वृत्तिप्रवाह को विषयों की ओर से मोड़कर प्रत्यगात्मा की ओर प्रवृत्त कराते हैं। आत्मज्ञान परम पुरुषार्थ का साधन है, विधिप्रत्ययों से उसकी स्तुति की गई है। स्तुति से पुरुष की प्रवृत्ति होती है। आत्मस्वरूप के अन्वेषण में प्रवृत्त पुरुष को अनात्मा का बाध और आत्मा का बोध कराना ही श्रुति का लक्ष्य है। इसलिए विधिप्रत्यय की सार्थकता है।

ध्यानस्वरूप उपासना और ज्ञान में भेद यह है कि प्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान होता है, ध्यान नहीं और परोक्ष वस्तु का ध्यान होता है, ज्ञान नहीं। जिस स्त्री का पति विदेश गया है, वह पति का ध्यान करती है और सम्मुख होने पर उसका दर्शन (ज्ञान) करती है। इसी प्रकार ब्रह्म प्रत्यक्ष है, परोक्ष नहीं, क्योंकि श्रुति कहती है—**'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'** (बृ० ३।४।१) जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है। इस अपरोक्ष ब्रह्म का भी दर्शन (ज्ञान) ही हो सकता है, ध्यान नहीं। बुभुक्षानिवृत्ति भोजन से होती है, भोजन के ध्यान से नहीं। मोदक सम्मुख प्रस्तुत हो और कोई व्यक्ति नेत्र बन्दकर मन में मोदक का ध्यान करे, तो क्या उसकी बुभुक्षा-शान्त होगी ? बुभुक्षा-शान्ति तो मोदक खाने से ही होगी। इसी प्रकार प्रत्यक्ष ब्रह्म के दर्शन से ही अज्ञान-निवृत्ति और मुक्ति प्राप्त होगी, ध्यान से नहीं। ध्यान तो मनमोदक के समान कल्पित है।

ब्रह्म प्रत्यक्ष होने पर भी पुरुष में प्रतिबन्ध होने के कारण उसका

साक्षात्कार नहीं होता। सबसे प्रमुख प्रतिबन्ध 'अज्ञान' है। इस अज्ञानावरण का विध्वंस होता है ज्ञान से। अन्धकाररूप आवरण के कारण ही रज्जु सर्प बन जाती है, रज्जु-ज्ञान के लिए बैठकर कितना ही ध्यान किया जाय, कभी उसका दर्शन न होगा और सर्प-भय भी निवृत्त न होगा। इसके लिए आवश्यकता है, प्रकाश की। प्रकाश द्वारा अन्धकार का निवारण होते ही रज्जु-ज्ञान और सर्प का पलायन हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान से अज्ञानावरण का निवारण होते ही ब्रह्मात्मा का दर्शन और समस्त दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। यदि किसी पुरुष में अज्ञानावरण के साथ ही संशय-ज्ञान; दोष का भी आवरण हो, तो केवल ज्ञानोपदेश से उसका आवरण भंग न होगा। संशय-ज्ञान के निवारण के लिए 'मनन' की भी उसे आवश्यकता है। श्रवण और मनन से अज्ञान एवं संशयरूप ज्ञान-आवरणों का विनाश होते ही आत्मदर्शन होगा। यदि किसी में इन दो दोषों के साथ 'विपर्यय' दोष का भी आवरण हो तो श्रवण, मनन के साथ 'निदिध्यासन' की भी अपेक्षा है। निदिध्यासन से विपर्यय-दोष का निवारण होकर आत्म-दर्शन होगा। इस प्रकार ब्रह्मात्मज्ञान में निदिध्यासन की उपयोगिता है। निदिध्यासन से श्रवण किया ज्ञान दृढ़ नहीं होता, किन्तु शरीरादि में विपरीत आत्मज्ञान की भावना का निवारण होता है। ज्ञान तो श्रुत शब्द से ही होता है। 'चन्द्र एक है' इस शब्द-श्रवण और नेत्र का चन्द्र से सम्बन्ध होने पर श्रवण के अनुसार एक चन्द्र का ही दर्शन होता है। किन्तु जिसके नेत्र में दोष है, उसे शब्द-श्रवण होने पर भी दो चन्द्रों की प्रतीत होती है। वह यदि निरन्तर बहुत काल तक भी चन्द्र-दर्शन करता रहे, तो भी उसे एक चन्द्र का दर्शन नहीं होगा। किन्तु नेत्रदोष-निवारण करने पर एक बार देखते ही चन्द्र का दर्शन होगा। इसी प्रकार यदि पुरुष में रागादि दोष हों, तो कितने ही काल तक ध्यान करें, आत्मा का दर्शन नहीं होगा। दोषों का निवारण होने पर एक बार शब्द-श्रवण से ही ब्रह्मात्मा का ज्ञान हो जायगा। अतः श्रवणपूर्वक ही ज्ञान होता है और ज्ञान से मुक्ति होती है, उपासना से नहीं।

'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' (बृ० ४।४।२१) का भी अर्थ यही है कि श्रवण, मनन के अनन्तर विपरीत आदि प्रतिबन्धक दूर करने के लिए निदिध्यासन

करें। उस उपदेशित ब्रह्मातमा का ध्यान करें, बहुत शब्दों का ध्यान न करें—**'नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्'** (बृ० ४।४।२१), क्योंकि प्रतिबन्ध की निवृत्ति ध्यान से होगी, बहुत अध्ययन से नहीं। तात्पर्य यही कि शास्त्र और आचार्य से आत्मा को जानकर कि 'प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है' इसी प्रकार की प्रज्ञा (बुद्धि) करें, अन्य जिज्ञासा न करें। इसी प्रकार की बुद्धि उत्पन्न करने के साधन शम-दमादि एवं समाधि का अभ्यास करें, व्यर्थ अनेक शास्त्रों का अध्ययन न करें, क्योंकि वह सब वाणी का श्रम ही है— **'वाचो विग्लापनं हि तत्'** (बृ० ४।४।२१)। इसी अभिप्राय से ज्ञान-प्रकरण में उपासना का उल्लेख है। कहीं उपासना का उल्लेख कर्म समृद्धि के लिए है, कहीं अभ्युदय के लिए, तो कहीं क्रममुक्ति के लिए। उपासक को मरणोपरान्त उपास्यलोक में सालोक्य, सायुज्यादि चतुर्विधा मुक्ति प्राप्त होती है। वस्तुतः वह उपास्य की प्राप्ति है, मुक्ति नहीं। वहाँ भी उपास्य के सान्निध्य में जब ज्ञान होता है, तभी मुक्ति होती है। इस प्रकार भी ज्ञान से ही मुक्ति हुई, उपासना से नहीं। ज्ञानी पुरुष को ज्ञान उत्पन्न होते ही इसी जीवन में मुक्ति हो जाती है। मरणोपरान्त उसे किसी लोक में जाने की अपेक्षा नहीं रहती। उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता, वह ब्रह्म ही होता हुआ ब्रह्म को प्राप्त होता है—**'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'** (बृ० ४।४।६)

इस विवेचन का निष्कर्ष यही कि साक्षात् मुक्ति एकमात्र ज्ञान से ही होती है, उपासना या उपासना समन्वय ज्ञान से नहीं। परम्परा से कर्म एवं उपासना की उपयोगिता है, इसी से शास्त्रों में इनका वर्णन है। किन्तु मोक्ष के लिए ज्ञान से अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है : **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** (श्वे० ३।८)।

इसी प्रासंगिक विषय में जीव और ब्रह्म का क्या सम्बन्ध है? इस पर भी एक दृष्टि डालना अनुचित न होगा। ब्रह्म से जीव भिन्न है, यह एक पक्ष है, ब्रह्म और जीव अभिन्न है, यह दूसरा पक्ष है एवं ब्रह्म तथा जीव भिन्नाभिन्न है, यह तीसरा पक्ष है। यदि ब्रह्म और जीव अभिन्न हैं, तो ब्रह्म की प्राप्ति ज्ञान से होगी, क्योंकि भिन्नत्व की प्रतीति अज्ञान के ही कारण है। यदि ब्रह्म से जीव भिन्न है, तो वह अनातमरूप ही होगा

और अनात्मा होने से आत्मा की सर्वदा अप्राप्ति ही रहेगी। ऐसी स्थिति में न कर्म की उपयोगिता है, न ज्ञान की; क्योंकि वस्तु स्वरूप अपरिवर्तित होता है, आत्मा कभी अनात्मा नहीं हो सकता और अनात्मा कभी आत्मा नहीं हो सकेगा। **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'** (गी० २।१६) असत् का कभी अस्तित्व नहीं है और सत् का कभी अभाव नहीं होता। इसलिए जो जीव को अस्तित्वस्वरूप ब्रह्म से भिन्न, असत्-स्वरूप मानते हैं, उनका न कर्म से कोई सम्बन्ध है, न ज्ञान से। यदि कोई भिन्नाभिन्न पक्ष स्वीकार कर कर्म तथा ज्ञान को मुक्ति का कारण कहे, तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि एक ही वस्तु के दो विरोधी स्वभाव संभव ही नहीं। एक ही वस्तु सत् भी हो और असत् भी, उष्ण भी हो और शीत भी एवं गतिशील भी हो और स्थिर भी हो, यह कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार कर्म से कर्तृत्व भी हो और ज्ञान से अकर्तृत्व भी, दोनों का विरोध होने के कारण यह सर्वथा असम्भव है।

इसी प्रकार कुछ लोग जीव को ब्रह्म का विकार मानते हैं, तो कुछ ब्रह्म को अंशी एवं जीव को अंश। इन दोनों पक्षों में प्रश्न होता है कि वास्तविक रूप से जीव विकारी या अंश हैं या दोनों कल्पित हैं? यदि वस्तुतः अंश या विकारी हैं, तो जब तक स्थित हैं यानी सर्वदा तब तक अग्नि केऔष्ण्यस्वभाव की तरह संसारित्व से कभी मुक्त ही नहीं हो सकते। साथ ही ब्रह्म भी अविकारी तथा निरवयव नहीं रह सकता। यदि दोनों अविद्या से कल्पित हैं, तो अविद्या का ध्वंस ज्ञान से होने पर आत्मैकत्व-ज्ञानावस्था में साध्य-साधनादि भेद भी नहीं रह सकते। फिर कर्म की प्रवृत्ति ही कहाँ होगी?

जीव को अंश मानने वाले ब्रह्म को सर्वव्यापक, सर्वभूतान्तरात्मा एवं परिपूर्ण मानते हैं या एकदेशीय? यदि ब्रह्म को एकदेशीय मानते हैं तो सर्वव्यापक तथा पूर्ण कहने वाली श्रुति मिथ्या होती है। यदि ब्रह्म को परिपूर्ण स्वीकार करते हुये जीव को अंश कहते हैं, तो ब्रह्म के समान जीव भी परिपूर्ण होगा। प्रलयकालीन समुद्र अथवा आकाशवत् ब्रह्म का अंश जीव भी समुद्र तथा आकाश के समान ब्रह्म से भिन्न नहीं हो सकता। क्योंकि घटाकाश आकाश से भिन्न नहीं होता ओर समुद्र-जल से भरा घट

समुद्र में होने से घट का जल तथा समुद्र का जल भी प्रथक् नहीं होता। अतः जीव को अंश स्वीकार करना औपाधिक ही है, वास्तव में नहीं।

वस्तुतः सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदरहित एक ही ब्रह्म है—'**एकमेवाद्वितीयम्**' (छा० ६।२।१)। उसी में मरुमरीचिका के समान अनिर्वचनीया माया है। उस माया में ब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही मायोपाधिक ब्रह्म या ईश्वर कहा जाता है। वही समस्त जगत् का उत्पादक, नियामक और विध्वंसक है। इसी प्रकार अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ही जीव या आत्मा कहा जाता है। वह सूक्ष्म-स्थूल देहाभिमानी होकर कर्म करता है। ईश्वर सर्वसमर्थ एवं स्वतन्त्र होता है, क्योंकि उसे अपने स्वरूप का वास्तविक ज्ञान रहता है। जीव सीमित सामर्थ्यवान् एवं परतन्त्र रहता है, क्योंकि उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार ईश्वरत्व और जीवत्व दोनों ही माया तथा अन्तःकरण के सम्बन्ध से कल्पित हैं।

> **'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।**
> **कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥'**
>
> (शुक० ३।१२)

कार्योपाधियुक्त जीव और कारणोपाधिक ईश्वर है, कार्य तथा कारणरूप उपाधियों के बाध से पूर्ण बोधस्वरूप ब्रह्म ही शेष रहता है, यह इस उपनिषद् में भी कहा गया है। तभी '**तत्त्वमसि**' (छा० ६।८।७) वह तू है, महावाक्य से जीव एवं ब्रह्म का ऐक्य-प्रतिपादन होता है। घटाकाश एवं मठाकाश की संज्ञा घट एवं मठ की उपाधि के कारण होती है। उपाधि का बाध कर देने पर न घटाकाश रहता है, न मठाकाश, एकमात्र अखण्ड, सर्वव्यापक आकाश ही शेष रहता है। वैसे ही कार्यकारणरूप उपाधि के बाध से न जीवत्व रहता है न ईश्वरत्व; एक परिपूर्ण, सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान, ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। इसलिए ब्रह्म प्राप्ति में एकमात्र प्रतिबन्धक अज्ञानोपाधि ही है। उसका निवारण न कर्म से, न कर्मसमुच्चित ज्ञान से और न उपासना से होगा। उसके निवारण के लिए एकमात्र मार्ग है, ज्ञान का।

-○-

प्रयोजन-परीक्षा

कर्मी पुरुष की कर्म में प्रवृत्ति, उपासक की उपासना में और ज्ञानी पुरुष की ब्रह्मात्मैक्य-विज्ञान में निष्ठा सप्रयोजन ही होती है। शास्त्रों में जैसे अधिकारी, विषय, प्रमाण एवं सम्बन्ध का निर्देश अपेक्षित है, वैसे ही इन सबका क्या प्रयोजन है, इसका उल्लेख भी नितान्त आवश्यक है। कारण प्रयोजन-सिद्धि के लिए ही शास्त्र, अधिकारी, प्रमाण एवं विषयादि की अपेक्षा है। प्रयोजन ही प्रधान है, अन्य सब गौण। प्रयोजन को ही साध्य कहा जा सकता है और अधिकारी आदि को उनका साधन। वेदान्त का एकमात्र प्रयोजन है कैवल्य। प्राणियों का परम पुरुषार्थ मोक्ष है और वह परमानन्द-स्वरूप है। सभी प्राणी निरतिशय दुःख की निवृत्ति और निरतिशय सुख की प्राप्ति चाहते हैं। यही कैवल्य या मोक्ष का स्वरूप है।

दुःख तीन प्रकार के हैं : १. आध्यात्मिक, २. आधिभौतिक एवं ३.आधिदैविक। तीनों का पूर्ण समूलोच्छेदन ही दुःख की निवृत्ति है। आत्मानात्मविवेकी पुरुष को वर्तमान दुःख की निवृत्ति ही इष्ट नहीं है, क्योंकि वह तो भोग से निवृत्ति होगा ही। अतीत दुःख भी निवृत्त हो चुका है, शेष भावी दुःख की निवृत्ति ही इष्ट है। कारण दुःख के हेतु जन्मान्तरीय अतीत कर्मों की श्रृङ्खला विद्यमान है। उनसे बद्ध होकर भावी जन्मरूप कारागार में दुःखों का भार

वहन करना ही होगा। अभुक्त कर्म करोड़ों कल्पों में भी क्षीण नहीं होते :

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।' (नारद पु० ३१।७०)

जब तक अज्ञान, कामना एवं कर्म विद्यमान हैं, तब तक दुःख भी निवृत्त नहीं हो सकते। मूलतः अज्ञान से ही प्राणी का ज्ञानस्वरूप आच्छादित है, उसी से जीव मोहित है :

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।' (गी० ५।१५)

जब तक अज्ञानावरण का निवारण और ज्ञानस्वरूप अग्नि का प्राकट्य नहीं होता, तब तक अतीत कर्म भी भस्म नहीं हो सकते, क्योंकि ज्ञानाग्नि से ही सम्पूर्ण कर्म भस्म होते हैं :

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।' (गी० ४।३७)

यहाँ प्रश्न होता है कि 'यदि सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति ही प्रयोजन है तो निरतिशय सुख की आकांक्षा क्यों ? दुःखों की निवृत्ति से अतिरिक्त अन्य कोई सुख है भी नहीं। परस्पर तमस्तेज के समान विरोधी भाव एवं अभाव का ऐक्य सम्भव कहाँ ? सुख भावस्वरूप नहीं, किन्तु दुःखाभावस्वरूप देखा जाता है। रोगरूप दुःख की निवृत्ति के अनन्तर सुख की प्रतीति प्रत्यक्ष है। मुमुक्षु का प्रयत्न भी अज्ञान-निवारण के लिए ही होता है। अज्ञान अनर्थकारी होने से दुःख ही है, अतः दुःख की निवृत्ति के लिए प्रयत्न भी अपेक्षित है। सुख भावस्वरूप पुरुषार्थ नहीं, किन्तु दुःख का ध्वंस ही है ?'

इसका उत्तर है कि सुख भी दुःख के समान भावस्वरूप है। दोनों की पृथक्-पृथक् अनुभूति है। जिस प्रकार ज्ञान-अज्ञान, प्रकाश-अन्धकार, नर-नारी एवं गो-महिषादिक परस्पर अभावात्मक नहीं, किन्तु स्वतन्त्र भावात्मक पदार्थ हैं, वैसे ही सुख-दुःख भी परस्पर अभावात्मक नहीं; किन्तु दोनों ही स्वतन्त्र भावात्मक पदार्थ हैं। यदि सुख दुःखाभावस्वरूप होता, तो एक समय में एक ही पुरुष में सुख, दुःख दोनों का भाव न होता, क्योंकि भाव-अभाव एक साथ कहीं नहीं देखे जाते। जलमग्न अर्ध शरीर में शैत्यजन्य सुखानुभूति और ग्रीष्मातप संयुक्त अर्ध शरीर में आतपजन्य दुःखोपलब्धि एक साथ होती है। अतः सुख, दुःख स्वतन्त्र भावस्वरूप पदार्थ हैं।

दुःख के अनन्तर सुखोत्पत्ति देखी जाती है, अतः 'दुःखाभाव ही सुख है' यह भी ठीक नहीं। इसके विपरीत यही क्यों न स्वीकार किया जाय कि सुख के अनन्तर दुःखोत्पत्ति देखने से दुःख ही सुखाभावस्वरूप है ? यदि कहा जाय कि 'दुःख से अश्रुपातादि कार्य देखे जाते हैं, इसलिए दुःख भावस्वरूप है' तो सुख से नेत्रोत्फुल्लता आदि देखे जाने से उसे भी भाव-स्वरूप क्यों न स्वीकार किया जाय ?

दुःख के अनन्तर सुखोत्पत्ति होती है, यह भी कोई नियम नहीं है। दुःख के अनन्तर भी दुःख होता है और सुख के अनन्तर भी सुख देखा जाता है। धनादि सम्पत्ति की प्राप्ति से सुख होता है, अनन्तर पुत्र-प्राप्ति से भी सुख होता है। सम्पूर्ण दुःखरहित सार्वभौम सम्राट् को भी नृत्य, गीत एवं वाद्यादि से सुखानुभव होता है। इसलिए दुःख-ध्वंस से अतिरिक्त सुख को भावस्वरूप स्वीकार करना ही पड़ेगा। दोनों स्वतन्त्र भावस्वरूप होने से निरतिशय दुःख की निवृत्ति और निरतिशय सुख की प्राप्ति ही मोक्ष है।

सम्पूर्ण दुःखरहित एवं अनन्त सुखसागरस्वरूप एकमात्र ब्रह्म ही है। आनन्द (सुख) ब्रह्म है : **'आनन्दो ब्रह्मेति'** (तै० ३.६.१) और यह आत्मा भी ब्रह्म है : **'अयमात्मा ब्रह्म'** (बृ० २.५.१९)। आनन्द से ही ये सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर आनन्द के द्वारा ही जीवित रहते हैं और प्रयाण करते समय आनन्द में ही लीन हो जाते हैं : **आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्य-भिसंविशन्तीति।'** (तै० ३.६.१)। वेदान्तदर्शन में इसी ओर संकेत करते हुए कहा है कि इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है : **'जन्माद्यस्य यतः'** (१.१.२)। उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा कर : **'तद्विजिज्ञासस्व' (तै० ३.१.१)**। इस पर सूत्र है : **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** (१.१.१) अनन्तर ब्रह्म को जानने की इच्छा करनी चाहिए, क्योंकि **'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'** (तै० २.१.१) ब्रह्म को जाननेवाला परम (निरतिशय) ब्रह्म को ही प्राप्त कर लेता है। **'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'**-(मु० ३-२-९) ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है, अन्य श्रुति भी यही प्रतिपादन करती है। वेदान्तदर्शन में **'पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः'**

(३-४-१) सूत्र में कहा है कि आचार्य बादरायण का निश्चय है कि औपनिषद आत्मज्ञान से मोक्षरूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है, क्योंकि **'तरति शोकमात्मवित्'** (छा ७-१-३) आत्मज्ञानी शोक-दुःख को पार करता है, आदि श्रुतियां हैं।

'संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्' (४-४-१) सूत्र में कहा है कि प्रकाश-स्वरूप आत्मानुभव करके उस आत्मरूप से विद्वान् आविर्भूत होता है। इसमें श्रुति प्रमाण है : **'स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते'** (छा०८-१२-३) स्वात्म-रूप से आविर्भूत होता है। मुक्ति को प्राप्त पुरुष सम्पूर्ण दुःखरहित और प्रकाश एवं पूर्णानन्द स्वरूप से स्थिति होता है, क्योंकि श्रुति में मुक्त आनन्दस्वरूप आत्मा की व्याख्येय रूप से प्रतिज्ञा है : **'मुक्तप्रतिज्ञानात्'** (४-४-२)। **'अविभागेनदृष्टत्वात्'** (४-४-४) सूत्र से महर्षि ने कहा है कि मुक्त जीव निरतिशयानन्द ब्रह्मरूप से अवस्थित रहता है, क्योंकि **'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'** (बृ०४-४-६) **'तत्त्वमसि'** (छा०६-८-७) **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृ०१-४-१०) ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है, वह तू है, मैं ब्रह्म हूँ आदि श्रुतियों में अभेद-विधान ही देखा जाता है।

निष्कर्ष यही कि ब्रह्मवेत्ता पुरुष सम्पूर्ण दुःखरहित एवं निरतिशया-नन्दस्वरूप ब्रह्म हो जाता है। जिस प्रकार घटाकाश घट के नष्ट होने पर समस्तोपाधिरहित पूर्णाकाशस्वरूप हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानोपाधि के विनाश के अनन्तर जीवात्मा पूर्णानन्दस्वरूप ही हो जाता है। वस्तुतः घटाकाश पहले आकाश के अतिरिक्त अन्य नहीं था और अन्त में भी आकाश ही रहता है, वैसे ही जीवात्मा भी आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है और उपाधिविनाश के अनन्तर भी आत्मा ही शेष रहता है। मुक्तावस्था में कोई नवीन या अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, प्राचीन ही आत्म-स्वरूप और प्राप्त की ही प्राप्ति होती है। वस्तुतः प्राप्त आत्मस्वरूप से अज्ञानावरण का विध्वंस और आत्मदर्शन ही ब्रह्म या आत्मा का प्राप्त होना कहा जाता है। आत्मदर्शन या आत्मज्ञान ही मुक्तावस्था है।

ब्रह्मात्मज्ञानी पुरुष के उत्तर और पूर्व पापों का असंश्लेष और बिनाश होता हैं, क्योंकि श्रुति का कथन है :—

'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेतं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते'

(छा० ४-१४-३) अर्थात् जैसे कमल पत्र को जल नहीं लगता, वैसे ही ऐसा जानने वाले में पाप कर्म संश्लिष्ट नहीं होता। इस पर सूत्र है :— **'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्'** (४-१-१३) अर्थ पूर्वोक्त ही है। पाप के समान ज्ञानी को पुण्य का भी लेश नहीं लगता और उसका भी विनाश होता है, इसलिए उसे मुक्ति अवश्य होगी। **'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु'** (४-१-१४)। **'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः'** (४-१-१५) सूत्र से बतलाया है कि अनारब्ध संचित पुण्य-पापरूप कर्म ज्ञान से नष्ट होते हैं। आरब्ध कर्म जिनसे शरीर का निर्माण हुआ है, भोग से नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि **'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये'** (छा० ६-१४-२) उस पुरुष को सर्वात्मस्वरूप सम्पत्ति में तभी तक विलम्ब है, जब तक देहपात नहीं होता। देहपात होने पर तुरन्त ही वह सत्सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार श्रुति में शरीरपात-अवधि तक जिनकी सत्ता कही है, वह आरब्ध कर्मों को ही लक्ष्य कर है।

'शरीरपात के अनन्तर ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मलोकादि में गमन कर मुक्ति प्राप्त करता है।' यदि कोई ऐसा कहे तो ठीक नहीं, क्योंकि सूत्रकार **'स्पष्टो ह्येकेषाम्'** (४।२।१३) सूत्र से इसका निषेध करते हैं। इसका अर्थ है कि काण्डों की शाखा में ब्रह्मविद् का देह से प्राणों की उत्क्रान्ति का स्पष्ट निषेध उपलब्ध होता है। **'यथायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति'** (बृ० ३।२।११)—जब यह ब्रह्मवेत्ता पुरुष मृत्यु को प्राप्त होता है, तब उसके प्राण ऊपर जाते हैं या नहीं ? इस प्रकार प्रश्न होने पर याज्ञवल्क्य ने कहा है कि प्राण उत्क्रमण नहीं करते : **'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः'** (बृ० ३।२।११), **'अत्रैव समवनीयन्ते'** (बृ० ३।२।११)—इसी में परमात्मा के साथ अविभाग से लीन हो जाते हैं। इसी अर्थ को दूसरी श्रुति भी कहती है। **'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'** (बृ०४।४।६) अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं सर्वात्मदर्शी पुरुष के प्राण देह से उत्क्रमण नहीं करते, यहीं ब्रह्म होकर वह ब्रह्म प्राप्त करता है, शरीरपात के अनन्तर नहीं। तत्वज्ञानी की प्राण नामक इन्द्रियाँ परब्रह्म में ही लीन होती हैं। **'तानि परे तथा ह्याह'** (४।२।१५)—और वे प्राण नामक इंद्रियाँ निःशेष ही ब्रह्म में लीन होती हैं, क्योंकि विद्वान् की कलाओं का ब्रह्म के साथ

अविभाग है : **अविभागो वचनात्'** (४।२।१६) । श्रुति का वचन भी है : **'भिद्यते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति'** (प्र० ६।५) अर्थात् इन कलाओं के नाम और रूपों का नाश होता है। जो तत्व नष्ट नहीं होता, उस अनष्ट तत्व को ब्रह्मवेत्ता 'पुरुष' कहते हैं । वह कला रहित अमृत है। तात्पर्य, ब्रह्मज्ञानसम्पन्न पुरुष की समस्त प्राण-नामक इन्द्रियाँ भी ब्रह्मस्वरूप ही हो जाती हैं, इस कारण आरब्ध कर्म की समाप्ति पर देहपात होने से सम्पूर्ण प्राण ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। जैसे कारण का नाश होने पर कार्य का अस्तित्व नहीं रहता, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता के प्राण जब ब्रह्म में लीन हो गए तब लोकान्तर गमन और पुनर्जन्म का भी अभाव हो जाता है।

इस अदृश्य, अशरीर, अनिर्वाच्य और निराकार ब्रह्म में जब स्थिति हो जाती है, तब पुरुष अभय हो जाता है और जब इसमें किञ्चित् भी भेद करता है, तो इसे भय प्राप्त होता है। वह ब्रह्म ही भेददर्शी विद्वान् के लिए भयरूप है :

अस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' (तै० २-७-१) ।

वायु, आदित्य, अग्नि, इन्द्र एवं मृत्यु आदि परम पूजनीय और स्वयं समर्थ होने पर भी भेदोपासना करने के कारण ही ब्रह्म से निरन्तर भय-भीत रहते हैं। जो पुरुष एक, अभिन्न, आत्मतत्त्व का दर्शन नहीं करता, वह विद्वान् होने पर भी अविद्वान् ही है। उसे सर्वदा भय उपस्थित रहता है, क्योंकि **'द्वितीयाद्वै भयं भवति'** (बृ० १-४-२) दूसरे से ही भय होता है, यह अन्य भी श्रुति है। किन्तु जो पुरुष अभेद दर्शन करता है, वह शोक, मोह, भय आदि समस्त दुःखों से पार होकर एक परमानन्दस्वरूप चिद्रसा-मृतार्णव में निमग्न हो जाता है, तद्रूप हो जाता है।

जितने भी लौकिक आनन्द हैं, सभी उस ब्रह्मानन्दार्णव के कण हैं। **'तैत्तिरीयोपनिषद्'** (२।८।१-४) में बतलाया गया है कि कोई साधुस्वभाव, वेदाध्ययनपूर्ण, निराशारहित, दृढ़ एवं बलिष्ठ युवक हो और उसकी यह

सम्पूर्ण धन-धान्य से पूर्ण पृथिवी भी हो, उसे जितना आनन्द प्राप्त होता है, वह एक 'मानुष आनन्द' है। ऐसे सौ मानुष आनन्दों के समान 'मनुष्य'गन्धर्वों' का एक आनन्द है। सौ मनुष्य-गन्धर्वों के आनन्दों के समान 'देव-गंधर्व' का एक आनन्द है। सौ 'देव-गंधर्वों'के आनन्दों के समान'पितृगण' का एक आनन्द है। चिरलोकनिवासी सौ पितृगणों के आनन्दों के समान 'आजानज देवताओं' का आनन्द है। सौ आजानज देवताओं के आनन्दों के समान 'कर्मदेव देवताओं' का एक आनन्द है। सौ कर्मदेव देवताओं के आनन्दों के समान 'देवता' का एक आनन्द है। देवताओं के सौ आनन्दों के समान 'इंद्र' का एक आनन्द है। इन्द्र के सौ आनन्दों के समान 'बृहस्पति' का एक आनन्द है। बृहस्पति के सौ आनन्दों के समान 'प्रजापति' का एक आनन्द है और सौ प्रजापति के आनन्दों के समान 'ब्रह्मा' का एक आनन्द है। मनुष्य से शतगुणित ब्रह्मापर्यन्त जितना आनन्द है, वह अकामहत श्रोत्रिय पुरुष को प्राप्त है: **'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।'** तात्पर्य मनुष्य से हिरण्यगर्भपर्यंन्त आनन्द का जितना भी आधिक्य है, वह कर्मोपासनाजन्य है। इसी से वह ब्रह्मानन्दामृतार्णव का विन्दुमात्र ही है, वह तो ब्रह्मवेत्ता को प्राप्त ही हे किन्तु **'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'** (मु० ३-२-९) ब्रह्मवित् ब्रह्म ही हो जाता, इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मानन्दामृतार्णव ही हो जाने से स्वाभाविक आनन्दस्वरूप ही होता है। आनन्द और आनन्दी का भेद नहीं रह जाता।

ब्रह्मस्वरूपानन्दप्राप्त पुरुष को मरते समय ऐसा कोई पश्चात्ताप नहीं होता कि मैंने शुभ कर्म नहीं किया और पापकर्म क्यों किया ?: **'किमहं साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति'** (तै०२-९-१)। क्योंकि उसे यह पाप और पुण्य आत्मस्वरूप ही प्रतीत होते हैं: **'उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते'** (तै०२-९-१)। उसकी दृष्टि में प्रलयकालीन समुद्र के समान अन्य की सत्ता ही नहीं रहती। तभी वह कहता है कि मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दक्षिण की ओर हूं, मैं ही उत्तर की ओर हूं और मैं ही यह सब हूं: **'अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति'** (छा० ७-२५-१)। उस स्थिति में पूर्णबोधस्वरूपता और कृतकृत्यता का अनुभव होता है।

'नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक्।
कृतकृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव नित्यशः ॥'
(अव० उ० २१-२२)

मैं नित्य अनुभव स्वरूप हूं, मुझसे पृथक् अनुभव भी क्या होगा ? अतः सर्वदा के लिए जो करना था, वह कर चुका और जो प्राप्त करना था, वह प्राप्त कर चुका। मैं धन्य हूँ, क्योंकि स्वात्मस्वरूप को मैं जान गया हूँ और ब्रह्मानन्द अब मुझे स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा हूँ। मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ:

'धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥'
(अव० उ० २७)

निष्कर्ष यह कि परम पुरुषार्थ ब्रह्मात्मैक्य- विज्ञान ही 'वेदान्तशास्त्र' का विषय है और उसका फल है निरतिशय दुःख की निवृत्ति एवं निरतिशय सुख की प्राप्ति। सम्पूर्ण दुःखरहित एवं पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्म का इसी जीवन में स्वात्मस्वरूप से अनुभव करने के लिए इसकी प्रवृत्ति है। अनुभव के अनन्तर पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है। उसे कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। शरीर रहे या जाय,इसकी ओर उसका चित्त नहीं जाता। प्रारब्ध कर्म सम्पूर्ण होने पर शरीर का पतन हो जाता है। फिर वह न किसी अन्य लोक में जाता है और न पुनर्जन्म लेता है।

जो पुरुष परम बुद्धिमान्, विवेकी, इन्द्रियनिग्रही एवं विरक्त है, वही ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान का अधिकारी है। जीवन्मुक्ति उसके लिए सुलभ है। जो सकामी पुरुष हैं, उनके लिए कर्म का विधान है। वे स्वर्गलोक तक के फलों को भोगकर पुनः मृत्युलोक में जन्म ग्रहण करते हैं। किन्तु जो न तो विरक्त हैं और न अत्यन्त आसक्त, वे उपासना के अधिकारी हैं। उपासना से ही उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है:

'न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।'
[भाग० ११-२०-८]

इनकी दृष्टि में ईश्वर सर्वगुणसम्पन्न, समस्त ऐश्वर्यवान् एवं सर्वज्ञ हैं और जीव अल्पज्ञ तथा ईश्वर का अंश है। ईश्वर की उपासना द्वारा ही जीव का कल्याण होगा, जीव कभी ईश्वर नहीं हो सकता। ईश्वर का सामीप्य,

सालोक्य, सारूप्य एवं सायुज्य प्राप्त करना ही मुक्ति है। यद्यपि ज्ञानी से उपासक की श्रेणी निम्नकोटि की है, तथापि वह कर्मी से उच्च श्रेणी का है और ईश्वरपरायण एवं कल्याण का आकांक्षी है। अतएव शास्त्रों में उसका भी विशिष्ट स्थान है।

वेदान्त में अनेक प्रकार की सगुणोपासना और उनका फल बतलाया गया है। **'समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य'** (४-२-७) सूत्र में बतलाया गया है कि अज्ञानी और उपासक की मृत्यु समान होती है। **'वाङ् मनसि'** (छा० ६-८-६) वाणी आदि इन्द्रियां मन में लीन होती हैं, मनोवृत्ति का प्राण में लय होता है और प्राणवृत्ति का भूतों की उपाधि वाले जीव में लय होता है, इस प्रकार उत्क्रान्ति की व्यवस्था है। दक्षिण एवं उत्तर मार्ग के आरम्भपर्यन्त अविद्वान् और उपासक की समान गति है। अनन्तर उपासक मूर्धन्यनाडी द्वारा अर्चिरादि मार्ग प्राप्त करता है। वह अविद्या आदि क्लेशसमूह का विनाश कर नहीं जाता, इसलिए उसका अमृतत्व आपेक्षिक है। **'रश्म्यनुसारी'** (४-२-१८) सूत्र में कहा है कि सुषुम्ना नाडी द्वारा उपासक सूर्य की किरणों का अवलम्बन करता हुआ किरणों द्वारा ब्रह्मलोक को जाता है। उपासक उत्तरायण की प्रतीक्षा न करके दक्षिणायन में भी मर कर उत्तारायण मार्ग से गमन कर ब्रह्मलोक प्राप्त करता है : **'अतश्चायनेऽपि दक्षिणे'** (४-२-२०)। उपासक का ब्रह्म (सगुण) ही है, परब्रह्म नहीं। क्योंकि परब्रह्म सर्वगत और गमन करने वाले का भी आत्मा है, इससे उसमें गति सम्भव नहीं। गति आदि की उपपत्ति परिछिन्न कार्यब्रह्म में ही हो सकती है। इसलिए उपासक कार्यब्रह्म को ही प्राप्त करता है। **'कार्यं बादरिस्य गत्युपपत्तेः'** (४-३-७) सूत्र से यही बताया गया है।

उपासक को ब्रह्मलोक में समस्त भोग्य पदार्थ संकलपमात्र से ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि **'संकल्पादेवाऽस्य'** (छा०८-२-१) संकल्प से ही उसके, यह श्रुति प्रमाण है। इसी अभिप्राय को यह सूत्र व्यक्त करता है : **'संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः'** (४-४-८)। **'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च'** (४-४-१७) सूत्र से कहा गया है कि जगत् की उत्पत्ति आदि व्यापार को छोड़कर उपासक का ऐश्वर्य है, क्योंकि सृष्टिप्रकरण में ईश्वर का ही

कथन है, जीव का नहीं। **'भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च'** (४-४-२१) सूत्र से यह हेतु भी दिया गया है कि जीव का ईश्वर के साथ समान भोगमात्र ही श्रुति में कहा गया है, निरङ्कुश ऐश्वर्य नहीं कहा गया है। **'तमाहापो वै खलु मीयन्ते लोकोऽसौ'**—उपासक से हिरण्यगर्भ कहते हैं कि अमृतस्वरूप इस जल का मैं भोग करता हूँ, तुम्हारा भी अमृत जलरूप यह लोक भोग्य है। **'स यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति'** जैसे इस देवता की सब भूत पूजा करते हैं, वैसे ही ऐसा जानने वाले की सब भूत पूजा करते हैं। **'तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति'** (बृ०१-५-२३)—उस प्राणात्म-प्रतिरूप व्रत के योग से उपासक इसी प्राण-देवता का सायुज्य और समानलोकता प्राप्त करता है। सांकुश ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी अर्चिरादि मार्ग से गये लोगों की पुनरावृत्ति नहीं होती, क्योंकि **'न स पुनरावर्तते'** [छा०८-१५-१] पुनः संसार में नहीं आता, यह श्रुति है और सूत्र भी : **'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्ति : शब्दात्** [४-४-२२।

उपासक की मुक्ति क्रमपूर्वक है और मुक्ति में भी उत्कर्षापकर्ष है। सालोक्य, सामीप्य सारूप्य और सायुज्य चार प्रकार की मुक्ति उपासकों की हैं। साधन-तारतम्य से ही फल का तारतम्य होता है। सालोक्यमुक्ति से सायुज्य मुक्ति उत्कृष्ट है। यह उत्कृष्टता उपासक के साधन की उत्कृष्टता से ही है। ब्रह्मलोक में भी मुक्त पुरुषों में उत्कृष्ट, अपकृष्ट भावना सम्भव है। तब मृत्युलोक और स्वर्गलोक से वहां विशेषता ही क्या रही? हां, भोग तथा ऐश्वर्य की विशेषता अवश्य है। किन्तु भोगैश्वर्य मुक्ति नहीं है। मुक्ति परम शान्ति पद और अतिशयरहित है। वह केवल ज्ञान से ही प्राप्त होती है, उपासना से नहीं।

इस पर प्रश्न हो सकता है कि **'अनावृत्तिः शब्दात्.....'** (४-४-२२) सूत्र से जीव के पुनरागमन का निषेध किया है, इसलिए उपासक की भी मुक्ति होती है? तो इसका उत्तर है कि ब्रह्मलोकप्राप्त उपासक पुनः इस संसार में नहीं लौटता। वह कार्यब्रह्म के लोकमें हिरण्यगर्भ से ज्ञान प्राप्त कर कार्यब्रह्म के लोकका विनाश होनेपर उस लोक के अध्यक्ष हिरण्यगर्भ के साथ कार्यब्रह्मसे परब्रह्म को प्राप्त करता है। **'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः**

परमभिधानात्' (४-३-१०) सूत्र में यही निश्चय किया गया है। **'स्मृतेश्च'** (४-३-११) सूत्र से इस स्मृति-प्रमाण का भी संकेत करते हैं :

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे।

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥'

अर्थात् महा प्रलय में हिरण्यगर्भ का अन्त होने पर वे सब शुद्ध बुद्धिवाले ब्रह्म के साथ परस्थान में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार उपासना से ब्रह्मलोक, ब्रह्मलोक में शुद्धबुद्धि होकर सम्यग् दर्शन और सम्यग् दर्शन से परब्रह्मस्वरूप मुक्ति की प्राप्ति, यह क्रममुक्ति का मार्ग है।

इस प्रकार उपासक भी क्रम से मुक्ति प्राप्त करता है, इसमें संशय नहीं। इसीलिए शास्त्रों में उपासना का कथन है। किन्तु ज्ञानी ज्ञान से साक्षात् मुक्ति प्राप्त करता है, किसी लोकान्तर में उसे गमन की अपेक्षा नहीं। वह जीवन्मुक्ति के आनन्द का रसास्वादन करता है, यही उसका वैशिष्ट्य है। अज्ञानी पुरुष मृत्युलोक, स्वर्गलोक ओर ब्रह्मलोक तक के भौतिक सुखों का आनन्दानुभव कर सकता है। इसके विपरीत पर ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप ही स्थिर रहते हैं। अज्ञानी पुरुष सच्चिदानन्दस्वरूपानुभव को नहीं प्राप्त होता और परब्रह्म भौतिक सुखों से परे है। किन्तु ब्रह्मात्मज्ञानसम्पन्न पुरुष दोनों प्रकार के सुखों का आनन्द लेता है। जैसे देहली-दीपक गृह तथा बाहर दोनों स्थानों को प्रकाशित करता है और नदी का मकर नदी के दोनों तटों पर स्वच्छन्द विचरण करता है, वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुष शरीरेन्द्रिय से भौतिक सुखों का अनुभव करता है और ब्रह्मानन्दानुभव भी करता है इस प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष की विशिष्टता है। देहपात के अनन्तर पूर्णानन्द, पर ब्रह्म ही होता है, क्योंकि ब्रह्म ज्ञानसम्पन्न है ही। **'वेदान्तदर्शन'** या उपनिषदों का मुख्य प्रयोजन कैवल्यमुक्ति ही है। इसी से सम्पूर्ण दुःखों का विनाश और पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है।

२

ब्रह्म खण्ड

इस खण्ड के कुछ आधार वाक्य

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म।'

—तैत्तिरीयउपनिषद् ३.१

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

—तैत्तिरीयोपनिषद् २.१

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।'

—श्वेता० ६.२

'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'

—ब्र० सू० २.१.३३

'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'

—ब्र० सू० १.४.२३

'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहम्'

—वृहदारण्यक ३ ८.८

'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः'

—वृहदारण्यक ३.७ ३

ब्रह्म और उसके लक्षण

प्रथम खण्ड में हमने देखा कि सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति एक मात्र ब्रह्म-ज्ञान से ही सम्भव है। इसी प्रकार अमरत्व एवं अखण्ड ज्ञान भी ब्रह्म-ज्ञान से ही प्राप्त होता है। क्योंकि त्रिकालाबाधित सत्, अखण्ड ज्ञान और अनन्त आनन्द ब्रह्म ही है, अन्य नहीं। जीव भी ब्रह्म ही है, अज्ञान के कारण स्वरूप का भान नहीं होता, ज्ञान से अज्ञान का निवारण होने पर ब्रह्म-स्वरूप का स्पष्ट दर्शन होता है। उस स्थिति में अमरत्व, अखण्ड ज्ञान एवं अनन्त आनन्द का निरावरण साक्षात्कार होता है। शोक, मोह, दुःख, दैन्य एवं बन्धनादि का अस्तित्व ही नहीं रहता। एकमात्र शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप ब्रह्म ही शेष रहता है।

हम यह भी देख चुके हैं कि वह ब्रह्म केवल उपनिषद्गम्य है, प्रत्यक्ष या तर्कादि से वह नहीं जाना जा सकता। अब प्रश्न होता है कि 'ब्रह्म' शब्द का क्या अर्थ है? और ब्रह्म का लक्षण क्या है? व्याकरण से निश्चय होता है कि 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ महत्त्वरूप है। क्योंकि **'बृहि वृद्धौ'** धातु से ब्रह्म शब्द व्युत्पन्न हुआ है, इसका अर्थ है—'वृद्धि-रूप'। संकोचक का अभाव होने से यह वृद्धि अवधिरहित महत्त्वरूप है। श्रुति में भी 'अनन्त' (अन्तरहित

या अवधिरहित) ब्रह्म के लिए प्रयोग आया है। 'बृंहणात् ब्रह्म' (व्यापक होने से ब्रह्म कहलाता है) इस व्युत्पत्ति से ब्रह्म देश, काल, वस्तु आदि से अपरिच्छिन्न नित्य प्रतीत होता है। श्रुति भी है कि जो भूमा है वही अमृत है और जो अल्प है वह मर्त्य है—**'यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्'** (छा० ७-२४-१)।

ब्रह्म का लक्षण महर्षि वेदव्यास करते हैं—**'जन्माद्यस्य यतः'** (ब्र० सू० १-१-२)—इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है। इस का आधार है 'तैत्तिरीयोपनिषद्' का यह मन्त्र—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।' (३।१)

——जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं, जिसके प्रति जाते हैं और जिसमें प्रवेश करते हैं, उसको जानने की इच्छा कर, वह ब्रह्म है। यदि शंका हो कि 'निर्गुण ब्रह्म ही जिज्ञास्य है और निर्गुण होने से जगत् कारणत्व लक्षण ब्रह्म में कैसे सम्भव है ?' तो इसका उत्तर है कि जो चांदी है, वही सीप है। जैसे चांदी सीप का लक्षण है, इसी प्रकार जो जगत् का कारण है, वह ब्रह्म है। ऐसा कल्पित जगत्कारणत्व तटस्थ होकर ही ब्रह्म का लक्षण है। पुनः **'नेति-नेति'** यह नहीं है, यह नहीं है से जगत् का निषेध कर एक ब्रह्म को ही अवशिष्ट रखा जाता है।

दो प्रकार के ब्रह्म के लक्षण कहे गये हैं—तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण। 'जगज्जन्मादि कारणत्व' तटस्थ लक्षण हैं और **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** आदि स्वरूप लक्षण हैं। स्वरूप लक्षण ब्रह्म से सर्वदा अभिन्न हैं और तटस्थ लक्षण कभी हैं, कभी नहीं। राजा के क्षत्र, चामर आदि तटस्थ लक्षण किसी काल में हैं और कभी नहीं, वैसे ही ब्रह्म के तटस्थ लक्षण जगत् के उत्पत्ति आदि काल में हैं, अन्य समय में नहीं। लक्षण से लक्ष्य के ज्ञान में सरलता होती है, इसलिये लक्षण का महत्त्व है। जो धर्म दोषरहित हो, उसे लक्षण कहा जाता है। दोष तीन प्रकार के होते हैं—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। लक्ष्य के एक देश में जो धर्म दृष्टिगोचर न होता हो, यदि उसे माना जाय तो अव्याप्ति दोष होता है। जैसे

गाय कपिलवर्ण होती है, यह लक्षण सब गायों में नहीं होता, यह अव्याप्ति दोष है। जो धर्म लक्ष्य तथा अलक्ष्य में समान हो, वह अतिव्याप्तियुक्त दोष होता है। जैसे 'सींगवाली गाय है' इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है, क्योंकि महिषी आदि में भी सींग होते हैं। जो धर्म लक्ष्य के किसी भी देश में न हों वह असम्भव दोषयुक्त होता है। जैसे 'गाय एक खुरवाली है' इसमें असम्भव दोष है, क्योंकि गाय एक खुर की नहीं होती। जो धर्म लक्ष्य में रहता हो और अलक्ष्य में न हो, वह धर्म तीनों दोषरहित 'लक्षण' है। जैसे 'सास्नावाली गाय है' गाय के गले की चमड़ी का नाम सास्ना है। यह गाय का असाधारण लक्षण है, क्योंकि गाय के अतिरिक्त सास्ना और किसी में नहीं होता। इसी प्रकार जगज्जन्मादि असाधारण लक्षण ब्रह्म में ही हैं, अन्य में नहीं। क्योंकि श्रुति-प्रमाण से ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त स्वरूप है और सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदरहित एक ही परम तत्त्व है। अतः वही जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण है।

निर्गुण ब्रह्म का जगज्जन्मादि तटस्थ लक्षण 'शाखा चन्द्र न्याय' के अनुसार किया जाता है। द्वितीया का चन्द्र प्रत्येक व्यक्ति नहीं देख सकता, क्योंकि वह अति सूक्ष्म होता है। किन्तु वृक्ष के शाखाग्र में चन्द्र है' ऐसा बतलाने पर तुरन्त चन्द्र के दर्शन हो जाते हैं। यह चन्द्र का 'तटस्थ लक्षण है।' वृक्ष की शाखा द्वारा उपलक्षित चन्द्र को जान लेने पर दूर के नक्षत्रों से उसका भेद किया जा सकता है। निकट के नक्षत्रों से भेद करने के लिये 'स्वरूप लक्षण' आवश्यक हैं। 'प्रकष्ट प्रकाशशील पदार्थ ही चन्द्र है' यह चन्द्र का स्वरूप लक्षण है। इसी प्रकार ब्रह्म के तटस्थ लक्षण द्वारा सांख्यादि मतों से वह पृथक् रूप से जाना जाता है।

प्रमाणादि के द्वारा जगज्जन्मादि ब्रह्म के तटस्थ लक्षण का संकेत किया गया। अब स्वरूप लक्षण की ओर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै० २।१) **'आनन्दामृतरूपम्'** (नृ० उ० उ० ३) आदि श्रुति-प्रमाण एवं **'आनन्दादयः प्रधानस्य'** (ब्र० सू० ३।३।११) आदि सूत्र प्रमाण हैं। 'ब्रह्म सत्य है' यह कहने से विकार का निराकरण होता है। 'ब्रह्म का अभाव है या ब्रह्म असत् है' यह आशंका भी दूर हो जाती है। अपने स्वरूप से पदार्थ का व्यभिचार न हो उसे 'सत्य' कहा

जाता है और स्वरूप से व्यभिचरित हो जाने पर उसे कहा जाता है 'मिथ्या।' इसलिये विकार मिथ्या है। **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** (छा० ६।१।४) विकार केवल वाणी से आरम्भ होने वाला तथा नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य है। इससे ब्रह्म का कारणत्व प्राप्त होता है और मृत्तिका के समान अचिद्रूपता का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इसके निवारण के लिये श्रुति ने 'ज्ञानंब्रह्म' का प्रयोग किया है। तात्पर्य ब्रह्म अचेतन नहीं, चेतन है। 'ज्ञानं ब्रह्म' कहने से किसी को शंका हो सकती है कि ब्रह्म 'अन्तवान् है, क्योंकि लौकिक ज्ञान अन्तवान् ही देखे जाते हैं। इसकी निवृत्ति के लिये 'अनन्तम्' कहा गया है। तात्पर्य ब्रह्म अन्तवान् नहीं है। अनन्त होने पर भी ब्रह्म आनन्दरहित होगा--इस शंका के निवारण के लिए ही 'आनन्दामृतरूपम्' कहा गया है। तात्पर्य ब्रह्म आनन्द तथा अमृत स्वरूप है।

लौकिक पदार्थों को देखकर और उनके धर्मो से जो व्यक्ति ब्रह्म की कल्पना करते हैं एवं ब्रह्म के धर्मों का निर्धारण करते हैं, उनके भ्रम का निवारण श्रुति ने ब्रह्म का स्वरूप लक्षण बतलाकर किया है। वस्तुतः ब्रह्म अनाम, अरूप, अद्वय, अविकल्प एवं सर्वधर्मविवर्जित है। लौकिक पदार्थ असत्, विकारी, अचेतन, अनित्य एवं अनानन्द होते हैं। किन्तु ब्रह्म इनसे विलक्षण सत्, चित्, अनन्त और आनन्द स्वरूप है।

'आनन्दादयः प्रधानस्य' (ब्र० सू० ३।३।११) सूत्र में कहा गया है कि आनन्द, सत्, चित्, अनन्त आदि धर्म ब्रह्म के प्रधान हैं। क्योंकि ब्रह्म एक है, इस कारण इन धर्मों का सर्वत्र उपसंहार करना चाहिये। 'सत्यकामत्व' आदि धर्म उपासना विशिष्ट परक हैं। उन-उन उपासनाओं में उन सगुण धर्मों का प्रयोग उचित है। किन्तु आनन्दादि धर्म ब्रह्म स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं, अतः इनका सर्वत्र प्रयोग करना चाहिये। आनन्दादि धर्म ब्रह्म से कभी प्रथक् नहीं हो सकते, क्योंकि वह ब्रह्म के स्वरूप हैं। और तटस्थधर्म ब्रह्म से भिन्न हैं, उनका उपयोग विशिष्ट उपासना काल में ही है। भिन्न-भिन्न उपासनाओं में भिन्न-भिन्न गुणों का सम्बन्ध है। किन्तु आनन्दादि का सर्वत्र ही सम्बन्ध है। क्योंकि उपासना—भेद होने पर भी ब्रह्म में भेद नहीं है।

सत्य, आनन्दादि धर्मों का ब्रह्म में जिस प्रकार विधान किया गया है, उसी प्रकार श्रुति में अस्थूलादि धर्मों का भी वर्णन मिलता है। **'अस्थूल-मनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहम्'** (बृ० ३।८।८) ब्रह्म न स्थूल है, न अणु है, न ह्रस्व है, न दीर्घ है, न लोहित है, न स्नेह है आदि निषेध धर्मों का कथन किया गया है। आनन्दादि धर्मों के समान इनका भी सर्वत्र उपसंहार करना चाहिये या नहीं ? इसका निर्णय 'ब्रह्मसूत्र' कार करते हैं—

'अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्'
(ब्र०सू० ३।३।३३)

—ब्रह्म में द्वैतनिषेध बुद्धियों का सर्वत्र उपसंहार करना चाहिये, सामान्य और तद्भाव हेतुओं से। क्योंकि द्वैतनिरसन द्वारा सब स्थलों में ब्रह्म—प्रतिपादन समान है और सर्वत्र प्रतिपाद्य ब्रह्म की अभिन्नरूप से प्रत्यभिज्ञा होती है। औपसद के समान सर्वत्र ब्रह्म के साथ विशेषणों का सम्बन्ध है। निष्कर्ष यह कि विधिरूप विशेषणों के समान निषेधक विशेषणों का भी सर्वत्र प्रयोग करना समुचित है।

इस प्रकार सत्यादि स्वरूप लक्षण और जगज्जन्मादि ब्रह्म के तटस्थ लक्षण हमने देखे। ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है, किसी अन्य से नहीं। किन्तु कुछ लोगों को शङ्का हो सकती है कि 'सब उपनिषदों में एक ही ब्रह्म को जगत्कारण नहीं कहा गया है। क्योंकि अन्य कारणों का भी उल्लेख मिलता है, जैसे—

'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत' (तै० २।७)

—पूर्व में यह असत् था, उससे सत् उत्पन्न हुआ।

'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (बृ० १।४।७)

—यह सृष्टि के पूर्व में अव्याकृत था, वह नाम-रूप से ही व्याकृत हुआ।

'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१)

—आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१)

—हे सोम्य। इस सृष्टि के पूर्व एक सत् ही था।

इस प्रकार असत्, अव्याकृत, आत्मा तथा सत् आदि जगत्कारण कहे गये हैं। ऐसी स्थिति में एक ब्रह्म को ही जगत्कारण कैसे स्वीकार किया जाय?'

इसका समाधान है कि सभी उपनिषदों में सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वात्मक एक, अद्वितीय ईश्वर को ही जगत्कारण कहा गया है। उसका ही कहीं ब्रह्म, कहीं आत्मा और कहीं सत् आदि नामों से वर्णन किया गया है। नाम-भेद होने पर भी परम तत्त्व में कोई भेद नहीं है। 'असत् से सत् उत्पन्न हुआ, इसका तात्पर्य यह नहीं कि स्वरूपरहित 'असत्' या 'अभाव' से सत् उत्पन्न हुआ। क्योंकि **'सोऽकामयत'** (तै० २।६)—उसने कामना की, कामनापूर्वक सृष्टि करना चेतन तथा सत् का ही कार्य हो सकता है। वहीं यह भी कहा है—**'तत्सत्यमित्याचक्षते'** (तै० २।६)—वह ब्रह्म सत्य कहा जाता है। 'उसमें यह मन्त्र भी है' कह कर 'पूर्व में यह असत् था' कहा गया है। इससे यही निश्चय होता है कि सत्स्वरूप ब्रह्म का ही कथन 'असत्' शब्द से किया गया है। **'समाकर्षात्'** (ब्र०सू० १।४।१५) सूत्र से सूत्रकार ने कहा है कि असत् से सद्रूप आत्मा का ही आकर्षण है। इसके अतिरिक्त नाम-रूप से व्याकृत पदार्थ में 'सत्' शब्द का प्रयोग होता है और नाम-रूप से अव्याकृत पदार्थ में 'असत्' का प्रयोग देखा जाता है। सृष्टि के पूर्व ब्रह्म नाम-रूप से अव्याकृत था, इस कारण सत्ब्रह्म को ही 'असत्'—सा था, ऐसा कहा है।

'अव्याकृत' कारण कहने वाली श्रुति का भी यही तात्पर्य है। क्योंकि आगे ही कहा है—**'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः'** (बृ० १।४।७)—वह इस शरीर में नख के अग्रभाग तक प्रविष्ट हुआ। व्याकृत पदार्थों में प्रवेश का कर्तृत्वरूप से कर्त्ता ब्रह्म का आकर्षण है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१)—ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है। इसके उपरान्त 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' (तै०२।१) श्रुति है, इससे श्रुति का अभिप्राय आत्मा का ब्रह्म से ही प्रकट होता है। ब्रह्म तथा आत्मा को श्रुति अभिन्नस्वरूप से कहती है। इसी प्रकार 'छान्दोग्य' श्रुति में 'सत्' शब्द भी चेतन ब्रह्म के ही अर्थ में प्रयुक्त है। **'स आत्मा'** (छा० ६।८।७)—वह आत्मा है। तात्पर्य सत्, आत्मा, ब्रह्म आदि एक ही चेतन परमतत्त्व के नाम हैं। इस कारण सभी उपनिषदों में ब्रह्म का समन्वय है, विरोध नहीं। **'तत्तु समन्वयात्'** (ब्र० सू० १।१।४) सूत्र से यही कहा गया है।

श्रुति और सूत्रों से यही निश्चय होता है कि सर्वज्ञ, सर्वेश्वर ब्रह्म ही जगत्कारण है। किन्तु सांख्याभिमत है कि 'अचेतन प्रधान से ही सृष्टि होती है, चेतन ब्रह्म से नहीं। चेतन पुरुष के भोग एवं मोक्ष के लिये ही अचेतन प्रधान स्वभाव से ही विचित्र विकार रूप से प्रवृत्त होता है, किसी चेतन द्वारा प्रेरित नहीं किया जाता। जैसे घट, शराव आदि विकार मृत्तिका से युक्त होने के कारण मृत्तिका रूप असाधारण कारण से युक्त देखे जाते हैं। वैसे ही सब कार्य सुख, दुःख तथा मोहात्मक वस्तु से निर्मित हैं और उससे अन्वित हैं। वह सुख, दुःख तथा मोहात्मक प्रधान है।'

किन्तु यह सांख्याभिमत श्रौत विरुद्ध होने से माननीय नहीं है। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र अचेतन प्रधान सृष्टि की रचना करे, इसमें युक्ति तथा दृष्टान्त भी नहीं हैं। घट, पट, गृह, आसन, क्रीड़ा-भूमि आदि का निर्माण बुद्धिमान शिल्पियों से ही किया जाता है। इसी प्रकार कर्मानुसार फलोपभोग के लिये योग्य पृथिवी आदि वाह्य जगत् और असाधारण अवयवों से युक्त अनेक कर्मफलों के अनुभव का अधिष्ठान रूप शरीर आदि आध्यात्मिक जगत्, जिसकी आलोचना बड़े-बड़े बुद्धिमान शिल्पी भी मन से करने में असमर्थ हैं, उसकी रचना अचेतन प्रधान कैसे कर सकता है? स्वयं मृत्तिका घट नहीं बन सकती, हाँ कुम्भकार से अधिष्ठित होने पर विभिन्न आकार वाली बनती है। इसी प्रधान को भी अन्य चेतन से अधिष्ठित मानने पर सृष्टि सम्भव हो सकती है। यदि स्वतन्त्र प्रधान को चेतन स्वीकार किया जाय तो भी सृष्टि होना सम्भव है। किन्तु अचेतन और स्वतन्त्र प्रधान से किसी भी प्रकार सृष्टि उत्पन्न नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त पुरुष के शुभाशुभ कर्मों का फल प्रदाता कोई सर्वज्ञ, चेतन एवं सर्वान्तर्यामी की भी आवश्यकता है। यह कार्य भी अचेतन प्रधान द्वारा सम्भव नहीं।

'सुख-दुःख-मोहात्मक प्रधान है' यह भी अनुभव के विरुद्ध है। क्योंकि घट में मृत्तिका और पट में तन्तु की प्रतीति सबको होती है, इसी प्रकार विषयों में सुख-दुःख आदि की प्रतीत नहीं होती। सुख-दुःख आदि की प्रतीत यद्यपि विषयों में भासित होती है, तथापि इसका कारण पुरुष की वासना है। वासना के वैचित्र्य से एक ही विषय में किसी पुरुष को सुख, किसी को दुःख और किसी को मोह की प्रतीत होती है। ऐसे भी पुरुष हैं

जिनकी विषयों में उपेक्षा बुद्धि भी होती है। अतः विषयों के स्वरूप सुख दुःख आदि नहीं हैं।

जड़ प्रधान में ईक्षण करने की भी शक्ति नहीं है, क्योंकि ईक्षण करना चेतन का धर्म है। और श्रुति में **'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति'** (छा० ६।२।३) —उसने विचार किया कि मैं बहुत होऊं, इस प्रकार जगत्कारण का ईक्षण करना कहा गया है।

'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र०सू० १।१।५)

—श्रुति में जगत्कारण का ईक्षण है, इसलिये प्रधान अशब्द है अर्थात् श्रुति से प्रतिपादित नहीं है। यह निर्णय महर्षि वेदव्यास का सर्वमान्य है। इसके अतिरिक्त जगत्कारण ब्रह्म के ऐक्यज्ञान से पुरुष को मोक्ष प्राप्त होता है। क्योंकि सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का जीवात्मा से ऐक्यज्ञान ही लक्ष्य है वेदान्त का। श्रुति तथा सूत्र में यही कहा गया है—

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१) ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।१) हेश्वेतकेतो ! वह तू है।

'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' (ब्र०सू० १।१।७) ब्रह्म के ऐक्यज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है।

ऐक्यज्ञान चेतन का ही होता है, अचेतन का नहीं। क्योंकि पुरुष-चेतन है, इस लिये चेतन के साथ ही ऐक्यज्ञान हो सकता है। यदि अचेतन का ऐक्य ज्ञान हो तो पुरुष भी अचेतन हो जायगा और अचेतन होने से ऐक्यज्ञान का अनुभव भी सम्भव नहीं। यदि 'अचेतन अनात्म पदार्थ आत्मा है'— —ऐसा शास्त्र उपदेश करे तो पुरुष अनात्म पदार्थों में आत्म दृष्टि का त्याग न करेगा और अनात्मा से भिन्न आत्मा का ग्रहण भी न करेगा। ऐसी स्थिति में पुरुषार्थ से भ्रष्ट और अनर्थ को ही प्राप्त होगा, मोक्ष को नहीं। अतः सांख्याभिमत अचेतन प्रधान जगत्कारण नहीं हो सकता। वेदान्त प्रतिपादित चेतन ब्रह्म ही जगत्कारण है और उसके ऐक्यज्ञान से ही पुरुष को मोक्ष मिलता है।

प्रधान कारणवाद के समान परमाणुवाद, शून्यवाद, एवं स्वभाववाद आदि अनेक वाद होने पर भी ये सभी वाद वेदान्त प्रतिपादित न होने से

अमाननीय हैं। क्योंकि वेदान्त ईश्वरीय ज्ञान-निधि है, अतः वह निर्दुष्ट है। मानवीयमत भ्रम, प्रमाद आदि से युक्त होने के कारण माननीय नहीं हैं। वेदान्त प्रतिपादित जगत्कारण चेतन ब्रह्म ही निर्दुष्ट एवं कल्याण-कारक है। ब्रह्म का ऐक्यज्ञान प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है। ऐक्यज्ञानानुभूति से इसी जीवन में मोक्षानुभव होता है। अतः श्रुति प्रतिपादित एवं प्रत्यक्षानु-भूति होने से ब्रह्मवाद ही एकमात्र परमपुरुषार्थ है। ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से निरतिशय सुख की प्राप्ति और सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति होती है। निष्कर्ष यही कि जगत् का परमकारण एकमात्र ब्रह्म ही है।
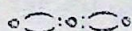
जगत् का निमित्तोपादान कारण ब्रह्म

वस्तुतः ब्रह्म अवयवरहित, अक्रिय, शान्त, दोषरहित, निरञ्जन, सर्वोपाधिविवर्जित, सच्चिदानन्द स्वरूप है। इसलिए जगत्कारण होना सम्भव नहीं। किन्तु जब अव्यक्त से नाम-रूपात्मक जगत् व्यक्त होता है, तब वही जगत् का कर्त्ता कहा जाता है। अव्यक्त से व्यक्तावस्था होती है माया से। माया ब्रह्म की प्रकृति या शक्ति है। किन्तु शुद्ध ब्रह्म में शक्ति कैसे रहती क्योंकि ब्रह्म सर्वदा चलनरहित है—'अनेजत्' (ईशा०४) और शक्ति सदा चलनयुक्त है। निश्चल ब्रह्म में सचल शक्ति कैसे रह सकती है? इसलिए जब शक्ति ब्रह्म में रहती है, ऐसा कहा जाता है, तब शक्ति और शक्तिमान् अभेद रूपसे रहते हैं। अभेद रूप से रहने के समय 'शक्ति है' ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चलनसहित का रहना असम्भव है। फिर शक्ति का निषेध भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि शक्ति न रही, तो चलन कैसे रहेगा। अतः शक्ति को 'है' भी नहीं कहा जा सकता और 'नहीं' भी नहीं कहा जा सकता। इसी लिये शक्ति को 'माया' कहते हैं।

इसी प्रकार माया के लक्षण उपनिषदों में यत्र-तत्र मिलते हैं। 'सर्वसारोपनिषद्' में कहा है—

'अनादिरन्तवती प्रमाणाप्रमाणसाधारणा नसती, नासती नसदसती स्वयमधिका विकाररहिता निरूप्यमाणा, सतीतरलक्षणशून्या सा माये—त्युच्यते'।

—अनादि और अन्तवाली, प्रमाणाप्रमाण में सामान्य, न सती, न असती और न उभयात्मिका, स्वयं इन लक्षणों से भिन्न, विकाररहित, निरूप्यमाण होती हुई सदसत् लक्षण शून्य होने से माया कहते हैं। माया या शक्ति को ब्रह्म से न प्रथक् कहा जा सकता है और न अप्रथक्। वह शक्ति स्वाभाविकी है और स्वभाव का कारण कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आकाश में शून्य शक्ति, वायु में स्पन्दशक्ति, अग्नि में दाह शक्ति, जल में द्रव शक्ति, उपल में दार्ढ्य शक्ति, आदित्य में प्रकाश शक्ति एवं विनाशी पदार्थों में विनाश शक्ति होती है, वैसे ही ब्रह्म में ज्ञान, क्रिया आदि अनेक प्रकार की स्वाभाविकी शक्ति है—**'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च'** (श्वे० ६।२)। इस शक्ति के द्वारा ही जगत् का सर्जन, पालन एवं संकोचन होता है।

कुछ लोगों का कहना है कि 'घट, शराव आदि का निमित्त कारण कुम्भकार होता है और उपादान कारण मृत्तिका होती है। कर्णफूल, अङ्गुलीयक आदि का सुवर्णकार निमित्त कारण एवं सुवर्ण उपादान कारण होता है। वस्त्र का निमित्त कारण तन्तुकार और उपादान कारण तन्तु होता है। इसी प्रकार जगत् का निमित्त कारण ब्रह्म है और उपादान कारण ब्रह्म से भिन्न प्रकृति है। क्योंकि निमित्त कारण से उपादान कारण भिन्न ही होता है, जैसे कुम्भकार से भिन्न मृत्तिका है। अतः ब्रह्म से प्रकृति भिन्न है।'

किन्तु ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि स्वाभाविकी प्रकृति को भिन्न नहीं कहा जा सकता। क्या अग्नि और उष्णता को कोई भिन्न रूप से देख सकता है? कदापि नहीं, अग्नि तथा उष्णता को भिन्न भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि उष्णता अग्नि का स्वभाव है। इसी प्रकार ब्रह्म का स्वभाव भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। स्वभाव को ही प्रकृति, शक्ति या माया कहा जाता है। इस लिये ब्रह्म हीं जगत् का निमित्त कारण है और उपादान कारण भी।

'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' (ब्र०सू०१।४।२३)

--इस सूत्र में कहा गया है कि ब्रह्म ही निमित्तकारण है और उपादान कारण भी। क्योंकि प्रतिज्ञा एवं दृष्टान्त का इसमें सामञ्जस्य है। 'छान्दोग्य' ६।१।३ में प्रतिज्ञा है, जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, मनन न किया हुआ मनन किया हुआ हो जाता है और अविज्ञात विज्ञात हो जाता है--**'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति'**। एक के विज्ञान से अन्य अविज्ञात का विज्ञान तभी सम्भव है जब उपादान कारण का विज्ञान हो, क्योंकि कार्य उपादान कारण से भिन्न नहीं होता। श्रुति में दृष्टान्त भी उपादान कारण के ही दिये गये हैं--**'यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** (छा०६।१।४)--हे सोम्य! जिस प्रकार एक मृत्तिका-पिण्ड के द्वारा सम्पूर्ण मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणी के आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है। तात्पर्य घट, कमण्डलु, सकोरा आदि का ज्ञान एक मृत्तिका के ज्ञान से हो जाता है कि यह सब मृत्तिका के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं। घट आदि नाम कहने भर को हैं, सत्य तो मृत्तिका ही है। इस प्रकार उपादान कारण से ही सब कार्यों का ज्ञान होता है। ब्रह्म यदि उपादान कारण न हो तो उसके विज्ञान से सब कार्य जगत् का विज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु प्रतिज्ञा में एक विज्ञान का कथन है और **'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** (छा०६।२।१) हे सोम्य! इस सृष्टि से पूर्व सजातीय, विजातीय एवं स्वगतभेदरहित एक ही सत्पदार्थ था। इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि एक ब्रह्म ही निमित्त तथा उपादान कारण है।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३।१)—जिससे यह भूत उत्पन्न होते हैं, इस श्रुति में 'यतः' यह पञ्चमी है। **'जनिकर्तुः प्रकृतिः'**-(पा०सू०१।४।३०) सूत्र के अनुसार पञ्चमी प्रकृति लक्षण अपादान केअर्थ में ही है। अन्य अधिष्ठाता न होने से ब्रह्म ही कर्ता और अन्य उपादान के अभाव से ब्रह्म ही प्रकृति है। **'सोऽकामयत बहुस्यांप्रजायेयेति'**-(तै०२।६) —उसने कामना की कि मैं बहुत होऊं, प्रजारूप में उत्पन्न होऊं। इस श्रुति में कामना करना निमित्त कारण है और बहुत रूपों में होना उपादान कारण है।

घट का कर्त्ता कुम्भकार है और मृत्तिका उससे भिन्न है आदि जो अनुमान कहा गया है, वह ब्रह्म के सम्बन्ध में युक्त नहीं है। क्योंकि ब्रह्म का बोध अनुमान से नहीं, शब्द से होता है। श्रुति मे ब्रह्म को स्पष्टरूप से अभिन्न निमित्तोपादान कहा है—

'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' (मु०३।१।३)—कर्ता, ईश, पुरुष, ब्रह्म और योनि को धीर पुरुष ध्यान से देखते हैं।

'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' (मु०१।१।६)—जो भूतयोनि है, उसे विवेकी लोग सब ओर देखते हैं। 'योनि' शब्द प्रकृति के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। **'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च'** (मु०१।१।७) इस श्रुति में कहा है जैसे मकड़ी किसी अन्य कारण के बिना स्वयं ही अपने शरीर से अभिन्न तन्तुओं को बाहर फैलाती है, उस जाल में स्वयं स्थित होती है और अन्त में स्वयं ही अपने शरीर से अभिन्न कर लेती है। इसी प्रकार ब्रह्म भी अपने से अभिन्न प्रकृति से जगद्रचना करता है, उसमें स्थित होता है और अन्त में अपने में ही लीन कर लेता है।

'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र०सू०२।१।१४)

—इस सूत्र में भी कहा है कि कारण ब्रह्म से कार्य जगत् की प्रथक् सत्ता नहीं है, क्योंकि विकार—कार्य वाणी से कथन मात्र है, सत्य तो कारण ही है। इस प्रकार कार्य, कारण के ऐक्य से ब्रह्म ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण सिद्ध हो जाता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि 'दूसरे के बिना असहाय ब्रह्म किस प्रकार जगद्रचना करेगा ?' तो इसका उत्तर है कि जिस प्रकार दूध बिना बाह्य साधन के ही दही बन जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी स्वभाव से ही जगद्रूप में परिणत हो जाता है। 'किन्तु दूध में उष्णता, जामन आदि वाह्य साधनों की आवश्यकता होती है, तब दही रूप में परिणत होता है ?' इसका उत्तर है कि जामन आदि का प्रयोग शीघ्र दही जमने के लिये होता है, यदि इनका उपयोग न हो तब भी दूध का परिणाम कुछ न कुछ होगा ही। यदि दूध का स्वभाव दही बनने का न हो तो कितना भी बाह्य प्रयत्न हो दही नहीं बन सकता। वायु या आकाश को किसी भी प्रयत्न से दही नहीं

बनाया जा सकता, क्योंकि उनका स्वभाव दही बनने का नहीं है। ब्रह्म स्वयं परिपूर्ण शक्ति सम्पन्न है, उसे किसी अन्य की आवश्यकता नहीं। वह स्वभाव ते विचित्र जगद्रूप में परिणत हो जाता है।

इस पर कुछ लोग कह सकते हैं कि 'ब्रह्म कारण से जगत् कार्य अभिन्न है, इससे वैशेषिकों का 'आरम्भवाद' तो ब्रह्मवादी को स्वीकार नहीं है। किन्तु दूध से दही का परिणाम होने के समान ब्रह्म का परिणाम होता है, इससे सांख्यों का 'परिणामवाद' स्वीकार है। यदि ब्रह्म का सम्पूर्ण परिणाम हो जाय, तो दूध के समान ब्रह्म अनित्य हो जायगा। यदि एक देश से परिणाम हो, तो ब्रह्म पृथिवी के समान सावयव हो जायगा'। ऐसा कहना उचित नहीं है, न तो ब्रह्मवादी को परिणामबाद स्वीकार है और न ब्रह्म अनित्य तथा सावयव ही होता है। दूध से दही बनने में 'दूध का स्वभाव है और बिना किसी प्रयत्न के बनता है,' इतने अंश में दृष्टान्तमात्र है। ब्रह्म भी स्वयं किसी की सहायता के बिना स्वभाव से जगद्रूप होता है। किन्तु दही पुनः दूध नहीं हो जाता, जबकि जगत् प्रलय में पुनः ब्रह्म-रूप हो जाता है। ब्रह्म-चेतन हैं और दूध अचेतन। सर्वांश में कोई भी दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता, इस लिये परिणामवाद कहना अनभिज्ञता का द्योतक है।

सामान्य बुद्धिवाले लोगों के लिये सामान्य दृष्टान्त से समझाने का प्रयत्न किया जाता है, दृष्टान्त से किसी 'वाद' का पूर्णतः निश्चय नहीं किया जा सकता। विषय को समझने में दृष्टान्त से सहायता मिलती है। ब्रह्म चेतन है, इसलिये चेतन का दृष्टान्त भी दिया गया है—

'देवादिवदपि लोके' (ब्र०सू०२।१।२५)

—जिस प्रकार लोक में देवता, ऋषि, योगी आदि महाप्रभावशाली बाह्य साधन के बिना ही ऐश्वर्य विशेष के सम्बन्ध से संकल्पमात्र से ही विभिन्न आकार वाले अनेक शरीर, रथ एवं प्रासाद आदि का निर्माण कर लेते हैं। स्वयं संकल्प से विभिन्नरूपों में परिणत हो जाते हैं और पूर्व रूप में भी स्थित रहते हैं। उसी प्रकार चेतन ब्रह्म भी बाह्य सहायता के बिना ही जगत् की रचना करता है और स्वयं अपने निर्विकार रूप में स्थित भी रहता है।

'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' (ब्र०सू०२।१।२८)

—इस सूत्र से और भी दृष्टान्त दिये जा रहे हैं। जिस प्रकार मायावी (जादूगर) अपने स्वरूप का नाश किये विना ही अनेक प्रकार के विचित्र दृश्य उपस्थित करता है। और स्वप्नदृष्टा पुरुष में स्वरूप का नाश हुये बिना ही रथ, अश्व, मार्ग, वन, उपवन, स्त्री-पुरुष आदि की विचित्र सृष्टि बन जाती है। इसी प्रकार ब्रह्म में भी अपने स्वरूप का नाश हुये बिना ही विविध प्रकार की सृष्टि बनती है। इन दृष्टान्तों से समझा जा सकता है कि न तो ब्रह्म का स्वरूप नाश होता है और न निरवयत्व की हानि होती है। सृष्टि के दोष से ब्रह्म दूषित भी नहीं होता। इस प्रकार पूर्व अवस्था के नाश हुये विना अन्य अवस्था की प्राप्ति 'विवर्त' है। इसलिये शास्त्र का सिद्धान्त 'विवर्तवाद' है, न परिणामवाद है और न आरम्भवाद। परिणाम का ज्ञान होने से मोक्षरूप फल भी नहीं प्राप्त हो सकता, जब कि शास्त्र का लक्ष्य है मोक्ष। ब्रह्मज्ञान सरलता से हो, इस कारण जगदोत्पत्ति का प्रसंग कहा गया है, अन्यथा सृष्टि के प्रतिपादन से कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता।

ब्रह्म के सम्बन्ध में एक मात्र श्रुति ही प्रमाण है। सूत्रकार का कहना है—

'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' (ब्र० सू० २।१।२७)

—ब्रह्म श्रुतिमूलक है, श्रुति के अनुसार ब्रह्म का जगदुपादान होना और उससे पृथक् रहना विरुद्ध नहीं है। श्रुति में कहा है—**'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्यविश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥'** (छा० ३।१२।६)—इस ब्रह्म की इतनी महिमा है, पुरुष इससे भी महान् है, सम्पूर्ण विश्व इसका एकपाद और उसके निर्विकार तीनपाद स्वप्रकाश-रूप में स्थित हैं। इस श्रुति में जगत् ब्रह्म का एक अंश कहा गया है और तीन अंश जगत् से पृथक् हैं। हृदय में भी ब्रह्म का स्थान है—**'सवा एष आत्मा हृदि'** (छा० ८।३।३)। इस प्रकार अविकृत रूप से ब्रह्म की सत्ता सिद्ध है और विकृतरूप से जगत् प्रत्यक्ष ही है। दोनों रूपों का श्रुति ने वर्णन किया है, अतः ब्रह्म का निरवयव होना और जगत् रूप से जैसा

श्रुति कहती है, स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि जो पदार्थ अचिन्त्य है, उसको तर्क की कसौटी पर नहीं कसना चाहिये, जो प्रकृति से पर है वही अचिन्त्य है—

'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥'

(म०भी० ५।१२)

निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में एक प्रश्न होता है कि 'लोक में सगुण मृत्तिका आदि ही घट आदि की प्रकृति देखी जाती है, निर्गुण वस्तु प्रकृति नहीं होती। इसलिये निर्गुण ब्रह्म प्रकृति नहीं हो सकता। ईश्वर विषम सृष्टि का निमित्त कारण हो सकता है, क्योंकि जीवों के कर्मानुसार सृष्टि हो सकती है, किन्तु उपादान कारण नहीं हो सकता।' इसका उत्तर है कि लोक में सगुण वस्तु ही कार्य रूप में परिणत देखी जाती है। किन्तु परिणाम दो प्रकार का होता है—दूध से दही आदि के रूप में और रस्सी का सर्प आदि के रूप में। विवर्तरूप से निर्गुण भी उपादान होता है, क्योंकि जो अज्ञात है, वह भ्रम के अधिष्ठान का प्रयोजक हो सकता है। निर्गुण जाति आदि में भ्रम की अधिष्ठानता देखी जाती है। मलिन ब्राह्मण को देखकर 'यह शूद्र है' ऐसा भ्रमरूप व्यवहार होता है। निराकार और वर्णरहित आकाश भी मण्डलाकार तथा नील वर्ण का प्रतीत होता है। इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म भी जगद्रूप से प्रतिभासित होता है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न होने से मायावी की सृष्टि-रचना के समान स्वयं संकल्प करता है, इसलिये निमित्त कारण है और विविध नामरूपों में प्रतिभासित होता है, इसलिये उपादान कारण है।

कुछ लोग शंका करते हैं कि 'ब्रह्म चेतन है और जगत् जड़। यदि चेतन ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होता तो मृत्तिका के कार्य घटादि जैसे मृण्मय हैं वैसे जगत् भी चेतन होता। किन्तु जगत् चेतन नहीं है, इस कारण चेतन ब्रह्म उपादान कारण नहीं हो सकता।' इसका समाधान है कि जैसे चेतन प्रत्यगात्मा में विचित्र स्वप्न सृष्टि की उपादानता है, वैसे चेतन ब्रह्म की उपादानता जगत् में है। स्वप्न-सृष्टि को न सत्य कह सकते हैं, न असत्य, चेतन या जड़ भी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जगत्

को सत्यासत्य एवं चेतनाचेतन से भिन्न अनिर्वचनीय कहा जाता है। चेतन पुरुष में केश, नख आदि जड़ पदार्थों की उपादानता है और सूत्रों (मकड़ी की लार) की उपादानता मकड़ी में देखी जाती है, वैसे ही चेतन ब्रह्म में जगत् की उपादानता है।

यव आदि बीज ही अंकुर, शाखा, पल्लव एवं पुष्पादि रूप से प्रकट होता है और पृथिवी की उपादानता से हीरा, पन्ना, नीलम, स्फटिक आदि पाषाण विभिन्न प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म से भी विचित्र सृष्टि उत्पन्न होती है। विचित्रता की कारण है माया। जगत् में सत्, चित् तथा आनन्द धर्म ब्रह्म के और नाम तथा रूप माया के धर्म संश्लिष्ट हैं। कहीं आनन्द की सर्वाधिक प्रतीति होती है, कहीं चित् की और कहीं सत् की अनुभूति होती है। मूढ़ लोगों को ही केवल नाम तथा रूप की प्रतीति होती है। वस्तुतः इन पाँच अंशों का सम्मिलित रूप ही है जगत्। नाम तथा रूप काल्पनिक अंश हैं और सत्, चित् तथा आनन्द अंश ब्रह्मस्वरूप होने से सत्य हैं। इस प्रकार विवेक होने पर केवल ब्रह्म ही अवशेष रहता है, नामादि माया का अस्तित्व नहीं रहता। माया से ही ब्रह्म उपादान कारण है, अतः शंका का कोई अवसर नहीं है।

जिस प्रकार आकाश एक और अखण्ड है, किन्तु मेघोदय होने पर वायु द्वारा अनेक खण्डों में विभक्त होने से उन खण्ड-खण्ड मेघों में जैसे खण्ड-खण्ड आकाश भासता है। किन्तु वास्तव में आकाश एक और अखण्ड ही है, वह कभी खण्डित नहीं होता, केवल माया मेघ के कारण खण्ड-सा प्रतीत होता है। उसी प्रकार ब्रह्म भी एक और अखण्ड है, किन्तु स्पन्द-स्वभाव या माया से नाना-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः वह एक और अखण्ड है। अस्पन्द-स्वभाव में वह आप ही और स्पन्द-स्वभाव में वही विचित्र संकल्प से अनन्त सा भासित होता है। इसलिये द्वैत अद्वैत का ही भेद या कार्य कहा जाता है। अस्पन्द या स्पन्द दोनों स्थितियों में वह एक और अखण्ड ही रहता है। इसलिये **'एकमेवाद्वितीयम्'** (छा० ६।२।१)—ब्रह्म एक ही अद्वितीय है, **'नेह नानास्ति किञ्चन'** (बृ० ४।४।१९) ब्रह्म में भेद कुछ भी नहीं है, श्रुतियाँ एक ही ब्रह्म का कथन करती हैं। अतः ब्रह्म ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।

०:०:०

सृष्टि और उसका रहस्य

ब्रह्म जगद्रचना करता है और स्वयं ही जगद्रूप से विवर्तित होता है। किन्तु एक महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि 'ब्रह्म जगद्रचना क्यों करता है ? किसी कामना से सृष्टि में प्रवृत्त हो, यह सम्भव नहीं क्योंकि वह 'आप्तकाम' है। यदि निष्प्रयोजन सृष्टि में प्रवृत्त होता है, तो उन्मत्त पुरुष के समान उसकी चेष्टा कही जायगी। किन्तु यह सम्भव नहीं, क्योंकि वह 'सर्वज्ञ' है। यदि कहा जाय पर-दुःख-दूर करने के लिये सृष्टि-रचना करता है, तो यह भी सम्भव नहीं, क्योंकि चित्त की व्याकुलता निवृत्ति करना इसमें भी प्रयोजन होता है। पर ब्रह्म एक रस, शान्त और अमन होने से व्याकुल नहीं होता। अतः शान्त, सर्वज्ञ एवं आप्त-काम ब्रह्म से जगद्रचना सम्भव नहीं।'

इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—

'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् (ब्र०सू०२।१।३३)

—लोक में जैसे राजा या पूर्णकाम कोई पुरुष विना प्रयोजन के ही क्रीडा, विहार आदि करता है, वैसे ही ब्रह्म भी विना प्रयोजन के जगद्रचना करता है। यदि राजा की लीला में सुख, उल्लास आदि प्रयोजन की कल्पना की जाय, तोयह भी उचित नहीं। क्यों कि जैसे अल्पवयस्क बालक सुखादि प्रयोजन के विना ही हाथ-पैर

से क्रीडा करता देखा जाता है और उच्छ्‌वास, प्रश्वास आदि भी विना किसी वाह्य प्रयोजन के स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं। वैसे ही पूर्णकाम राजा की प्रवृत्ति लीला में होती है। ईश्वर की प्रवृत्ति भी निष्प्रयोजन स्वाभाविक होती है, केवल लीलामात्र है। क्योंकि ईश्वर का अन्य कोई प्रयोजन सम्भव नहीं। स्वभाव के सम्बन्ध में 'ऐसा क्यों है ?' प्रश्न अनुचित है। अग्नि में दाहिका शक्ति क्यों है ? जिस प्रकार यह प्रश्न नहीं बनता, उसी प्रकार ईश्वर के स्वभाव के लिए भी प्रश्न नहीं बनता। यदि उच्छ्‌वास आदि का हेतु प्राणका स्वभाव चलत्व या प्रारब्ध कहो, तो ईश्वर का स्वभाव--काल, कर्म सहित माया है। इसलिये विना प्रयोजन सृष्टि सम्भव है।

'ईश्वर निष्प्रयोजन सृष्टि करता है और वह आप्तकाम है। ऐसी स्थिति में वह शान्त क्यों नहीं बैठा रहता ? अपने को कुछ फल न देने वाली और दूसरों को दुःख देने वाली सृष्टि क्यों करता है ?' इसका उत्तर है कि काल, कर्म आदि सामग्री होने से सृष्टि अवश्यम्भावी है। स्वप्न-सृष्टि न चाहने पर भी होती है; क्योंकि कर्म आदि सामग्री विद्यमान होने से उसे कोई भी टाल नहीं सकता। उसी प्रकार ईश्वर का स्वभाव विद्यमान होने से सृष्टि होना अनिवार्य है। मायामात्र होने से सृष्टि का कुछ भी फल नहीं है। दूसरों को सुख-दुःख की प्रतीति अज्ञान से होती है, ईश्वर न किसी को सुख देता है और न दुःख। साथ ही इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि सर्वरूप ईश्वर ही है। वही सुखी है और वही दुःखी। अनेक रूपों में वही लीला कर रहा है, किन्तु अज्ञानवश पुरुष अपने को सुखी-दुःखी मानते है, तदनुसार कर्म और कर्म से फलोपभोग करते हैं।

किन्तु कुछ लोग कहते हैं कि 'ईश्वर देवता आदि को अत्यन्त सुखी बनाता है, पशु आदि को अत्यन्त दुःखी और मनुष्य को सुख-दुःख वाला बनाता है। विषम सृष्टि-निर्माण करने के कारण ईश्वर में भी राग-द्वेष की उपपत्ति होगी। साथ ही प्राणियों को दुःखी बनाकर एवं सबका संहार करने से गर्हित क्रूरता भी होगी। अतः ईश्वर में वैषम्य और नैर्घृण्य दोष होंगे।' किन्तु यह कहना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि ईश्वर विषम सृष्टि रचना निरपेक्ष होकर नहीं करता। प्राणियों के धर्म-अधर्म की अपेक्षा से सृष्टि रचना करता है। यदि प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा ईश्वर

न करता, तो निःसन्देह वैषम्य और नैर्घृण्य दोष होते । किन्तु ईश्वर तो पर्जन्य के समान साधारण कारण है, यव, व्रीहि आदि की विषमता में उस बीज में रहने वाली सामर्थ्य ही असाधारण कारण है । इसी प्रकार देव, मनुष्य, पशु आदि में विषमता का कारण उनके कर्म असाधारण हेतु हैं, ईश्वर देवादि को उत्पन्न करने में साधारण कारण है । अतः सापेक्ष होने के कारण ईश्वर में वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं हैं—**'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति,** (ब्र०सू०२।१।३४) । ब्रह्म कर्मानुसार सुख-दुःख प्रदान करता है, इसमें **'एष ह्येव साधु कर्म कारयति,** (कौ० ब्रा० ३।८) श्रुति प्रमाण है ।

'न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्' (ब्र०सू०२।१।३५) सूत्र से स्वयं सूत्रकार ने शंका उठाई है कि 'सृष्टि के पूर्व भेद का अभाव था, इसलिए उस समय कर्म नहीं थे । कर्म सृष्टि के पश्चात् होते हैं और कर्म के पश्चात् शरीरादि विभाग में कर्म की अपेक्षा उचित है । किन्तु भेद और कर्म के अभाव में सृष्टि विषम नहीं हो सकती, इसलिए आद्य सृष्टि तो सम ही होनी चाहिये ।' इसका समाधान भी इसी सूत्र में करते हैं कि यदि संसार सादि होता, तो यह आपत्ति ठीक होती । किन्तु संसार अनादि है, अनादि होने से सृष्टि और कर्म का बीज तथा अंकुर के समान कार्य कारण भाव है । इसलिए विषम सृष्टि में दोष नहीं ।

'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च' (ब्र०सू०२।१।३६)

—सूत्र का तात्पर्य है कि संसार की अनादिता उपपन्न है और श्रुति में भी अनादिता उपलब्ध होती है । यदि संसार सादि हो, तो उसके अकस्मात् उत्पन्न होने का कारण कोई अन्य स्वीकार करना पड़ेगा । क्योंकि विना कारण कार्य नहीं होता और कारण कोई है नहीं । इसलिए सृष्टि भी नहीं हो सकती । यदि फिर भी कोई सृष्टि मानता है, तो विना किये पुण्य-पाप का प्रसंग उपस्थित होगा । यदि अविद्या को वैषम्य सृष्टि का कारण कहा जाय, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि अविद्या भी एक रूप है । राग-द्वेषादि वासनाओं से प्रवर्तित कर्म धर्माधर्म से मिश्रित होते हैं, उनकी अपेक्षा से अविद्या सुख-दुःखादि विचित्र सृष्टि में हेतु है, केवल अविद्या नहीं । इस

लिए अविद्या के सहकारी कर्मों का अनादि प्रवाह स्वीकार करना ही श्रेष्ठ मार्ग है। कर्म के विना शरीर नहीं हो सकता और शरीर के विना कर्म नहीं हो सकते, इस प्रकार अन्योन्याश्रय का प्रसंग आवेगा। किन्तु संसार को अनादि स्वीकार करने पर 'बीजांकुर न्याय' से कुछ भी दोष नहीं।

'सूर्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ०सं०१०।१९०।३)

—सूर्य और चन्द्रमा की धाता ने पूर्व कल्पानुसार कल्पना की। यह मन्त्रवर्ण पूर्व कल्प का सद्भाव दिखाता है। पूर्व कर्मानुसार उत्तर में विचित्र सृष्टि होती है। शुभाशुभ कर्मानुसार सुख-दुःख तथा देव, मानव, दानव, पशु, पक्षी आदि की सृष्टि ईश्वर द्वारा होती है। कर्म तथा जन्म की परम्परा अनादि है, इसलिए आदि सृष्टि कोई नहीं है।

यहां पर कर्मवादी आक्षेप करता है कि 'यदि कर्मानुसार ही सृष्टि होती है, तो ईश्वर की क्या आवश्यकता? क्योकि **'स्वर्ग कामोयजेत्'** —स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे इत्यादि वाक्य में यज्ञ से ही स्वर्ग-प्राप्ति कही गई है। कर्म की कोई एक सूक्ष्म उत्तरावस्था या फल की पूर्वावस्था 'अपूर्व' नाम की है। इस अपूर्व द्वारा कर्म फल उत्पन्न होता है, अतः ईश्वर की कल्पना व्यर्थ है।'

इसके उत्तर में महर्षि व्यास ने कई सूत्रों की रचना की है। कतिपय यह हैं—

'फलमत उपपत्तेः' (ब्र०सू०३।२।३८)

—कर्म क्षणिक होता है, अतः उससे फल सम्भव नहीं। ईश्वर सर्वज्ञ और नित्य है, इसलिए सभी प्राणियों को कर्मानुसार वही फल देता है।

'श्रुतत्वाच्च' (ब्र०सू० ३।२।३९)

और **'स वा एषमहानज आत्मान्नादोवसुदानः'** (बृ०४।४।२४) यह महान् अज आत्मा है, प्राणियों को सर्वत्र अन्न तथा धन देने वाला है, इत्यादि श्रुतियों में ईश्वर ही फलदाता कहा है। तात्पर्य यह कि स्वर्गादि विशिष्ट देश, विशिष्ट काल और विशिष्ट कर्म के अभिज्ञ द्वारा ही फल सम्भव है। सेवा कर्म का फल भी किसी चेतन पुरुष द्वारा ही मिलता है, केवल कर्म से नहीं मिलता। यज्ञादि कर्म जड़ हैं, चेतन नहीं। साथ ही विनाशी हैं, अभाव से भाव की उत्पत्ति असम्भव है। अपूर्व भी काष्ठ या

लोष्ट के समान जड़ है, उसकी प्रवृत्ति चेतन के विना सम्भव नहीं। साथ ही अपूर्व में कोई प्रमाण भी नहीं है। चेतन जीव भी अदृष्ट को नहीं जानता, इस लिए उसके द्वारा भी कर्म-फल प्राप्त नहीं हो सकता। ईश्वर सर्वज्ञ है, इसलिये ईश्वराधिष्ठित कर्म-फल प्राप्त होता है, किसी अन्य प्रकार नहीं।

कर्म, अपूर्व या जीव के द्वारा फल प्राप्त नहीं हो सकता। कर्मानुसार फल देने वाला एक मात्र चेतन ईश्वर ही है। विशिष्ट यज्ञादि का विशिष्ट फल ईश्वर द्वारा ही प्राप्त होता है, अतः यज्ञादि की उपयोगिता है। यदि कर्मवादी से प्रश्न किया जाय कि 'प्रत्यक्ष धन, स्त्री, पुत्रादि से सुख होता है और कंटक आदि से दुःख होता है। ऐसी स्थिति में धर्माधर्म का क्या प्रयोजन ?' इसका उत्तर एकमात्र कर्मवादी यह देगा कि श्रुति-प्रमाण से धर्माधर्म की अपेक्षा है। तब हमारा कहना है कि श्रुति-प्रमाण से ही ईश्वर कर्म-फल-प्रदाता भी है। दोनों में श्रुति-प्रमाण है, तब ईश्वर ने ही क्या अपराध किया है ? ईश्वर कल्पना में गौरव भी नहीं है, क्यों कि श्रुति-सिद्ध है। अपूर्व की कल्पना में गौरव है, क्योकि श्रुति में उस का कथन नहीं है। इसलिये ईश्वर को ही फल-दाता स्वीकार करना सर्वोत्तम मार्ग है।

इस स्वल्प परिचय से स्पष्ट होता है कि ईश्वर का सृष्टि में कोई स्वार्थ नहीं है और विषम सृष्टि करने पर भी वह सम्पूर्ण दोषों से रहित है। प्राणियों के कर्मानुसार फलोपभोग के लिये सृष्टि है। वस्तुतः यदि गम्भीर विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि वेदान्त का लक्ष्य सृष्टि-कथन में नहीं है। सृष्टि-प्रक्रिया के द्वारा ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान निरूपण करना ही लक्ष्य है वेदान्त का। सृष्टि से पूर्व एकमात्र ब्रह्मका प्रतिपादन वेदान्त करते हैं। सृष्टि में अनेक रूपों से ब्रह्म को ही बतलाते हैं और प्रलय में नाना भेदों का विलय ब्रह्म में बतलाकर सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद रहित एकमात्र ब्रह्म को ही शेष रखते हैं। तात्पर्य 'प्राणीब्रह्म ही हैं;' इस ज्ञान का ही प्रतिपादन वेदान्त करते हैं, सृष्टि का निरूपण नहीं करते।

उपनिषदों में सृष्टि-क्रम की एक रूपता कहीं भी नहीं मिलती। इसका भी कारण यही है कि उपनिषदों का सृष्टि - प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं है। अनेक प्रकार के अधिकारी पुरुष हैं—कुछ मन्द बुद्धिवाले, कुछ मध्यम

और कुछ उत्तम बुद्धि सम्पन्न हैं। इनके अनुसार श्रुति में ब्रह्म का कथन है। तदनुसार सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त सृष्टि माया जनित है और माया में कहीं भी क्रम नहीं देखा जा सकता। स्वप्न-सृष्टि भी मायामय है, इसीलिये स्वप्न में भी कोई क्रम नहीं होता। कभी कुछ क्रम होता है, कभी दूसरा क्रम और कभी विना क्रम ही स्वप्न देखे जाते हैं। यही स्थिति संसार-सृष्टि की भी है। 'तैत्तिरीय' उपनिषद् में प्रथम आकाश से वायु की उत्पत्ति का क्रम है। 'छान्दोग्य' में आकाश तथा वायु का वर्णन नहीं है, वहां तेज तथा आप से सृष्टि-क्रम कहा है। 'मुण्डक' में प्राण, मन आदि से कथन है और किसी-किसी उपनिषद् में माया से कथन है। यदि उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय सृष्टि होता, तो सभी स्थानों में एक ही क्रम होता। किन्तु उनका प्रतिपाद्य विषय चेतन ब्रह्म हैं, अतः इसमें एकरूपता देखी जा सकती हैं।

फिर भी जो पुरुष सृष्टि-क्रम के आग्रही हैं, उनके लिये सृष्टि-क्रम की एक झांकी प्रस्तुत है। जीवों के कर्मानुरोध से जब फलोपभोग का समय उपस्थित होता है, तब जीवों को कर्म-फल प्रदान करने के लिये ईश्वर जगद्रचना करता है। अखण्ड, अनन्त, चित् समुद्र के किसी एक अंश में मरु-मरीचिका, शुक्ति-रजत एवं स्थाणु-पुरुष के समान अनिर्वाच्या मूल प्रकृति (माया) रहती है। उसमें कम्पन होने लगता हैं, जैसे निवात स्थान में दीपक की ज्योति अकस्मात् कम्पित होने लगती है या प्रशान्त सरोवर के किसी कोने में कम्पन होने लगे, वैसे ही माया में कम्पन होता है। तब साम्यावस्था से प्रकृति में वैषम्य होता है। सत्व, रज एवं तमोगुण की तीन रेखायें खिच जाती हैं।

सत्व —— सत्वाभिमानी ब्रह्म 'ईश्वर' संज्ञक होता है।
रज —— रजोभिमानी ब्रह्म 'हिरण्यगर्भ' एवं
तम —— तमोभिमानी ब्रह्म 'विराट्' संज्ञक होता है।

सत्वगुणमयी माया में जब चैतन्य ब्रह्म प्रतिबिम्बित होता है, तब वह 'ईश्वर' या 'मायोपाधिक ब्रह्म' कहा जाता है। मायोपाधिक ब्रह्म ही मायाधीश, सर्वज्ञ, सर्ववित्, जगत् का प्रलयोत्पत्तिकर्ता, नियामक, अन्तर्यामी,

प्रशासक एवं कर्म-फल-प्रदाता है। सत्वगुणविशिष्ट माया, उसका अधिष्ठान शुद्ध ब्रह्म और माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म का आभास—इन तीनों के सम्मिलित रूप का नाम ही 'ईश्वर' है। इसी प्रकार रजोगुणमयी माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य का नाम 'हिरण्यगर्भ' और तमोगुणमयी माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ब्रह्म 'विराट्' नाम से कहा जाता है।

व्यष्टि कारण शरीर में अभिमान और अज्ञानाधिष्ठित होने से ईश्वर ही 'प्राज्ञ' कहा जाता है। मन में अधिष्ठित होकर सूक्ष्म देहाभिमानी होने से हिरण्यगर्भ ही 'तैजस' कहलाता है और स्थूल देहाभिमानी, बुद्धि में अधिष्ठित होकर विराट् ही 'विश्व' नाम से कहा जाता है। इस प्रकार सर्वज्ञ ईश्वर ही मायांश से समन्वित होकर व्यष्टि देह में प्रविष्ट होकर माया से मोहित जीवत्व को प्राप्त होता है। शरीरत्रय में तादात्म्य करके कर्तृत्व, भोक्तृत्वमय हो गया। इसी कारण कहा जाता है—**'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः** (त्रिपाद्विभू० ४) यह जीव कार्योपाधि युक्त है और ईश्वर कारणोपाधि संयुक्त।

तमोभिमानी विराट् को ही 'विष्णु' भी कहा गया है। तमोगुण से आकाश उत्पन्न होता है, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से भूमि उत्पन्न होती है। इन पञ्च महाभूतों के क्रमशः गुण हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध। माया में सत्व, रज तथा तम गुण होते हैं, माया से ही आकाशादि उत्पन्न हुए हैं, इस कारण आकाशादि में भी तीनों गुणों का समावेश है। पञ्चमहाभूतों के सत्वांश से पञ्चज्ञानेद्रियाँ उत्पन्न होती हैं। आकाश से श्रोत्र, वायु से त्वक्, तेज से नेत्र, जल से रसना और भूमि से नासिका उत्पन्न होती है। आकाश के राजस अंश से वाक् कर्मेन्द्रिय, वायु से पाणि, तेज से पाद, जल से उपस्थ एवं भूमि के राजस अंश से पायु कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होती है। पञ्चमहाभूतों के सम्मिलित सात्विक अंश से अन्तःकरण पञ्चक उत्पन्न होता है। ज्ञातृत्व, मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार—ये अन्तःकरण के पांच भेद हैं। पंचमहाभूतों के सम्मिलित राजस अंश से पंच प्राण होते हैं—प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान। यह सूक्ष्म सृष्टि है। अपञ्चीकृत महाभूतों से इसकी रचना होती है। पञ्चमहाभूत भी सूक्ष्म हैं, ये इन्द्रियगम्य नहीं हैं।

पुनः पञ्चमहाभूतों का पञ्चीकरण होता है। प्रत्येक भूत के दो भाग होते हैं, अर्द्ध भाग के पुनः चार विभाग होते हैं। आधे भाग में अन्य चार महाभूतों का एक-एक भाग सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार आकाश के अर्द्ध भाग में वायु, तेज, जल तथा भूमि के प्रत्येक का अष्टमांश सम्मिलित होता है। वही क्रम पाँचों महाभूतों का है। इस पंचीकरण से प्रत्येक महाभूत में उसका आधा भाग और आधे भाग में चार अन्य भूतों के भाग होने से प्रधानता उसी महाभूत की होती है। पंचीकरण होने पर महाभूत स्थूल हो जाते हैं। इन महाभूतों से चौदह भुवन, नद, नदी, वृक्ष, पर्वत, वनस्पति आदि तथा स्वेदज, अण्डज, उद्भिज एवं जरायुज चार प्रकार के प्राणी उत्पन्न होते हैं। जीव के भोग के लिये शब्द, स्पर्श, रूप, रस, एवं गन्ध भोग्य पदार्थ भी उत्पन्न होते हैं।

जीव का स्वरूपाज्ञान ही 'कारण शरीर' है। ज्ञान-कर्मेन्द्रिय, प्राण एवं अन्तःकरण का सम्मिलित रूप ही 'सूक्ष्म शरीर' है और इन दोनों शरीरों के रहने तथा फलोपभोग का मांसमय शरीर 'स्थूल देह' है। श्रोत्रेन्द्रिय के रहने का स्थान कर्ण है, त्वक् में त्वक् इन्द्रिय, नेत्र में चक्षु इन्द्रिय, जिह्वा में रसना इन्द्रिय और नासिका में घ्राणेन्द्रिय रहती है। श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द विषय का ग्रहण, त्वक् से स्पर्श का, नेत्र से रूप का, रसना से पदार्थ के स्वादु का एवं नासिका से गन्ध का ग्रहण होता है। वचन, ग्रहण, विहरण, मल-त्याग तथा आनन्द वाक्, पाणि, पाद, गुदा और शिश्न कर्मेन्द्रिय के क्रमशः कार्य हैं। नासिका से बाहर निकलना तथा उच्छ्वास आदि कार्य प्राण के हैं, भीतर आकर्षण तथा निःश्वास आदि कर्म अपान के, व्यान इन दोनों की सन्धि में रहकर वीर्यवान् कर्म का हेतु है, उदान ऊर्ध्ववृत्तिवाला तथा उत्क्रान्ति का हेतु है और जो सब अन्नरसों को ले जाता है, वह समान प्राण का कार्य है। इसी प्रकार अन्तःकरण के ज्ञातृत्व से सबका ज्ञान, चित्त से चिन्तन, बुद्धि से निश्चय, मन से मनन और अहंकार से अहंभावना होती है।

इस प्रकार सृष्टि-रचना होने पर जीव प्रारब्धानुसार सुख-दुखःमय भोगों को भोगता है और वासनानुसार कर्म में प्रवृत्त होता है। सुख-भोगने के लिये कर्म करता है, कर्म-फलोपभोग पाने के लिये नीचोच्च योनियों में

जन्म पाता है। इस प्रकार जीव नदी के कीट की तरह एक आवर्त से निकलकर दूसरे आवर्त में फंस जाता है। जन्म-मरण और सुख-दुःख के निरन्तर चक्र में भ्रमण करता है। किसी पुण्य-परिपाक से विवेक, वैराग्यादि एवं मोक्ष की जब इच्छा होती है, तब वेदान्त के श्रवण, मननादि से अज्ञान का निवारण और स्वरूप ज्ञान होकर मुक्ति होती है।

जिस क्रम से सृष्टि उत्पन्न होती है, उससे विपरीत क्रम से सृष्टि का विनाश होता है प्रथम अवर्षण से सभी चराचर प्राणी क्षुधा-पिपासा से कण्डे की भांति मृत होकर पृथिवी में मिल जाते हैं। फिर अतिवृष्टि से सम्पूर्ण पृथिवी जल में लीन हो जाती है, पुनः सहस्रों सूर्य के ताप से जल तेज में लीन होता है। तेज वायु में और वायु आकाश में विलीन हो जाता है। आकाशादि पञ्चमहाभूतों का पञ्चीकरण भी विच्छिन्न हो जाता है। समस्त ज्ञान तथा कर्मेन्द्रिय एवं प्राणादि अपने उपादान स्वरूप गुणों में मिल जाते हैं। पुनः सूक्ष्म पञ्चमहाभूत क्रमशः आकाश में मिल कर तमोगुण में लीन होते हैं। तमोगुण रजीगुण में, रजोगुण सत्वगुण में, सत्वगुण प्रकृति में और प्रकृति ब्रह्म में विलीन हो जाती है। कारण से कार्य होता है और कार्य का विलय कारण में ही होता है। तरङ्ग, फेन, बुद्‌बुद आदि जल से उत्पन्न होते हैं और जल में ही विलीन होते हैं। इसी प्रकार सृष्टि ब्रह्म से उत्पन्न होती है और ब्रह्म में ही विलीन होती है। ब्रह्म न उत्पन्न होता है और न उसका विनाश होता है। उत्पन्न होने वाला पदार्थ ही विनाश होता है। ब्रह्म का उत्पन्न करने वाला कोई नहीं है—**'न चास्य काश्चिज्जनिता'** (श्वे० ६।९)। इसलिये वह नित्य है, कभी उसका अभाव नहीं होता। सृष्टि से पूर्व एकमात्र वही था, पश्चात् भी वही रहता है। इसलिये सृष्टि काल में सृष्टि उससे पृथक् नहीं है। नाना भेद माया निर्मित दृश्य के समान हैं, वस्तुतः एकमात्र ब्रह्म से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जीव भी ब्रह्म ही है, कोई अन्य पदार्थ नहीं। भेद-भ्रम निवारण करने के लिये और ब्रह्मस्वरूप का अभिन्न ज्ञान करने के निमित्त सृष्टि का कथन है। इस रहस्य को सदा हृदयङ्गम रखना चाहिये।

-○•○-

सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म का ऐक्य

निर्विशेष, निरुपाधिक ब्रह्मात्मा विज्ञेय है और सविशेष सोपाधिक ब्रह्म उपास्य है। निरुपाधिक तथा सोपाधिक ब्रह्म का वर्णन पृथक्-पृथक् शास्त्रों में देखा जा सकता है। निरुपाधिक ब्रह्म का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है :

'नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।' (माण्डू० ७)

वह न अन्तः प्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ है, न उभयतः प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है। 'अन्तः प्रज्ञ नहीं है' इस कथन से स्वप्नाभिमानी 'तैजस' का निषेध किया। 'बहिष्प्रज्ञ नहीं है' इस से जाग्रदाभिमानी 'विश्व' का प्रतिषेध किया। स्वप्न तथा जाग्रत् के मध्य के अवस्थाभिमानी का निषेध 'नोभयतः प्रज्ञम्' से किया। सुषुप्तावस्थाभिमानी का निराकरण 'न प्रज्ञानघनम्' से किया। सम्पूर्ण विषयों के ज्ञातृत्व का प्रतिषेध 'न प्रज्ञम्' से एवं अचेतनता का निवारण 'नाप्रज्ञम्' से किया। वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्च का उपशम, शान्त, शिव, अद्वैत एवं तुरीय है। वही आत्मा है और वही

ज्ञातव्य है। जाग्रदादि अवस्था के अभिमानी विश्व आदि सोपाधिक होने से रज्जु-सर्प के समान मिथ्या हैं। किन्तु चित्स्वरूप सत्य और एक है, क्योंकि उसका कहीं भी व्यभिचार नहीं है। चित्स्वरूप एक ही होने के कारण 'अदृश्य' है, अदृश्य होने से व्यवहार के अयोग्य है। उसको इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता, वह लिंगरहित है इसलिये अनुमान के अयोग्य है। यही कारण है कि वह अचिन्त्य तथा शब्दों के द्वारा अकथनीय है। किन्तु जाग्रदादि सभी स्थानों में एक ही आत्मा होने से 'एकात्मप्रत्ययसार' है। व्यष्टि जाग्रदाभिमानी विश्व आदि का प्रतिषेध हो जाने से समष्टि स्थूलाभिमानी विराट् आदि का भी प्रतिषेध हो जाता है। क्योंकि यह आत्मा ही ब्रह्म है—**'अयमात्मा ब्रह्म'** (मा० २)

जो भी इस अक्षर (अविनाशी, शान्त, शिव, ब्रह्मात्मा) को बिना जाने इस लोक से मरकर जाता है, वह कृपण है और हे गार्गि ! जो कोई इस अक्षर को जानकर इस लोक से मरकर जाता है, वह ब्राह्मण है—

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्य विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः।' (बृ० ३।८।१०)

इस प्रकार निरुपाधिक ब्रह्म अनिवर्चनीय, निर्विशेष और एक है। उसका ही **'नेति-नेति'** (बृ० ३।९।२६) यह कारण नहीं और कार्य नहीं है, से कथन किया गया है। इस सर्वाधिष्ठान ब्रह्म में ही सम्पूर्ण संसार, जीव एवं ईश्वरादि कल्पित हैं। **'तत्त्वमसि'** (छा० ६।८।७) वह तू ही है, आदि महावाक्यों में जीव तथा ब्रह्म का एकत्व वर्णन किया गया है। 'तत्' पद का वाच्यार्थ सोपाधिक ब्रह्म (ईश्वर) है और लक्ष्यार्थ है निरुपाधिक ब्रह्म। 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ सोपाधिक आत्मा (जीव) है और लक्ष्यार्थ है निरुपाधिक ब्रह्म। इस प्रकार निरुपाधिक, अद्वैत ब्रह्म ही विज्ञेय है और वही सर्वस्वरूप है।

मायोपाधिक ब्रह्म ही 'ईश्वर' है। व्यष्टि में सुप्तावस्था का अभिमानी 'प्राज्ञ' और समष्टि में मायाभिमानी 'ईश्वर' दोनों एक ही हैं। अपने स्वरूप में स्थित यह प्राज्ञ ही सर्वेश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है और सम्पूर्ण जगत् का कारण एवं समस्त प्राणियों का उत्पत्ति-लयस्थान भी है—

'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हिभूतानाम्' (मा० ६)।

अपनी स्वाभाविकी ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति से सम्पूर्ण भेदसमूह का ईशन (शासन) करता है, इसी से 'ईश्वर' है। समस्त अन्तर्बाह्य तथा स्थूल-सूक्ष्म जगत् का ज्ञाता होने से 'सर्वज्ञ' है। सम्पूर्ण भूतों के अन्तर अनुप्रविष्ट होकर सबका नियमन करने से अन्तर्यामी है। समस्त जगत् का उपादान कारण होने से 'योनि' है और जगत् का उत्पत्ति तथा लय स्थान होने से 'सर्वाधिष्ठान' है।

इस अन्तर्यामी का वर्णन 'बृहदारण्यक' में अत्यन्त विशद रूप से मिलता है:

'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।' (बृ० ३।७।३)

जो पृथिवी में रहता है, पृथिवी के भीतर है, जिसे पृथिवी देवता भी नहीं जानती जिसका पृथिवी ही शरीरेन्द्रिय है और जो पृथिवी के भीतर विद्यमान रहकर पृथिवी को अपने व्यापार में नियुक्त करता है। वह ईश्वर ही तुम्हारा-हमारा और समस्त भूतों का आत्मा है। वही अंतर्यामी है और वही अमृत अर्थात् सर्वसंसारधर्म विवर्जित है।

पृथिवी के समान जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य, दिशायें, चन्द्र एवं ताराओं में, आकाश, तम तथा तेज में अन्तर्यामी रूप से रहता है। ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त समस्त भूतों में विद्यमान है। इसी प्रकार प्राण, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, मन, त्वक्, बुद्धि तथा रेत में रहकर सबका नियमन करता है। विषय न होने के कारण किसी से देखा नहीं जा सकता, किन्तु वह स्वयं दृष्टा है। इसी प्रकार श्रोता, मन्ता एवं विज्ञाता है, इससे भिन्न कोई दृष्टा, श्रोता, मन्ता तथा विज्ञाता नहीं है। यह अन्तर्यामी नेत्र का अविषय, श्रवण, मन एवं बुद्धि का भी विषय नहीं है। किन्तु सम्पूर्ण विषयों का श्रोता, मन्ता, दृष्टा एवं विज्ञाता है।

इस अन्तर्यामी ईश्वर के भय से वायु चलता है, इसके भय से सूर्य उदित होता है, इसके भय से अग्नि और इन्द्र अपना कार्य करते हैं एवं पञ्चम मृत्यु इसी के भय से चलती है—

'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावतिपञ्चमः ।।' (तै० २।८)

इस ईश्वर का ही वैष्णव लोग 'ॐ नमो नारायणाय' मन्त्र से कथन करते हैं और शैव जन 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्र से गान करते हैं। शब्द भिन्न होने पर भी अर्थ अभिन्न है। माया शक्ति के कारण ईश्वर नियामक, प्रशासक, कर्म-फल-प्रदाता और उपास्य है। अविद्या के वश होने से जीव नियम्य, शासित, फलोपभोग करनेवाला एवं उपासक है। भेद उपाधि के कारण ही है। 'तत्त्वमसि' के 'तत्' शब्द का वाच्यार्थ भी यही मायोपाधिक ब्रह्म (ईश्वर) है।

कुछ लोगों का कहना है कि 'एक निरुपाधिक ब्रह्म और दूसरा सोपाधिक ब्रह्म मानने से दो ब्रह्म की कल्पना करनी पड़ेगी। यदि एक ब्रह्म को उपाधि भेद से माना जाय तो 'माया' उपाधि से सद्वितीयता होगी। अतः अद्वैत की हानि होगी, किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के दो स्वरूप नहीं हो सकते, सत्य वस्तु में दो विरुद्ध धर्म रहना सम्भव नहीं। यदि उपाधि के योग से दो स्वभाव स्वीकार किये जायँ, तो वह सत्य नहीं माने जा सकते। इसलिये **'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'** (कठ० १।३।१५) शब्द, स्पर्श तथा रूपरहित नित्य ब्रह्म का समस्त उपाधिशून्य श्रुति में कथन है—

'न स्थानतोऽपि परस्योभय लिंगं सर्वत्र हि' (ब्र० सू० ३।२।११)

यदि कोई कहे कि 'श्रुति में ब्रह्म को चार पाद वाला कहा गया है, अतः आकार भेद से उसका भेद है।' तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्येक उपाधि में **'तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः'** (बृ० २।५।१)—यह तेजोमय और अमृतमय पुरुष है, इस अभेद वाक्य का कथन है—**'न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्'** (ब्र०सू०३।२।१२)। इस कारण अस्थूल, अनणु, अह्रस्व तथा अदीर्घ आदि निषेध वाक्यों से निर्गुण, निराकार ब्रह्म ही प्रधान है, सगुण, सोपाधिक नहीं—**'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्'** (ब्र० सू० ३।२।१४)। इस प्रकार महर्षि वेदव्यास ने 'वेदान्त दर्शन' में निरुपाधिक ब्रह्म को ही एकमात्र सिद्ध किया है। सोपाधिक भेद से दो ब्रह्म नहीं होते। दर्पण में

प्रतिबिम्बित पुरुष से क्या दो पुरुष कोई मानेगा ? कदापि नहीं, इसी प्रकार उपाधि भेद से दो ब्रह्म नहीं हो सकते ।

माया से भी सद्वितीयता नहीं है, क्योंकि माया ब्रह्म से पृथक् तथा सत्य वस्तु नहीं है । ब्रह्म की स्वाभाविकी शक्ति को माया कहा गया है । स्वभाव का पृथक् अस्तित्व नहीं होता और स्वभाव के सम्बन्ध में 'क्यों, कैसे ?' आदि प्रश्न भी अनुचित हैं । वस्तुतः चैतन्य ब्रह्म में चैतन्येतर कुछ भी नहीं है । इसीलिये उपनिषदों में माया को 'तुच्छा' कहा है । अतः ब्रह्म अद्वितीय है ।

ब्रह्म में ऐश्वर्य औपाधिक हैं या सत्य ? इस पर भी विद्वानों में मतभेद है । कुछ लोगों का कहना है कि 'ब्रह्म में ऐश्वर्य औपाधिक नहीं हैं, किन्तु सत्य, ज्ञानादि के समान ब्रह्म का स्वरूप ही हैं । **'स स्वराड् भवति'** (छा०७।२५।२)—वह स्वराड् होता है, स्वतन्त्र रहता है आदि श्रुतियां सत्यादि के समान ऐश्वर्य का भी कथन करती हैं ।' किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि **'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै०२।१)—ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है, श्रुति में जिस प्रकार ब्रह्म-स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, वैसा ऐश्वर्य का प्रतिपादन किसी भी श्रुति में नहीं मिलता । **'एष सर्वेश्वरः'** (माण्डू०६)—यह सर्वेश्वर है आदिक श्रुतियां ऐश्वर्य स्वरूप का कथन नहीं करती, क्योंकि अज्ञानोपाधिक प्राज्ञ को ही सर्वेश्वर कहा है, वह सुप्तावस्थाभिमानी है । व्यष्टि अज्ञानोपाधिक प्राज्ञ और समष्टि मायोपाधिक ईश्वर ही सर्वेश्वर है । **'मायिनं तु महेश्वरम्'** (श्वे०४।१०)—मायी को महेश्वर जानो, इस प्रकार सोपाधिक सर्वेश्वर है । न **'प्रज्ञानघनम्'** (माण्डू०७) से इस सर्वेश्वर का निषेध भी कर दिया गया है और **'प्रपञ्चोपशमंशान्तम्'** (मा० ७) से मायारहित, प्रपञ्चोपशम एवं शान्त आतमा को ही सत्य कहा गया है ।

'सस्वराड्भवति' (छा० ७।२५।२) श्रुति भी ब्रह्म का ऐश्वर्य स्वरूप नहीं कहती, यह तो फलश्रुति है । मुक्तावस्था में जीव के अज्ञानादि समस्त आवरण निवृत्त हो जाते हैं, आवरण निवृत्ति का विभिन्न फलों के रूप से अनुवाद मात्र किया गया है । ऐश्वर्य आविद्यिक है, जब अविद्या का समूलोन्मूलन हो गया, तब ऐश्वर्य कार्य की स्थिति ही कहां रह सकती है ? यदि 'स्वराड्भवति' को ब्रह्म स्वरूप स्वीकार किया जाय तो **'जक्षत्क्रीडन्'**

(छा० ८।१२।३)–हंसना, खेलना और '**साम गायन्नास्ते**' (तै० ३।१०।५) साम गान आदिक भी ब्रह्म-स्वरूप स्वीकार करना होगा। तब तो ब्रह्म सदैव हंसता, खेलता, गाता आदि रहेगा, क्योंकि स्वरूप का कभी बाध नहीं होता। इस लिए फलश्रुति को स्वरूप कहना अज्ञान का द्योतक है। वस्तुतः श्रुति का मुख्य तात्पर्य महावाक्यार्थ के प्रतिपादन में है और ऐश्वर्यादि स्वार्थपरक महावाक्यों से विरुद्ध हैं, अतः ब्रह्मस्वरूप नहीं हो सकते। '**नेति-नेति**' (बृ० २।३।६) श्रुति से कार्य-कारण का निषेध हो जाने से ऐश्वर्य का भी निषेध हो जाता है। मायोपाधि से ऐश्वर्य हैं, माया सत् न होने से ऐश्वर्य भी सत् नहीं, मायिक हैं। क्योंकि अन्त में मायारहित शुद्ध ब्रह्म का ही श्रुति प्रतिपादन करती है।

सोपाधिक ब्रह्मउपास्य है, इसका कथन पदे-पदे मिलता है। सूत्रकार कहते हैं—

'**अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्**' (ब्र० सू० १।१।२०)

—छान्दोग्य १।६।६ में कहा है '**अथ य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुहिरण्य केश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः**' (आदित्य के अन्तर ज्योतिर्मय जो यह पुरुष दिखाई देता है, उसकी ज्योतिर्मय मूंछें हैं, ज्योतिर्मय केश हैं, वह नखाग्रपर्यन्त सारा ही ज्योतिर्मय है) उसका नाम 'उद्' है, वह देव सब पापों से मुक्त है, जो ऐसे गुणों से सम्पन्न 'उत्' नामक देव की यथोक्त प्रकार से उपासना करता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है—'**सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद**' (छा० १।६।८)। उपासना के लिये आदित्य स्थान, रूप, नाम, गुण एवं फल का कथन किया गया है। आदित्य में जिस पुरुष का वर्णन है, वह ब्रह्म ही है। क्योंकि सर्व पाप विनिर्मुक्त ब्रह्म से अतिरिक्त और कोई नहीं है। आदित्य, नाम, रूपादि उपाधि उपासना के लिये ही हैं। यदि कोई कहे कि 'ज्योतिर्मय मूंछें, ज्योतिर्मय केश' आदि ब्रह्म का स्वरूप नहीं है। तो इसका उत्तर है कि मायोपाधि से सभी सम्भव है, उपासक के ऊपर अनुग्रह करने के लिये माया से ब्रह्म कोई भी रूप धारण कर सकते हैं। कहा भी है कि चिन्मय, अद्वितीय, निरवयव एवं शरीररहित ब्रह्म उपासकों के कार्यार्थ रूप की कल्पना करते हैं—

'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।

उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप कल्पना ॥' (रा०पू० उपनि० १।७)

सूर्य का प्रकाश अंगुलि आदि उपाधि में भिन्न सा भासता है और आकाश कमण्डलु, घटादि उपाधियों में विभिन्न आकार का प्रतीत होता है, वस्तुतः सूर्य-प्रकाश और आकाश एक ही है। इसी प्रकार ब्रह्म भी ध्यान रूप उपाधि में भिन्न सा भासता है, वस्तुतः वह एक रूप ही है। क्यों कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति बार-बार अभेद का उपदेश करती है—

'प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्' (ब्र०सू०३।२।२५)

अतः सगुण, सोपाधिक ब्रह्म उपासना के लिये और निरुपाधिक ब्रह्म ज्ञान के लिये है।

इस विवेचन का तात्पर्य यह भी नहीं है कि निर्गुण ब्रह्म की उपासना नहीं हो सकती और सगुण ब्रह्म का उपयोग ज्ञान में नहीं है। वस्तुतः सगुण का समन्वय निर्गुण ब्रह्म में है। क्योंकि निर्गुण ब्रह्म ही सर्वाधिष्ठान परम तत्त्व है, उसके ज्ञान से ही अविद्या और उसके कार्य जगत्प्रपञ्च से मुक्ति मिलती है। इसलिये वेदान्त का परम तात्पर्य निर्गुण ब्रह्म में ही है। सगुण वाक्यों का वाच्यार्थ सगुण ब्रह्म में है, किन्तु उनका मुख्य तात्पर्य निर्गुण ब्रह्म में ही है। जिस प्रकार यज्ञादि कर्मों का गौण तात्पर्य स्वर्गादि में है और मुख्य तात्पर्य विविदिषा उत्पन्न कर ब्रह्म ज्ञान में। उसी प्रकार सगुण वाक्यों का तात्पर्य सगुण ब्रह्मोपासना में गौण और अन्तःकरण शुद्धि के द्वारा निर्गुण ब्रह्म में मुख्य है।

निर्गुण, निरुपाधिक ब्रह्म ही माया एवं मायाकल्पित उपाधि से विशिष्ट होकर सगुण, सोपाधिक होता है। ब्रह्म सत्य और माया असत्य है। सत्य और असत्य दो रूपों से मिल कर सगुण ब्रह्म की स्थिति है। इसलिये सगुण ब्रह्म सत्यासत्य स्वरूप है। गुण माया के अंश हैं और सच्चित् अंश ब्रह्म के हैं। रक्त पुष्प की लालिमा से श्वेत स्फटिक लाल प्रतीत होता है, किन्तु वह लाल हो नहीं जाता। इसी प्रकार माया के गुणों से ब्रह्म सगुण प्रतीत होता है, किन्तु वह रहता निर्गुण ही है। क्यों कि माया के गुण ब्रह्म को स्पर्श नहीं कर सकते। जिस प्रकार आकाश एक और अखण्ड है, उसमें किसी भी रूप की कल्पना नहीं की

जा सकती। किन्तु जल, मठ एवं घट उपाधि से वह 'जलकाश' 'मठाकाश' और 'घटाकाश' कहा जाता है। उपाधि के संसर्ग से आकाश में न तो कुछ परिवर्तन होता है, न विकार उत्पन्न होता है और न आकाश खण्डित ही होता है। वह सदैव एक रूप बना रहता है। इसी प्रकार निरुपाधिक, निर्गुण, सर्वाधिष्ठान एवं प्रत्यगभिन्न चैतन्य ब्रह्म सदैव एक रूप रहता है। मायोपाधि से ही 'ईश्वर', हिरण्यगर्भ' आदि नाम, रूप और गुणों की कल्पना कर ली जाती है। किन्तु उपाधि के गुणों से ब्रह्म का कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। चुम्बक के सानिध्य से लोह में गति उत्पन्न होती है, गति का कर्ता चुम्बक नहीं होता, किन्तु लोग कहते है कि 'चुम्बक ही गति का कर्ता है।' इसी प्रकार माया की निकटता से ब्रह्म भी 'कर्ता', 'सर्वज्ञ' आदि कहा जाता है। वस्तुतः ब्रह्म निर्धर्मक और एक है। फिर भी गुणोपासक को उपासना के अनुसार गुणों का फल मिलता है। गुणविशिष्ट ब्रह्मोपासक को गुणानुसार फल एवं अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है और निर्गुण ब्रह्मोपासक को ब्रह्मज्ञान मिलता है। इस प्रकार सगुण ब्रह्मोपासना का गौण तात्पर्य ऐश्वर्य आदि गुणों की प्राप्ति है और मुख्य तात्पर्य निर्गुण ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति है।

इस प्रकार निर्गुण, निरुपाधिक ब्रह्म एवं सगुण, सोपाधिक ब्रह्म की संगति है। माया के कारण ही दो भेद हैं, वस्तुतः निर्गुण, निरुपाधिक, एकमेवाद्वितीय ब्रह्म है। जीव भी ब्रह्म ही है, अज्ञानोपाधि से पृथक् भासित होता है। अज्ञानावरण का निवारण ब्रह्मज्ञान से होने पर जीवत्व का भ्रम दूर भाग जाता है। तब जीव जन्म-मरण, दुःखादि से रहित पूर्ण ब्रह्म ही हो जाता है। अतः सगुण ब्रह्म एवं निर्गुण ब्रह्म का ऐक्य है।

३

जीव खण्ड

इस खण्ड के कुछ आधार वाक्य

'नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाऽप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्य-व्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थमन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ।'

—माण्डूक्य उपनिषद् ७

'बालाग्र शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।।'

—श्वेताश्वतर उपनिषद् ५.९

'न स्त्री पुमान्वा षण्ढो वा जीव : सर्वगतोऽव्ययः । एक एवाद्वितीयोऽयमाकाशवदलेपकः ।। नित्यो ज्ञानमयः शुद्धः स कथं शोकमर्हति ।'

—अध्यात्म रामायण कि० ३. १६

'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेश : प्राज्ञवत्'

—ब्रह्मसूत्र २.३.२९

'अङ्गुष्ठ मात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहङ्कार-समन्वितो यः ।

बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्ट :।।'

—श्वेताश्वतर ५.८

'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्त : प्रश्न-निरूपणाभ्याम्''

—ब्र० सू० ३.१.१

जीव का सोपाधिक स्वरूप

'ब्रह्म खण्ड' में ब्रह्म के लक्षण, निरुपाधिक एवं सोपाधिक स्वरूप, जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण, सृष्टि-क्रम और लीलावत् स्वाभाविक सृष्टि का निरूपण किया गया। अब प्रस्तुत खण्ड में जीव के सम्बन्ध में कुछ विचार किया जा रहा है। **'तत्त्वमसि'** (छा० ६।८।७) वह तू ही है, इस श्रुति में 'तत्' पद का वाच्यर्थ सोपाधिक ब्रह्म तथा लक्ष्यार्थ निरुपाधिक ब्रह्म का किञ्चित् परिचय दिया जा चुका है। अब 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ अन्तः करणोपाधिक जीव पर एक विहङ्गम दृष्टि डालेंगे। अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य का नाम है 'जीव'। अन्तःकरण, अन्तःकरण का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य ब्रह्म और अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य ब्रह्म, इन तीनों का सम्मिलित रूप जीव है। जिस प्रकार घट के भीतर आकाश, उसमें जल और जल में प्रतिबिम्बित आकाश को 'जलाकाश' कहा जाता है। उसी प्रकार आत्मा, आत्मा में बुद्धि और बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य आत्मा को 'जीव' कहते हैं। व्याकरण के अनुसार भी **'जीव प्राणधारणे'** धातु से 'जीव' शब्द निष्पन्न होने के कारण इसका अर्थ होता है— 'प्राण-धारक चैतन्य'। प्राण शब्द लिंग शरीर का उपलक्षक है।

जीव के कर्मानुसार फलोपभोग के लिए स्थूल शरीर मिलता

है। स्थूल देह पञ्चीकृत पञ्च महाभूतों से निष्पन्न होता है। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, अन्तःकरण एवं प्राण के रहने का स्थान स्थूल शरीर है। श्रोत्र, नेत्र, रसना, त्वक् एवं नासिका, यह स्थान हैं ज्ञानेन्द्रियों के रहने के लिए। श्रोत्र में श्रोत्रेन्द्रिय रहती है, नेत्र में नेत्रेन्द्रिय, रसना में रसना, त्वक् में त्वक् और नासिका में घ्राणेन्द्रिय रहती है। श्रोत्र स्थान होते हुये भी यदि श्रोत्रेन्द्रिय में विकार उत्पन्न हो जाता है तो शब्द-श्रवण नहीं होता। इसी प्रकार इन्द्रिय स्वस्थ होने पर भी यदि स्थान में कुछ विकार उत्पन्न हो जाता है तो भी विषय-ज्ञान नहीं होता। इससे निश्चय होता है कि इन्द्रिय भिन्न है और स्थान भिन्न है। श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द-ज्ञान होता है, नेत्र से रूप दर्शन, रसना से कटु, मधुर, तिक्त आदि रस का ज्ञान, त्वक् से कोमल-कठोर-स्पर्श का ज्ञान एवं नासिका से गन्ध का ज्ञान होता है। सब पदार्थों का ज्ञान पञ्चेन्द्रियों से ही होता है।

पञ्च कर्मेन्द्रियों से सभी प्रकार के कर्म होते हैं। हाथ से आदान-प्रदान, पैर से गमनागमन, मुख से भोजन तथा शब्दोच्चारण, गुदा से मल त्याग एवं शिश्न से मूत्र त्याग तथा आनन्द कर्म होते हैं। इसी प्रकार प्राण, अपान, व्यान, समान एवं उदान के भी कार्य विभक्त हैं। प्राणन क्रिया प्राण से, आकर्षण अपान से, व्यान से बलशाली कार्य, समान शरीर में समान रूप से रस का कार्य करता है और उदान उत्क्रान्ति कार्य में नियुक्त है। अन्तःकरण से सभी विषयों का ज्ञान होता है। ज्ञातृत्व, चित्त, मन, बुद्धि तथा अहङ्कार इन पांच भेदों में अन्तःकरण विभक्त है। अन्तःकरण के वाह्य उपकरण ज्ञानेन्द्रियां हैं। ज्ञानेन्द्रियों में जब अन्तःकरण का प्रवेश होता है, तभी विषय का ज्ञान होता है। यदि अन्तःकरण अन्यत्र हो तो सम्मुख स्थित विषय पदार्थ का ज्ञान न हो सकेगा। इसीलिये श्रुति ने कहा है— **'मनसा ह्येव पश्यति मनसाश्रृणोति'** (बृ० १।५।३) मन से ही देखता है, मन से सुनता है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये पाँच विषय पदार्थ हैं। इनको श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना तथा नासिका इन्द्रियां ग्रहण करती हैं। शब्दादि विषय क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल एवं भूमि के तमो अंश से उत्पन्न हुये हैं। श्रोत्रादि इन्द्रियां भी क्रमशः आकाश, वायु, तेज,

जल और भूमि के सात्विक अंश से उत्पन्न हुई हैं। इसलिये शब्द का ग्राहक श्रोत्र है, क्यों कि दोनों ही आकाश से उत्पन्न हुये हैं, दोनों में सजातीय सम्बन्ध है। इसी प्रकार सभी इन्द्रियां अपने सजातीय विषय को ही ग्रहण करती हैं, विजातीय को नहीं। सत्वगुण श्रेष्ठ है, इसी कारण सत्वगुण से निष्पन्न इन्द्रियों की श्रेष्ठता है, वह भोक्ता है। तमोगुण निकृष्ट है, इसी कारण उससे निष्पन्न विषय पदार्थ भी निकृष्ट और भोग्य हैं। अतःकरण भी पञ्च महाभूतों के सत्वांश से निर्मित है, इस लिए ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा विषयों तक जाकर उनका ज्ञान करता है। आकाश के सत्वांश से ज्ञातृत्व धर्म का निर्माण हुआ है, वायु से मन का, तेज से बुद्धि का, जल से चित्त का और भूमि के सत्वांश से अहंकार निष्पन्न हुआ है। सजातीय सम्बन्ध के कारण शब्द का ज्ञान ज्ञातृत्व से, स्पर्श का ज्ञान मन से, रूप का ज्ञान बुद्धि से, रस का ज्ञान चित्त से और गन्ध का ज्ञान अहं-कार से होता है।

स्थूल पञ्च महाभूतों से स्थूल शरीर निष्पन्न हुआ है। रोम, त्वचा, नस, मांस और अस्थि ये पांचों भूमि के अंश हैं। लार, रुधिर, वसा, मूत्र तथा वीर्य ये पांचों जल के अंश हैं। निद्रा, तृषा, आलस्य, क्षुधा और मैथुन ये पांच अग्नि से निर्मित हुये हैं। फैलना, दौड़ना, रुकना, चलना तथा समेटना गुण वायु के अंश हैं एवं क्रोध, प्रलोभन, भय, शोक और काम ये पांच अंश आकाश के हैं। ये पच्चीस गुण स्थूल शरीर के हैं। शरीर में ही षट् विकार हैं—उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, युवा, जरा और मरण। पुरुष, स्त्री एवं नपुंसक ये तीन भेद शरीर के ही हैं। वर्ण, जाति, नाम रूप तथा सम्बन्धी भी स्थूल शरीर के ही हैं। इस शरीर में 'मैं' का अभिमान करने वाला चैतन्य ब्रह्म ही 'विश्व' कहा जाता है। जाग्रदावस्था में इसकी अनुभूति होती है।

स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म अपञ्चीकृत पंचमहाभूतों से निर्मित है। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण एवं अन्तःकरण पंचक इनका सम्मिलित रूप ही सूक्ष्म देह है। मिट्टी के पिण्ड के समान इसका सम्मिलित रूप है। स्थूल देह में स्थूल पदार्थों का ग्रहण होता है और सूक्ष्म देह में सूक्ष्म पदार्थों का भोग। वाह्य पदार्थों के संस्कार

सूक्ष्म देह में बन जाते हैं। चित्रित वस्त्र के समान अन्तःकरण में वाह्य विषयों के शुभाशुभ तीव्र अनुभव के संस्कार चित्रित हो जाते हैं। अविद्या, कामना तथा कर्म के कारण वाह्य साधन के बिना ही स्थूल देह के समान सूक्ष्म देह में भोगों की प्रतीति होती है। जन्म-जमान्तरों, कल्प-कल्पान्तरों के शुभाशुभ संस्कार का आश्रय यही सूक्ष्म देह है। शुभाशुभ संस्कारों के कारण शुभाशुभ योनियों में सुख-दुःख भोगों के लिये जन्म ग्रहण करना पड़ता है। जब तक सूक्ष्म देह शुद्ध नहीं होता, तब तक जन्म-मरण का प्रवाह भी निवृत्त नहीं हो सकता।

सूक्ष्म देह में भोग-प्रतीति की मुख्य अवस्था स्वप्न है। स्वप्न में जीव पर्वत, नद, नदी, सागर, वृक्ष, वनस्पति, मनोहर उद्यान, मार्ग और सुन्दर प्रासाद को देखता है। आकाश, अग्नि, हस्ति, अश्वादि वाहन, शत्रु-मित्र एवं नाना प्रकार की सृष्टि का अनुभव करता है। कभी सिंह और शत्रु के भय से भयभीत होकर चीत्कार करता है, कभी मित्र, स्त्री, पुत्रादि के आलिंगन से हर्षित होता है और कभी मृत पुरुष को देखकर चकित हो जाता है। क्षण भर में ही एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करता है, कभी नदी में जल क्रीड़ा करता है और कभी सुस्वादु भोजन करता है। स्वप्न-सृष्टि का भी जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। कर्मानुसार फलोपभोग ही सूक्ष्म देह का कार्य है। संस्कारानुसार अन्तःकरण में चित्रित पट के समान दृश्य परिवर्तित होते रहते हैं और जीव को सुख-दुःख देकर विलीन हो जाते हैं। सूक्ष्म देहाभिमानी जीव की संज्ञा 'तैजस' होती है।

सूक्ष्म देह के भीतर कारण शरीर है। इसमें अन्यथा ग्रहण, कामना एवं स्थूल-सूक्ष्म भोग नहीं होते। स्थूल देह तथा स्थूल भोग्य पदार्थ सूक्ष्म देह में लीन होते हैं, सूक्ष्म देह में मन का स्फुरण रूप द्वैतसमूह दिखायी पड़ता है। किन्तु कारण देह में मन का स्फुरण भी समाप्त हो जाता है। सूक्ष्म देह का विलय कारण देह में होता है। कारण देह के प्रतीति की मुख्य अवस्था सुषुप्ति है। जिस प्रकार रात्रि के घनान्धकार से सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच आच्छादित हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानावरण से जाग्रत् एवं स्वप्न का प्रपंच आच्छादित होता है। अथवा जैसे बीज में अंकुर, शाखा, पल्लव आदि लीन रहते हैं और बीज से ही उनका प्राकट्य होता है, वैसे

ही कारण स्वरूपा अविद्या में सूक्ष्म तथा स्थूल देह लीन रहते हैं और उसी से पुनः प्रकट होते हैं। सुषुप्ति में जाग्रत् तथा स्वप्न के श्रम से मन एवं इन्द्रियों को विश्राम मिलता है। इस अवस्था में किसी प्रकार का श्रम या दुःख नहीं होता, आनन्दमय स्थिति होती है। सुप्तावस्था का अनुभव जाग्रत् में कहते हैं 'बड़े सुख से सोये, कुछ भी न जाना'। सुख और अज्ञान की प्रतीति ही कारण देह का अनुभव है। सुप्तावस्था से उत्थान होने पर मन तथा शरीर में नवचेतना एवं स्वस्थता का अनुभव होता है। इस आनन्दमय एवं बीजस्वरूप कारण देहाभिमानी चैतन्य का नाम 'प्राज्ञ' है।

स्थूल देह का लय सूक्ष्म में और सूक्ष्म का लय कारण देह में होता है, इसी के साथ इनके अभिमानी चेतन विश्व का लय तैजस में और तैजस का प्राज्ञ में लय होता है। इन तीनों देहों की प्रतीति की अवस्थाओं का कारण मन है। मन जब नेत्र में विचरण करता है, तब जाग्रदावस्था होती है, कण्ठ में जब मन जाता है तब स्वप्नावस्था होती है और जब हृदय में मन केन्द्रित रहता है तब सुप्तावस्था होती है। बाल्य, युवा एवं वृद्धावस्था शरीर की हैं और जाग्रत्, स्वप्न तथा सुप्तावस्था मन की हैं। बाल्य एवं जाग्रदादि अवस्थायें परिवर्तन शील हैं, किन्तु इन अवस्थाओं का दृष्टा,आत्मा का एक रस अपरिवर्तनीय है। जो आत्मा बाल्यावस्था में था, वही युवावस्था में रहा और वही वृद्धावस्था में भी विद्यमान रहता है। क्योंकि बाल्यकाल का अध्ययन, क्रीडन और वृद्धजनों का स्नेह सदा स्मरण रहता है। युवावस्था के पराक्रमी कर्म, स्त्री-रमण एवं सन्तान का लालन, पालन भी स्मरण है। इसी प्रकार स्वप्नावस्थादि के विचित्र अनुभव भी स्मरण रहते हैं। इससे निश्चय होता है कि इन सबका अनुभवकर्ता कोई एक चेतन तत्व है, जो सभी अवस्थाओं में एक रस रहता है। वही आत्मा है।

आत्मा देश, काल तथा सभी अवस्थाओं से अपरिच्छिन्न और एक है। एक महाकाश ही मठ, घट, जल की उपाधि से मठाकाश, घटाकाश और जलाकाश कहा जाता है। किन्तु उपाधियों के कारण वह विभक्त नहीं हो जाता, सदैव एक और अखण्ड रूप से विद्यमान रहता है। वैसे ही चेतन आत्मा भी स्थूल देहोपाधि से विश्व, सूक्ष्मदेहोपाधि से तैजस और कारणोपाधि

से प्राज्ञ कहा जाता है, किन्तु वह रहता सदैव एक और अखण्ड ही है। इसी प्रकार मायोपाधि से ईश्वर भी वही कहा जाता है, रजोगुण से हिरण्यगर्भ और तमोगुणोपाधि से विष्णु संज्ञक कहलाता है, किन्तु उपाधियों से किसी भी प्रकार उसमें परिच्छिन्नता नहीं आती, सदैव एक रूप ही रहता है। किन्तु जब तक अज्ञानावरण दूर नहीं होता, तब तक अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप का दर्शन नहीं होता। उस समय तक जीवत्व का भी निवारण नहीं हो सकता।

व्यष्टि में विश्व तथा समष्टि में विष्णु एक हैं, इसी प्रकार तैजस तथा हिरण्यगर्भ एक हैं और व्यष्टि में प्राज्ञ तथा समष्टि में ईश्वर एक ही हैं। सुप्तावस्था में प्राज्ञ संज्ञक जीव ईश्वर में लीन होता है और वहीं से पुनः आता है। सूत्रकार ने कहा है—

'अतः प्रबोधोऽस्मात्' (ब्र० सू० ३।२।८)

—सुषुप्ति स्थान ईश्वर ही है। इसी कारण **'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे'** (छा० ६।१०।२)–सत् से आकर वे नहीं जानते कि हम सत् से आये हैं, यह श्रुति ईश्वर से जीव के प्रतिदिन प्रबोध का उपदेश करती है। तात्पर्य सुषुप्ति में जीव तथा ईश्वर का ऐक्य होता है। पुनः ईश्वर से जाग्रदावस्था में लौट आते हैं। यहां शंका होती है कि 'जीव जब ईश्वर के साथ तदाकार हो गया। जलराशि में जलविन्दु मिलकर जलराशि ही हो जाता है, फिर वही जलविन्दु जलराशि से नहीं निकल सकता, वैसे ही जीव भी ईश्वर से नहीं निकल सकता।' इसका समाधान है—

'स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्द विधिभ्यः' (ब्र० सू० ३।२।९)

—जो जीव सोता है, वही जागता है। क्योंकि कर्म, अनु, स्मृति, शब्द और विधि ये कारण हैं। आधा कार्य करके सोया हुआ पुरुष पुनः दूसरे दिन जाग कर उसी अवशिष्ट कर्म को करता है, यह 'कर्म' उसी पुरुष में कारण है। 'जिस घट को मैंने कल देखा था, उसी का स्पर्श आज करता हूँ, यह प्रत्यभिज्ञा 'अनु' है। अनुभव के पश्चात् होनेवाला संस्कारमात्र-जन्य ज्ञान 'स्मरण' है, 'यह देवदत्त वही है' के समान। **'पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव'** (बृ० ४।३।१६)—प्रतिनियत गमन जैसे

होता है, वैसे प्रतियोनि जीव जागरण के लिये आता है, आदि 'शब्द' हैं। कर्मविधि और विद्याविधि 'विधि' शब्द का अर्थ है। यदि वही पुरुष सो कर न उठे, तो कालान्तर में कर्म और विद्या का फल किसे मिलेगा ? यदि ऐसा न हो तो अकृत की हानि होगी। इसलिए जो पुरुष सोता है, वही उठता है। जलराशि में जलविन्दु का दृष्टान्त विषम है, क्योंकि कर्म तथा अविद्या से वेष्टित चिद्रूप जीव ईश्वर में लीन होता है और जल विन्दु किसी से वेष्टित जलराशि में नहीं लीन होता। यदि घट से वेष्टित जल समुद्र में डाला जाय तो निकालने पर वही जल समुद्र से निकलेगा। इसी प्रकार सूक्ष्म एवं स्थूल उपाधि से युक्त आत्मा ही सुषुप्ति में ईश्वर से तदाकार होता है। सुषुप्ति में उपाधि बीज रूप से शेष रहती है और जाग्रत् में वही अङ्कुर रूप से प्रस्फुटित हो जाती है।

तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त चौथी मूर्छावस्था भी है—

'मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात्' (ब्र०सू० ३।२।१०)

—मूर्च्छा में जाग्रदादि के समान लक्षण नहीं मिलते। जाग्रत् पुरुष का देह खड़ा रहता है, किन्तु मूर्च्छित पुरुष का देह गिर पड़ता है। स्वप्न भी नहीं देखता, क्योंकि संज्ञाशून्य सा प्रतीत होता है। मृत भी नहीं होता, क्योंकि उसमें प्राण और उष्णता रहती है। सुप्त भी नहीं होता, क्योंकि मूर्च्छित व्यक्ति कुछ काल तक उच्छ्वास नहीं लेता, शरीर कांपता है, मुख भयानक और नेत्र विशेष रूप से विस्फारित होते हैं। इससे निश्चय होता है कि मूर्च्छावस्था इनसे भिन्न है। मूर्च्छा अर्द्धसम्पत्ति है। निःसंज्ञत्व आदि सुषुप्त के अर्द्ध धर्मों का साम्य होने से सुषुप्त के आधे धर्ममूर्च्छा में रहते हैं और शरीर कम्पादि धर्मों के साथ साम्य होने से आधे धर्म मरण के रहते हैं। यही मूर्च्छावस्था है। जब जीव के कर्म शेष रहते हैं तो वाणी तथा मन लौट आते हैं और जब कर्म अशेष हो जाते हैं तब प्राण तथा उष्णता चली जाती है।

जब प्राण तथा उष्णता नहीं रहती, वह जीव की पञ्चम मरणावस्था है। जब वर्तमान देह के समस्त कर्म समाप्त हो जाते हैं, तब स्थूल देह का विसर्जन ही मरण है। मरणकाल में कर्म-ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार का लय मन में होता है, मन का व्यापार प्राण में विलीन होता है और प्राण

के व्यापार का विलय अज्ञान, कर्म तथा वासनोपाधिक जीव में होता है। जीव के देहारम्भक सूक्ष्म पञ्चमहाभूतों से उपहित जीव में प्राण वृत्ति का लय होता है। निमित्त रूप से जीव के कर्म आश्रय हैं और देह के उपादान रूप से भूत आश्रय हैं। जीव इन सब सामग्री के साथ परलोक गमन करता है। शुभाशुभ कर्मानुसार उच्च-नीच लोकों में देव, दानव, मानव, कीट, पतंगादि योनियों में पुनः जन्म होता है। जब तक अज्ञान का निवारण नहीं होता, तब तक जन्म-मरण का निरन्तर चक्र चलता रहता है।

इस प्रकार अज्ञानोपाधिक जीव शरीरत्रय में आत्माभिमान कर कामना, कर्म तथा फलोपभोग के लिये अनन्त काल से जन्म-मरण के चक्र में पड़ा भ्रमित हो रहा है। अपने वास्तविक स्वरूप की ओर उसका ध्यान ही नहीं है। शरीर को ही आत्मा मानकर उसी के सुख-सम्पादन में अहोरात्रि निमग्न रहता है। किसी पुण्य-परिपाक से जब विवेकादि का उदय होता है, तब स्वरूप का ज्ञान होता है। स्वरूप-ज्ञान से मोक्ष होता है। अन्यथा जड़-चेतन के 'अन्योन्याध्यास' से मरणधर्मा बना रहता है।

स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर जड़ हैं और आत्मा चेतन। चेतन आत्मा से ही शरीर में गति होती है और ज्ञानेन्द्रिय एवं अंतःकरण से सभी पदार्थों का ज्ञान होता है। जब चेतन आत्मा शरीर से निकल जाता है, तब शरीर निश्चेष्ट हो जाता है। इस प्रकार शरीर आत्मा विहीन होने पर काष्ठवत् जड़ होता है। किन्तु आत्मा रहने पर शरीर से सभी प्रकार की क्रिया और अनुभूति होती है। यद्यपि चेतन आत्मा और जड़ शरीर का वास्तविक संयोग नहीं होता, तथापि चुम्बक और लौह के समान आध्यासिक सम्बन्ध रहता है। इस अन्योन्याध्यास सम्बन्ध से ही चेतन आत्मा में जड़ की प्रतीति और जड़ शरीर में चेतन की अनुभूति होती है। यही जड़–चेतन की ग्रन्थि है। यद्यपि खरगोश के सींग के समान यह ग्रन्थि मिथ्या है, तथापि अविवेकी पुरुष के लिए वज्र के समान दृढ़ होती है। जब तक इस जड़ चेतन ग्रन्थि का विवेक-द्वारा निवारण नहीं होता, तब तक अज्ञान, कामना, फलोपभोग और जन्म मरण का अनादि प्रवाह भी निवृत्त नहीं होता। यह जड़-चेतन का सम्मिलित रूप ही 'सोपाधिक जीव है'।

जीव का निरुपाधिक स्वरूप

'त्वम्' पद के वाच्यार्थ औपाधिक जीव का परिचय पीछे दिया गया। अब 'त्वम्' पद के लक्ष्यार्थ निरुपाधिक जीव के सम्बन्ध में कुछ विचार करेंगे। सर्वव्यापी, सर्वाधिष्ठान, चेतन, ब्रह्म ही कारणोपाधि से 'ईश्वर' और कार्योपाधि से 'जीव' कहा जाता है। ब्रह्म का उपाधि से सम्बन्ध काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। इसलिये जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य है। 'ब्रह्म नित्य, जन्म-मरण से रहित है, किन्तु जीव के जन्म-मरण देखे जाते हैं, इसलिये जीव अनित्य है। जात कर्मादि संस्कारों का विधान भी शास्त्रों में है, अतः जीव का जन्म-मरण होता है। इसलिये जीव-ब्रह्म का ऐक्य भी नहीं है।' इस शङ्का का समाधान सूत्रकार करते हैं—

'चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात्'

(ब्र०सू० २।३।१६)

—जीव के जन्म-मरण का यह लौकिक प्रवाद स्थावर-जङ्गम देह में मुख्य है, जीव में गौण है। क्योंकि जन्म-मरण काव्यपदेश देह की उत्पत्ति और नाश के अन्वय तथा व्यतिरेक का अनुसरण करता है। शरीर के सम्बन्ध के बिना जीव का जन्म-मरण कोई नहीं देखता, अतः शरीर के आविर्भाव और तिरोभाव होने

पर जन्म-मरण शब्द का व्यवहार होता है। श्रुति भी है—**'सवा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः'** (बृ० ४।३।८)—वही यह पुरुष शरीर में आत्मभाव पाने से जन्म लेता है और शरीर से निकल जाने से मरता है। शरीरादि उपाधि के सम्बन्ध से जीव में जन्म-मरण गौण है। जात कर्मादि का विधान औपाधिक जन्मादि विषयक ही हैं। क्यों कि वस्तुतः आत्मा न उत्पन्न होता है और न मरता है—**'न जायते म्रियते वा विपश्चित्'** (क० १।२।१८)।

इस पर कहा जाता है कि 'जैसे अग्नि से छोटी चिनगारियां निकलती हैं, वैसे ही इस परमात्मा से सब प्राण निकलते हैं— **'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः'** (बृ० २।१।२०)। **'सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति'** (बृ० २।१।२०)—ये सब आत्मायें निकलती हैं। इस प्रकार प्रपञ्च की उत्पत्ति के समय जीव की भी उत्पत्ति कहीगयी है। अतः जीव की उत्पत्ति होती है और जिसकी उत्पत्ति होती है उसका मरण भी अवश्यम्भावी है।'

इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—

'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' (ब्र० सू० २।३।१७)

—जीव उत्पन्न नहीं होता, क्यों कि उत्पत्ति-प्रकरण में जीवोत्पत्ति नहीं सुनी गयी है और अज, नित्य, महान् आदिक श्रुतियों से जीव को नित्य कहा गया है। जिस प्रकार ब्रह्म नित्य, अज, अविकारी और अविकृत स्वरूप से कहा गया है, उसी प्रकार जीव का भी श्रुतियों ने वर्णन किया है। अतः जीव की उत्पत्ति युक्त नहीं है। कुछ श्रुतियां देखिये—

'सवा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयोब्रह्म' (बृ० ४।४।२५)

—वह यह महान्, अज आत्मा है, परिणाम रहित, अमर, अमृत और अभय ब्रह्म है।

'अजोनित्यःशाश्वतोऽयं पुराणः' (क० १।२।१८)

—यह जन्मरहित, नित्य, शाश्वत, और पुराण है।

'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (क० १।२।१८)

—मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है और न मरता है।

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २.६.१)

—उसको उत्पन्न करके उसमें प्रवेश किया।

'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' (बृ० १।४।७)

—वह इसमें नखाग्र पर्यन्त प्रविष्ट है।

'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७)—वह तू है।

'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०)—मैं ब्रह्म हूं।

इसी प्रकार अन्य भी श्रुतियां देखी जा सकती हैं। जीवका नित्यत्व और एकत्व प्रतिपादन करती हुईं जीव की उत्पत्ति का निषेध करती हैं। यदि यह कहा जाय कि 'जीवात्मा विभक्त होने से विकार है और विकार होने से उत्पन्न होता है'। तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि **'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'** (श्वे० ६।११) —एक देव सब भूतों में गूढ, सर्वव्यापी और सब भूतों का अन्तरात्मा है। जिस प्रकार आकाश का विभाग घटादि के सम्बन्ध से भासता है, वैसे ही बुद्धि आदि उपाधियों के सम्बन्ध से जीव विभक्त-सा भासित होता है। अतः जीव अविभक्त, अविकारी और अनुत्पन्न है।

स्त्री-परतन्त्र होने पर कामी पुरुष को जैसे 'स्त्रीमय' कहा जाता है, वैसे ही जीव के स्वरूप का ज्ञान न होने से जीव बुद्धि आदि के परतन्त्र है, इसी से 'विज्ञानमय' 'मनोमय' आदि का व्यवहार होता है। इस बुद्धि आदि उपाधि के कारण ही कहीं श्रुति में जीव की उत्पत्ति कही गयी है, वह औपाधिक होने स गौण है, मुख्य नहीं। तात्पर्य बुद्धि, देहादि का ही जन्म-मरण होता है, आत्मा का नहीं। घट और आकाश के सम्बन्ध के समान बुद्धि आदि का आत्मा से सम्बन्ध होने के कारण जैसे घटाकाश उत्पन्न हुआ कहा जाता है, वैसे ही जीव उत्पन्न हुआ कहा जाता है। वस्तुतः जीव उत्पन्न नहीं होता।

आत्मा नित्य चैतन्य स्वरूप है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति नही होती— **'ज्ञोऽत एव'** (ब्र०सू० २।३।१८)। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि आत्मा चैतन्य स्वरूप नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति, मूर्च्छा एवं समाधि में चेतनता की प्रतीति नहीं होती। जागरण में आत्मा और मन का संयोग होने पर चैतन्य नामक गुण उत्पन्न होता है। किन्तु ऐसा मानना युक्ति कर नहीं है, क्योंकि ब्रह्म का जीव रूप से प्रवेश श्रुति में कहा गया है और ब्रह्म

चैतन्य स्वरूप है। **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** (बृ० ३।९।२८)–ब्रह्म विज्ञान और आनन्द स्वरूप है, **'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै० २।१।१)–ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है, आदि श्रुतियां ब्रह्म को स्वयं ज्योतिस्वरूप सिद्ध करती हैं। वही परब्रह्म उपाधि के सम्बन्ध से जीवभाव से रहता है, इसलिये अग्नि की उष्णता और प्रकाश के समान जीव नित्य चैतन्य स्वरूप है। 'सुषुप्ति आदि में जीव कुछ नहीं देखता' ऐसा जो कहा जाता है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि देखता हुआ ही उस समय कुछ नहीं देखता—**'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति'** (बृ० ४।३।२३)। अपना स्वरूप ज्ञान है, विशेष ज्ञान नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च का लोप हो जाता है। दृष्टा की दृष्टि का विनाश नहीं होता, अविनाशी होने के कारण और उस समय उससे अन्य विभक्त दूसरा नहीं है, जिसको वह देखे—**'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्'** (बृ० ४।३।२३)। तात्पर्य विषय के अभाव से चेतनता का अभाव है, न कि चैतन्य के अभाव से। जिस प्रकार दीपक प्रज्वलित होता है, उसके सम्मुख पुरुष आदि कोई पदार्थ आता है तो उसको प्रकाशित कर देता है और जब कोई नहीं होता तब भी स्वयं प्रकाशित होता रहता है। वैसे ही आत्मा के सम्मुख कोई विषय हो तो उसे प्रकाशित करता है और न हो तब भी स्वयं प्रकाशित होता रहता है। निरवयव आत्मा का मन के साथ संयोग न होने से उसमें अनित्य ज्ञान रूप गुण नहीं है। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, इसलिये नित्य चैतन्य है।

आत्मा जन्म-मरण रहित और नित्य चैतन्य स्वरूप है, यह निश्चय हो जाने पर भी आत्मा के परिमाण के सम्बन्ध में संशय होता है कि 'आत्मा अणु है, मध्यम है या विभु है, अणु एवं मध्यम वादियों के मत में जीव अल्पज्ञ तथा अनेक हैं और विभु में एक तथा सर्वज्ञ है। जीव मध्यम परिमाण अर्थात् शरीर के बराबर और सावयव है, ऐसी मान्यता आर्हतमतावलम्बियों की है। शरीर परिमाण और सावयव मानने से घटादि के समान जीव के अनित्यत्व का प्रसंग आता है और शरीरों का परिमाण कोई निश्चित न होने से मनुष्य के परिमाण का होकर किसी कर्मविपाक से गज शरीर के प्राप्त होने पर हस्ति के समस्त शरीर में व्याप्त न होगा,

एक देश शरीर का निर्जीव रहेगा। इसी प्रकार हस्ति शरीर का त्याग कर किसी कर्मविपाक से पिपीलिका का शरीर मिलने पर समस्त जीव चींटी के शरीर में प्रवेश न कर पायेगा, देह के बाहर भी जीव रहेगा। यदि जीव बालक के देह परिमाण का है, तो स्थूल तरुण देह में किसी एक ही स्थान में रहेगा, ऐसी स्थिति में समस्त देह सजीव न रहेगा। इस पर आर्हत कहते हैं कि जैसे दीप जब घट में रहता है, तब उसके अवयव संकुचित रहते हैं और जब वह गृह में स्थित होता है, तब विकसित होते हैं, इसी प्रकार जीव के अवयवों का चींटी के शरीर में संकोच और हस्ति-देह में विकास होता है, अतः जीव के देह परिमाण मानने में कोई दोष नहीं। किन्तु यह युक्ति युक्त नहीं, क्योंकि विस्तृत गृहोदर व्यापी प्रभा में अल्प प्रकाश और स्वल्प गृहोदर या घट व्यापी प्रभा से अधिक प्रकाश देखने में आता है। इसी प्रकार लघु शरीर के साथ चेतन जीव का सम्बन्ध अधिक चैतन्य वाला और महत् शरीर के साथ स्वल्प चैतन्य वाला होगा, बालक को अधिक ज्ञान और तरुण या वृद्ध को स्वल्प ज्ञान होगा। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। अवयवों के वृद्धि और ह्रास होने से विकारादि दोष भी प्राप्त होते हैं, क्योंकि अवयवों की वृद्धि तथा ह्रास से सर्वदा पूर्ण और क्षीण होता हुआ जीव विकार वाला है, यह अपरिहार्य होगा और विकारवान् होने के कारण उसे अनित्य स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसा मानने पर बन्ध और मोक्ष दोनों का बाध होगा। अतः मध्यम परिमाण मानना असंगत है। आर्हतमत में वेद-प्रामाण्य की मान्यता न होने से भी जीव के शरीर परिमाण में कोई शास्त्र-प्रमाण न होने से वह स्वीकार योग्य नहीं।

अणुवादियों का कथन है कि 'शास्त्रों में "**एषोऽणुरात्मा**' (मु० ३।१।९) से जीव का अणु परिमाण स्वीकार किया है, अतः आत्मा को अणु मानना चाहिये। उनका यह भी कथन है कि जीव का उत्क्रमण, गमन तथा आगमन भी श्रुत है, अतः जीव विभु नहीं हो सकता। **'सयदस्माच्छरीरादुत्क्रामतिसहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति'** (कौ० ३।३)—वह जब इस शरीर से उत्क्रमण करता है, तब सब इन्द्रियों के साथ उत्क्रमण करता है। **'ये वैकेचास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेवतेसर्वे गच्छन्ति'** (कौ०

१।२)—और जो कोई इस लोक से प्रयाण करते हैं, वे सब चन्द्रलोक में जाते हैं। **'तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे'** (बृ०४।४।६)—उस लोक से पुनः इस लोक में कर्म के लिये आता है। इस प्रकार श्रुति में उत्क्रान्ति, गति एवं आगति का वर्णन मिलता है, यह तभी सम्भव है जब जीव अणु हो। यदि जीव विभु (व्यापक) हो, तो उसका गमनागमन असम्भव है क्योंकि व्यापक पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन नहीं कर सकता तथा जो सर्वत्र है, उसके गमनादि का अवकाश ही कहाँ ? इस लिये आत्मा अणु है। यदि यह कहा जाय कि **'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** (श्वे०३।२०) **'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः'** आदि श्रुतियां आत्मा को व्यापक घोषित कर रही हैं, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यह श्रुतियां परमात्मा की द्योतक हैं और परमात्मा के प्रकरण में पठित हैं। जीव प्रतिपादिका श्रुतियां तो आत्मा को स्पष्ट अणु कह रही हैं :— **'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश'** (मु० ३।१।९)—यह अणु आत्मा विशुद्ध चित्त से ज्ञातव्य है, जिसमें प्राण वायु पांच प्रकार से प्रविष्ट है। **'बालाग्र शतभागस्य शतधाकल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः॥'**—केश के अग्रभाग के शतभाग करके इस शतांश के पुनः शत विभाग करने पर जो भाग होता है, वह जीव है। यह श्रुतियां जीव को अणु परिमाण कह रही हैं।

'यदि यह कहा जाय कि 'जीव अणु हो तो शरीर के एक ही स्थान में होगा, सम्पूर्ण देहव्यापी ज्ञान की उपलब्धि न होगी। गङ्गा में स्नान करने वाले पुरुष की उतने शरीर में शैत्य की प्रतीति होती है जितना शरीर जल में होता है और शेष ऊपर के शरीर में सूर्य के परिताप से उष्णता का भान होता है। इसी प्रकार जिस स्थान में अणु आत्मा होगा वहां ज्ञान की उपलब्धि होगी और जहां न होगा वहां उपलब्धि भी न होगी। ऐसा अनुभव में आता है, इसलिये 'आत्मा अणु है' यह कहना अनुभव के विरुद्ध है।' तो इसका उत्तर है कि शरीर के एक स्थान पर चन्दन का लेप करने से जैसे समस्त शरीर सुखी होता है, वैसे ही शरीर के एक देश में रह कर जीव सम्पूर्ण शरीर व्याप्ति की उपलब्धि करेगा। त्वचा के सम्बन्ध से इसका सकल शरीर में रहने वाला ज्ञान विरुद्ध नहीं

होता, क्योंकि त्वचा और आत्मा का सम्बन्ध समस्त त्वचा में है और त्वचा समस्त शरीर में व्याप्त है। यदि यह कहा जाय कि 'चन्दन का लेप तो प्रत्यक्ष एक देश में है और आह्लाद समस्त शरीर में, किन्तु आत्मा का एक देश में प्रत्यक्ष नहीं और सकल देह में उपलब्धि मात्र प्रत्यक्ष है, अतः दृष्टान्त में समता नहीं है।' तो यह ठीक नहीं, क्योंकि चन्दन के समान आत्मा का भी एक देश में रहना स्वीकार किया गया है। श्रुति साक्षात् प्रमाण है—**'हृदि एष आत्मा'** (प्र० ३।६) **'सवा एष आत्माहृदि'** (छा० ८।३।३) **'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः'** (बृ०४।३।७) तात्पर्य यह आत्मा हृदय में है। प्रमाणों से चन्दन का दृष्टान्त अविरोध है। कहा जा सकता है कि 'नहीं, चन्दन सावयव है, इसलिये सूक्ष्म अवयव के फैलने से भी सकल देह में आह्लाद कर सकता है, परन्तु अणु जीव के अवयव नहीं हैं, जिनसे कि वह समस्त शरीर में फैले। अतः दृष्टान्त में वैषम्य ही है।' इसका समाधान है कि जिस प्रकार कोठरी के एक देश में स्थित प्रदीप की प्रभा कोठरी में व्याप्त होती हुई सम्पूर्ण कोठरी में कार्य करती है, वैसे ही चैतन्य रूप गुण के सम्बन्ध से जीव के अणु होने पर भी उसके सम्पूर्ण शरीर व्यापी कार्य विरुद्ध नहीं हैं।

'यदि कहा जाय कि 'गुण गुणी को त्याग कर अन्यत्र किस प्रकार रहेगा? क्योंकि पट के शुक्ल गुण की स्थिति पट को त्याग कर अन्यत्र नहीं देखी जाती। गुण होने से ही, रूप के समान ज्ञान गुणी से अतिरिक्त देश व्यापी नहीं है। प्रदीप तो द्रव्य स्वीकार किया गया है, घन अवयव वाला तेजो द्रव्य दीप है और प्रविरल अवयव वाला तेजो द्रव्य प्रभा है। प्रभा के द्रव्य होने से उसमें व्यभिचार नही है।' तो इसका उत्तर है कि जिस प्रकार पुष्प का गुण गन्ध है और वह केवल पुष्प में ही नही रहता, किन्तु पुष्पवाटिका में भ्रमणशील पुरुष को पुष्प के प्राप्त न होने पर भी, गन्ध की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार जीव के अणु होने पर भी चैतन्यगुण व्यापक रूप से अन्यत्र भी होगा। तात्पर्य यह कि गुण की स्थिति आत्मा से पृथक् भी हो सकती है, अतः आत्मा को अणु स्वीकार करने में कोई दोष नहीं।

'आत्मा को यदि विभु—महान्—स्वीकार किया जाय तो अनेक दोषों की प्राप्ति होती है। यदि आत्मा एक और व्यापक है, तो एक के सुख–दु:खादि का अनुभव अन्य को भी अवश्य होगा ही। 'अन्त:करणादि—भेद से सुखादि का भेद पृथक्-पृथक् भासित होता है' यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यदि आत्मा व्यापक है, तो अन्त:करणादि में भी तो आत्मा व्याप्त है, इसलिये देवदत्त के अन्त:करण के सुख-दु:खादि का अनुभव यज्ञदत्त के अन्त:करण में अवश्य होगा। किन्तु ऐसा नहीं होता, अत: आत्मा को व्यापक मानना असङ्गत है। एक दोष यह भी है, कि परमार्थ दृष्टि से युक्त परम पुरुष को निर्विशेष, कूटस्थ, नित्य, चैतन्य आत्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार होने के कारण उसमें अज्ञान तथा उसके कार्य का अभाव होता है। अतएव उसके द्वारा अज्ञान जनित भेद-दर्शन और तज्जनित उपदेशादि के व्यवहार नहीं बन सकते। व्यापक एक ही आत्मा को मानने वाले पुरुष को अद्वितीय आत्मस्वरूप का निश्चय होने के उपरान्त कल्पित भेद ज्ञान के रहने पर भी अपने निश्चय के अनुसार अद्वितीय आत्मज्ञान का उपदेश किसके प्रति होगा अर्थात् शास्त्रोपदेश व्यर्थ हो जाता है। इसलिये किसी भी दृष्टि से आत्मा विभु नहीं हो सकता, वह अणु और अनेक है।'

किन्तु अणुवादी का यह विस्तृत विवेचन सर्वथा अनुचित है। आकाशादि के समान आत्मा की उत्पत्तिबोधक श्रुतियां प्राप्त नहीं होतीं। परब्रह्म के प्रवेश की श्रुतियां हैं और तादात्म्य का भी उपदेश है, इससे परब्रह्म ही जीव है। यदि जीव परब्रह्म है, तो जितना बृहत् परब्रह्म है, उतना ही जीव भी है। परब्रह्म विभु है, इसलिये जीव भी विभु है, अणु नहीं। श्रुति कहती है, कि वह यह महान्, अज आत्मा है जो प्राणों में विज्ञानमय है— **'सवा एष महानज आत्मायोऽयंविज्ञानमयः प्राणेषु'** (बृ० ४।४।२२)। गीता में भी **'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः'** (२।२४) नित्य, सर्वव्यापक और स्थाणु है, ऐसे अनेक वाक्य प्राप्त होते हैं। **'जीवश्च परमात्मा च पर्यायो नात्र भेदधीः'** (अध्यात्म० अर० ४।३१) जीव और परमात्मा ये पर्याय शब्द हैं, दोनों का तात्पर्य एक ही है, इनमें भेद बुद्धि नहीं करनी चाहिये। **'तत्त्वमसि'** (छ० ६।८।७) वह तू ही है, श्रुति भी

तभी सार्थक हो सकती है, जब अभेदभावना हो और अभेद भावनानुभव होने पर ही **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृ० १।४।१०) मैं ब्रह्म ही हूं का ज्ञान होता है। ब्रह्म-ज्ञान होने पर ही **'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'** (मु० ३।२।९) ब्रह्म को जानकर ब्रह्म ही हो जाता है, इस श्रुति के अनुसार कैवल्य मोक्ष—परमानन्द—की प्राप्ति होती है। ऐसा न मानने पर मोक्ष काल्पनिक वस्तु रह जाती है।

उत्क्रमण, गति, आगति एवं अणु प्रतिपादक श्रुतियां औपाधिक आत्मा का प्रतिपादन करती हैं, वास्तविक आत्मा के गमनागमन में उनका तात्पर्य नहीं। बुद्धि के गुण इच्छा, द्वेष, सुख, दुःखादि हैं। काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, प्रज्ञा तथा भय यह सब मन ही है—**'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव'** (बृ०१.५.३)। **'मनसा ह्येव पश्यति मनसा श्रुणोति'** (बृ०१.५.३) मन से ही देखता है, मन से सुनता है। इस प्रकार अनेक श्रुतियों में अन्तःकरण को ही विभिन्न स्थलों में मन, बुद्धि, चित्तादि के नाम से कहा गया है। यही अन्तःकरण आत्मा की उपाधि है। बुद्धि के गुणों के बिना केवल आत्मा का संसारित्व नहीं है। अकर्त्ता, अभोक्ता, असंसारी, नित्यमुक्त, सत्स्वरूप, सर्वव्यापी, सर्वाधिष्ठान आत्मा का कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वरूप संसार बुद्धिरूप उपाधि के धर्म के आरोप—अध्यास—से ही है। जीव में बुद्धि के गुणों की प्रधानता से बुद्धि के परिमाण से जीव के परिमाण का व्यपदेश होता है। बुद्धि की उत्क्रान्ति, गति आदि से जीव को उत्क्रान्ति आदि का कथन किया जाता है। आत्मा के परिमाण, उत्क्रमण आदि स्वाभाविक नहीं, औपाधिक हैं।

सूत्रकार महर्षि व्यास ने **'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्'** (ब्र०सू०२।३।२९) सूत्र में यही निर्णय किया है, कि जीव में अणुत्व, उत्क्रमण, गमनागमन, सुख, दुःखादि बुद्धि के गुण हैं, अतः उसमें जो अणुत्व आदि का व्यपदेश होता है, वह स्वाभाविक नहीं है। जैसे परमात्मा की सगुणोपासना में दहर आदि उपाधियों के कारण उसमें अणुत्व आदि का व्यपदेश होता है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिये। स्फटिक-शिला के सन्निकट जपाकुसुम होने से जपाकुसुम की लालिमा स्फटिक में भासित

होती है और जपाकुसुम की हलचल भी स्फटिक में ज्ञात होती है। इसी से 'स्फटिक रक्त है', 'हलचल भी स्फटिक में है' और 'स्फटिक अणुपरिमाण है' आदि का व्यपदेश स्फटिक में होता है। वस्तुतः स्फटिक में ये सब कुछ भी नहीं, जपाकुसुम के गुणादि का ही उसमें आरोप किया जाता है, अतः उक्त कथन मिथ्या ही है। इसी प्रकार आत्मा में भी अन्तःकरण के गुणों का आरोप करके ही गमनागमनादि का कथन है, आत्मा में स्वतः ये कुछ भी नहीं है, मिथ्या ही कथन है। इस लिये वास्तव में जीव सर्वव्यापी और अव्यय है, वह स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक नहीं है, एक ही अद्वितीय, आकाश के समान निर्लेप, नित्य, ज्ञानमय और शुद्ध है, अतः वह शोचनीय कैसे हो सकता है?—**'न स्त्री पुमान्वाषण्ढो वा जीवः सर्वगतोऽव्ययः। एक एवाद्वितीयोऽयमाकाशवदलेपकः॥ नित्योज्ञानमयः शुद्धः स कथंशोकमर्हति।'** (अध्या० कि० ३।१६)। जीव के वास्तविक स्वरूप के उपरान्त औपाधिक स्वरूप का कथन है—**'बुद्धीन्द्रियादिसामीप्यादात्मनः संसृतिर्बलात्।'** (अध्या० कि० ३।२३)—बुद्धि और इन्द्रियादि की सन्निधि से आत्मा को बलात्कार से संसार की प्रतीत होती है। तात्पर्य यही कि काल्पनिक जीव के ही गमन एवं आगमनादि हैं, शुद्ध आत्मा न कहीं जाता है और न कहीं से आता है। स्थूल शरीर के पतनोपरान्त सूक्ष्म शरीर ही कर्मानुसार जाता है और वही आता है, आत्मा तो सर्वत्र है ही, उसका गमनागमन नहीं होता। 'जीव जाता है,' 'जीव आता है' आदि कथन सूक्ष्म शरीर की अपेक्षा है, आत्मा की अपेक्षा नहीं।

जीव के अणु परिमाण की जो श्रुतियां हैं, वे बुद्धिपरिमाण को लेकर ही हैं। बुद्धि या सूक्ष्म शरीर 'अणु' कहा गया है, इसी की अपेक्षा 'जीव अणु है' ऐसा कहा जाता है। **'वालाग्र शत भागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः सविज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥'** (श्वे० ५।९) यह पूर्ण श्रुति है, इसका अर्थ है—केश के अग्रभाग के किए हुये शतांश के भी शतांश के समान जीव है और वही अनन्त हो जाता है। प्रकृत श्रुति में लिङ्गदेह के परिमाणानुसार जीव को अणु कहा है और 'आनन्त्याय कल्पते' से जीव के वास्तविक स्वरूप का निरूपण भी किया गया है। जीव का अणुत्व गौण और आनन्त्य पारमार्थिक माना गया है।

इसके विपरीत आनन्त्य को गौण और अणुत्व को मुख्य मानना युक्तियुक्त नहीं। यह तो शास्त्र के सिद्धान्त को उलट-पलट कर देना है, जो सर्वथा त्याज्य है। **'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः'** (मु० ३।१।९)—यह अणु आत्मा विशुद्ध चित्त से जानने योग्य है। इसमें भी जीव को अणुपरिमाण नहीं कहा गया है, इसका सम्बन्ध पूर्व श्रुति से है, जिसमें कहा गया है कि नेत्र से, वाणी से या अन्य इन्द्रियों से, तप से या कर्म से उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता, ज्ञानप्रसाद से जिसका अन्तःकरण विशुद्ध हो चुका है, वह ध्यान करता हुआ निरवयव आत्मा को देखता है—**'न चक्षुषागृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणावा। ज्ञान प्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः॥'** (मु० ३।१।८)। यह कह कर 'एषोऽणुरात्मा' कहा है। यहां जीव का प्रकरण नहीं, परमात्मा का प्रकरण है, क्योंकि परमात्मा ही चक्षु आदि से गृहीत न होने और ज्ञानप्रसादगम्य होने से प्रकृत है। जीव का मुख्य अणुपरिमाण उपपन्न नहीं होता, इसलिए जीव को अणु कहना 'जीव दुर्ज्ञेय है' इस अभिप्राय से अथवा उपाधि के अभिप्राय से है। 'जीव का स्थान हृदय है' यह बुद्धि के अभिप्राय से है, क्योंकि बुद्धि का स्थान हृदय है।

चन्दन लेप और दीप-प्रभा के दृष्टान्त में वहीं दोष दिखाया जा चुका है। पुष्प और पुष्प के गुण गन्ध का जो दृष्टान्त अणुवादी ने दिया है, वह भी अयुक्त है। 'गन्ध भी गुण है' यह स्वीकार करने से वह आश्रय सहित ही सञ्चार करेगा, अन्यथा गुणत्व की हानि का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। यदि जीव का चैतन्य समस्त शरीर में व्याप्त हो, तो जीव अणु नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे अग्निका स्वरूप उष्णता और प्रकाश है, वैसे ही जीव का स्वरूप चैतन्य है। इसमें गुण और गुणी का विभाग नहीं किया जा सकता। 'पुष्प के प्राप्त न होने पर भी गन्ध की उपलब्धि होती है' यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि गन्ध प्रत्यक्ष और उसका आश्रय अप्रत्यक्ष है, अतः 'निराश्रयगन्ध है' यह नहीं कहा जा सकता। बड़े त्रसरेणु जिनका स्पर्श अप्रत्यक्ष है और गन्ध प्रत्यक्ष है, त्रसरेणु के आने से स्फुट गन्ध के उपलम्भ का सम्भव है। वाटिका की एक दिशा में गन्ध की उपलब्धि होती है और अन्य दिशा में नहीं भी होती। इसका कारण

यही है कि पुष्प के त्रसुरेणु वायु द्वारा जिस दिशा में जाते हैं, उसी दिशा में गन्ध की उपलब्धि होती है, दूसरी ओर नहीं। पुष्प स्थूल है और त्रसरेणु सूक्ष्म, इसीलिये वे दृष्टिगत नहीं होते। जहां भी गन्ध है, वहां त्रसरेणु अवश्य हैं, इस प्रकार गन्ध आश्रय सहित ही सञ्चार करता है। यदि आत्मा का चैतन्यगुण भी इसी प्रकार सञ्चार करता हो, तो वृद्धि-क्षय प्राप्त होने से आत्मा के नाश का प्रसङ्ग उपस्थित होगा अथवा आत्मा को विभु (व्यापक) स्वीकार करना पड़ेगा, अन्य कोई मार्ग नहीं। वास्तव में आत्मा चैतन्यगुण नहीं है, आत्मा चैतन्यस्वरूप और महान् है।

आत्मा के विभु मानने में जो दोष बतलाये गये हैं, वह अयुक्त हैं। 'देवदत्त के अन्तःकरण के सुख-दुःखादि का भान यज्ञदत्त को भी अवश्य होगा' यह मानना अनभिज्ञता का द्योतक है। यदि सुख-दुःखादि का भान आत्मा को होता, तो अवश्य देवदत्त के सुखादि का अनुभव यज्ञदत्त को होता, किन्तु 'आत्मा सगुण है' यह कहीं भी प्राप्त नहीं होता। '**साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च**' (श्वे० ६, ११) साक्षी, चेतनत्वप्रदाता, शुद्ध और निर्गुण है, इस श्रुति में आत्मा को निर्गुण कहा गया है। 'गुणान्वयः' गुणों से सम्बद्ध आदि वाक्य बुद्धिगुण की अपेक्षा से हैं। '**बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्र भागो ह्यपरोऽपिदृष्टः**' (श्वे० ५.८) बुद्धिगुण निमितक आत्मा में अध्यस्तगुण से ही जीव आरा के अग्रपरिमाण के समान अपकृष्ट समझा जाता है, स्वतः तो वह अनन्त है। आत्मा स्वतः निर्गुण है, किन्तु बुद्धि के गुणों का आरोप करने से 'आत्मा सगुण है' ऐसा श्रुतियों का तात्पर्य है। '**ध्यायतीव लेलायतीव**' (बृ० ४।३।७) इस श्रुति में भी कहा गया है कि बुद्धि के ध्यान करने पर मानो वह ध्यान करता है और बुद्धि के चलने पर मानो वह चलता है, स्वतः न ध्यान करता है और न चलता है। यदि आत्मा में क्रिया हो तो मन, बुद्धि आदि की आवश्यकता ही क्या ? फिर '**मनसाह्येव पश्यति**' (बृ० १।५।३) मन से ही देखता है, आदि श्रुतियों की व्यर्थता सिद्ध होती है।

अन्तःकरण प्रत्येक प्राणी के भिन्न हैं और अन्तःकरण से ही सुख-दुःखादि का अनुभव होता है, आत्मा तो केवल शक्ति प्रदाता है। इस लिये

एक प्राणी के सुखादि का अनुभव दूसरे को नहीं होता। बिजली के तार में प्रकाशन शक्ति है, एक ही तार से अनेकों लट्टू प्रकाशित होते हैं। एक लट्टू के नष्ट हो जाने पर अन्य लट्टू नष्ट नहीं हो जाते और न एक लट्टू का अधिक प्रकाश न्यून प्रकाश वाले लट्टू में ही चला जाता है। उस एक ही शक्ति से पंखा, हीटर, रेडियो, लट्टू आदि सभी क्रियाशील होते हैं, किन्तु हीटर की उष्णता रेडियो में, रेडियो के शब्द हीटर में नहीं चले जाते। इसी प्रकार पखे की क्रिया तथा वायु लट्टू में और लट्टू का प्रकाश पंखें में भी नहीं जाते। सब की सञ्चालक शक्ति एक होने पर भी उपकरण विभिन्न प्रकार के होने से भिन्न-भिन्न क्रिया सब में होती है और भिन्नता के कारण ही एक दूसरे की क्रिया का संकर नहीं होता। इसी प्रकार विभिन्न अन्तःकरणों में एक ही आत्मा है, उसकी चेतना से ही सब में चेतनता, क्रिया और सुख-दुःखादि का अनुभव होता है। क्रिया और सुखादि का अनुभव प्रत्येक प्राणी को अपने अन्तःकरण के अनुसार होता है, आत्मा अन्तःकरण के धर्मों से सर्वथा निर्लेप है, इस कारण एक प्राणी के सुखादि का अनुभव दूसरे को हो ही नहीं सकता।

शास्त्रोपदेश की व्यर्थता एवं उपदेश--व्यवहार न होने का जो दोष कहा है, वह भी ठीक नहीं। ब्रह्मात्मज्ञ पुरुष के लिये तो उपदेश हो ही नहीं सकता, अतः उसके लिये शास्त्र-व्यर्थता की कल्पना संगत ही है। किन्तु जो आत्मज्ञान सम्पन्न नहीं, उनके लिये शास्त्रोपदेश की सार्थकता है ही। ज्ञान के पूर्व अविद्या-निवृत्ति के लिये सभी आत्मज्ञानी एकत्वोपदेश की सार्थकता स्वीकार करते हैं। ब्रह्मात्मैक्यज्ञान सम्पन्न पुरुष ही वास्तव में ज्ञानोपदेश करने का अधिकारी है। जिसे शुक्ति में रजत की भ्रान्ति, रज्जु में सर्प-भ्रान्ति एवंमरुस्थल में मरीचिका की भ्रान्ति निवृत्त हो चुकी है, उनके मिथ्यात्व का निश्चय हो चुका है और अधिष्ठान स्वरूप शुक्ति, रज्जु एवं मरुस्थल का दर्शन हो चुका है, वही इनके वास्तविक स्वरूप का निरूपण भ्रान्तिशील पुरुषों के प्रति कर सकता है। इसी प्रकार जिस पुरुष की जगत्-भ्रान्ति, जीव-ईश्वर की भिन्नता का भ्रम और आत्मा के कर्तृत्व का भ्रम निवारण हो चुका है एवं सबके अधिष्ठानस्वरूप एक ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान में स्थित है, वही उपदेश का अधिकारी है। अतः उपदेश एवं

उपदेशक की सार्थकता है। इसलिये आत्मा को विभु मानने में किसी भी दोष का स्पर्श नहीं है, यह तो शास्त्र का सिद्धान्त ही है।

बुद्धिरूप उपाधि के साथ आत्मा का सम्बन्ध मिथ्याज्ञान मूलक है और मिथ्याज्ञान की निवृत्ति यथार्थ ज्ञान के बिना हो ही नहीं सकती। अतः जब तक ब्रह्मात्मा का अज्ञान है, तब तक बुद्धि रूप उपाधि का सम्बन्ध शान्त नहीं हो सकता। देह का वियोग होने पर भी बुद्धि का संयोग रहता है, क्योंकि मूल अज्ञान का नाश हुये बिना बुद्धि का संयोग नष्ट नहीं होता। '**स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति**' (बृ० ४।३।७) --वह समान होकर लोकों में संचरण करता है, यह श्रुति लोकान्तर में गमन करने में आत्मा का बुद्धि के साथ संयोग बतलाती है—

'**यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्**' (ब्र०सू२।३।३०)

वस्तुतः जीव ब्रह्म ही है, क्योंकि '**तत्त्वमसि**' (छा० ६।८।७) वहतू है, आदिक श्रुतियां जीव का ऐक्य प्रतिपादन करती हैं। किन्तु पुरुष अज्ञानान्धकार में निमग्न अपने में कर्तृत्व-भोक्तृत्व, जन्म-मरण एवं अल्पज्ञता आदि का मिथ्या आरोप करके महान् दुःखसागर में डूबता-उतराता इधर से उधर बह रहा है। जब विवेक पूर्वक यह निश्चय कर लेता है कि 'मैं अकर्ता, अभोक्ता, जन्म-मरण से रहित, सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा हूँ' तभी वह अज्ञानान्धकार से पर प्रकाश स्वरूप आत्मा ही होने से निरन्तर सुख-सिन्धु में निमग्न रहता है। श्रुति का भी कथन है—'**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥**' (श्वे० ३।८)—'मैं इस अज्ञानातीत प्रकाश स्वरूप महान् पुरुष को जानता हूं, उसी को जानकर पुरुष मृत्यु का अतिक्रमण करता है, मोक्ष के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है।

सोपाधिक ब्रह्म और जीव में भेद है। किन्तु निरुपाधिक ब्रह्म तथा जीव एक ही है। ब्रह्म तथा जीव का भेद उपाधिकृत है। उपाधि से ब्रह्म में गुणों की वृद्धि-क्षय नहीं होती, क्योंकि वस्तुतः उपाधि के धर्मों का निर्लेप ब्रह्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार निरुपाधिक जीव और ब्रह्म एक ही है। कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मों से रहित, महान्, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप ही जीव का वास्तविक स्वरूप है।

जीवेश्वर सम्बन्ध

'त्वम्' पद के वाच्य एवं लक्ष्यार्थ का संक्षिप्त परिचय दिया गया। जीव का औपाधिक स्वरूप ही 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ और निरुपाधिक स्वरूप 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ है। निरुपाधिक जीव एवं ईश्वर में अभेद है और औपाधिक जीव तथा ईश्वर में काल्पविक भेद है। औपाधिक भेद कल्पित है; वस्तुतः अभेद है। किन्तु जिन पुरुषों की बुद्धि सूक्ष्मग्राही नहीं है, वह औपाधिक भेद नहीं स्वीकार करते। अथवा द्वैताग्रह-ग्रहीत होने से जीव एवं ईश्वर के अभेद को अस्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि 'जीव नियम्य है और ईश्वर नियामक। जीव गमन कर्त्ता तथा मनन कर्त्ता है और ईश्वर गन्तव्य तथा मन्तव्य है। जीव ज्ञाता है, ईश्वर ज्ञेय। जीव उपासक है, ईश्वर उपास्य एवं जीव अंश है और ईश्वर अंशी।' उनका कहना है कि 'उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्र में इसके प्रतिपादित अनेकों वचन उपलब्ध होते हैं। 'ब्रह्मसूत्र' में महर्षि वेदव्यास ने पदे-पदे जीव और ब्रह्म का पार्थक्य प्रदर्शित किया है, यथा—

'तद्धेतुव्यपदेशाच्च' १।१।१४

—तैत्तिरीय श्रुति में कहा है कि सब जीवों के आनन्द के प्रति ब्रह्म ही कारण है। **'एष ह्येवानन्दयाति'** (तै० २।७) **निश्चय यही (ब्रह्म ही) आनन्द देता है।**

'भेदव्यपदेशाच्च' १।१।१७

--तैत्तिरीय श्रुति कहती है कि वह (ब्रह्म) रस है, यह जीव रस पाकर ही आनन्द युक्त होता है—**'रसो वै सः। रसंम ह्य् वायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'** (२।७)। यह श्रुति जीव और ब्रह्म का भेद बतलाती है।

'भेदव्यपदेशाच्चान्यः' १।१।२१

—**'य आदित्ये तिष्ठन्'** (बृ० ३।७।९) श्रुति में कहा है कि जो आदित्य में रहता है और आदित्य नहीं जानता, जिसका आदित्य शरीर है, जो अन्तरात्मा आदित्य पर शासन करता है, यह तुम्हारा आत्मा अतर्यामी और अमृत है। इसमें सूर्य नियम्य और ब्रह्म नियामक है। इससे सिद्ध है कि जीव और ईश्वर में भेद है, आदित्य रूपी जीव से अन्तर्यामी भिन्न है।

'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः' १।२।३

—जीव में सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, इन्द्रियरहित, निःस्पृह और पृथिवी से बड़ा इस प्रकार के गुण नहीं हो सकते। यह सब गुण ईश्वर में हैं, अतः ईश्वर और जीव का भेद है।

'कर्मकर्तृव्यदेशाच्च' १।२।४

—मनोमयत्व आदि गुणों से युक्त उपास्य आत्मा का कर्म रूप से और उपासक जीवात्मा का कर्त्तारूप से उपदेश होने के कारण भी जीव और ब्रह्म का भेद है।

'स्मृतेश्च १।२।६

—और गीता में भी कहा गया है कि हे अर्जुन! शरीरधारी जीवों को माया से घुमाता हुआ ईश्वर सब भूतों के हृदय में रहता है—**'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानियन्त्रारूढानि मायया॥'** (गी० १८।६१) इससे भी जीव और ईश्वर का पार्थक्य सिद्ध है।

'सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्' १।२।८

—'ईश्वर यदि हृदयस्थ हो तो चेतन होने के कारण जीव की तरह सुख-दुःख का अनुभव करने वाला होगा।' नहीं क्योंकि जीवभोक्ता है। और ईश्वर अभोक्ता है। इस भेद के कारण ब्रह्म और जीव पृथक्-पृथक् हैं, इसलिए जीव के भोग से ब्रह्म में भोग का प्रसंग नहीं है।

'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्' १।२।११

—कठवल्ली में कहा है —**'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदोवदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥'** (क० १।३।१) अवश्य भोक्तव्य कर्मफल का भोग करने वाले, सुकृत के कार्य देह के श्रेष्ठ हृदय में जो आकाशरूप गुहा है उसमें प्रवेश किए हुये छाया और आतप के समान परस्पर विरुद्ध दो की ब्रह्मवेत्ता, पञ्चाग्नि वाले और नाचिकेत अग्नि का जिन्होंने तीन बार चयन किया है, वे जानते हैं। तात्पर्य हृदयाकाश में जीव और ब्रह्म दो हैं, अतः दोनों भिन्न हैं, एक नहीं ।

'भेदव्यपदेशात् १।३।५

—उसी एक आत्मा को जानो—**'तमेवैकं जानथआत्मानम'** (मु०२।२।५)। इस प्रकार श्रुति में जीव ज्ञाता और परमात्मा ज्ञेयरूप से कहे गये हैं, अत जीव तथा ईश्वर भिन्न-भिन्न हैं ।

'स्थित्यदनाभ्यांच' १।३।८

—मुण्डक श्रुति में आया है—**'द्वा सुपर्णासयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥'** (३।१।१) सदा एक साथ रहने वाले तथा समान आख्यान वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय कर रहते हैं । उनमें एक (जीव) मधुर कर्मफलों का भोग करता है, दूसरा [ईश्वर] भोग नहीं करता, किन्तु केवल साक्षी-रूप से देखता है इसमें औदासीन्य स्थिति से और कर्मफल भोग से ईश्वर और जीव में भेद कहा गया है । इसलिए जीव तथा ईश्वर सर्वथा पृथक् हैं, एक नहीं ।

जीव अंश है और ईश्वर अंशी, इसका प्रतिपादन 'छान्दोग्य' श्रुति में है—

'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्चपूरुषः । पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि ॥' (३।१२।६)

—उतनी इस ब्रह्म की महिमा है, इसमें पुरुष महत्तर है, उसका एक पाद सब भूत(जीव)हैं, तीन पाद अमृत स्वरूप द्योतनवान् स्वात्मा में हैं। गीता में भी कहा गया है कि संसार में जीव स्वरूप मेरा ही अंश है, अतः

सनातन है—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (१५।७)। इस प्रकार अनेक प्रमाणों से जीव और ईश्वर का भेद कथन किया गया है, अत: जीव ईश्वर से सर्वथा भिन्न ही है।'

किन्तु उपर्युक्त भेदवादी का कथन अयुक्त है। पारमार्थिक स्वरूप जीव एवं ईश्वर का अभिन्न है, क्योंकि श्रुति, स्मृति तथा ब्रह्म सूत्र आदि में एकत्व का ही प्रतिपादन किया गया है। 'छान्दोग्य' श्रुति सत् रूप कारण ब्रह्म से आरम्भ कर तेजादि कार्यब्रह्म तथा जीव का एकत्व बतलाती है--

'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७)

—यह सब सद्रूप आत्मा है, वह सत्य है, हे श्वेतकेतो! वह आत्मा है, वह तू है। यह श्रुति स्पष्ट रूप से जगत् एवं जीव को सद्रूप ब्रह्म ही कहती है। जीवका स्वयं सिद्ध जो ब्रह्मात्मत्व है, उसी का कथन किया गया है बृहदारण्यक श्रुति भी कहती है--

'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्यो ऽतोस्ति श्रोता नान्योऽतोस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृ० ३।७।२३)

—इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है, इसके अतिरिक्त और कोई मन्ता नहीं है तथा इससे पृथक् कोई विज्ञाता नहीं है। यह तुम्हारा आतमा अन्तर्यामी अमृत है—**'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः'** (बृ०३।७।२३)। यह श्रुति अन्तर्यामी और आत्मा का एकत्व कहती है।

'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ०१।४।१०)—मैं ब्रह्म हूं।

'सवा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५)

—वही यह महान्, अजन्मा, आतमा अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्म है। इसी प्रकार अन्य उपनिषदों में भी ब्रह्म एवं जीव का पारमार्थिक स्वरूप एक ही कहा गया है। गीता में भी भगवान् का कहना है कि तू समस्त क्षेत्रों (शरीरों) में क्षेत्रज्ञ (जीव) भी मुझ असंसारी परमेश्वर को ही जान—**'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत'** (गी०१३।२) इसी प्रकार 'ब्रह्म सूत्र' में भी ब्रह्म एवं जीव को एक ही बताया गया है।

'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र०सू०२।१।१४)

--कारण ब्रह्म से कार्य जगत् की पृथक् सत्ता नहीं है (इसी से ब्रह्म से जीव पृथक् नहीं है), क्योंकि विकार वाचारम्भण मात्र है--**'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'** (छा०६।१।१)। **'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि'** (छा०६।८।७) यह सब सद्रूप है, वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है। इस सूत्र में ब्रह्म, जगत् एवं जीव का अभेद निश्चय किया गया है।

'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' (ब्र०सू० ४।१।३)

--'ब्रह्म आत्मा है' इस प्रकार ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृ० १।४।१०) मैं ब्रह्म हूं, **'तत्त्वमसि'** (छा०६।८।७) वह तू है आदि श्रुतियां ब्रह्म को आत्मरूप से बतला रही हैं।

'अविभागेन दृष्टत्वात्' (ब्र०सू० ४।४।४)

--मुक्त जीव निरतिशयानन्द ब्रह्मरूप से अवस्थित रहता है, क्योंकि **'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'** (बृ० ४।४।६) ब्रह्म ही होकर ब्रह्म प्राप्त करता है। जैसे शुद्ध जल शुद्ध जल में आक्षिप्त होने से वैसा ही—एक रस हो जाता है, इसी प्रकार हे गौतम! विज्ञानवान् मुनि का आत्मा भी एक रूप होता है—**'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥'** (क० ४।१५)।

'अंशोनानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके'

(ब्र०सू० २।३।४३)

--ब्रह्म निर्मल और कलाहीन है—**'विरजं ब्रह्म निष्कलम्'** (मु०२।२।९)। इस लिये जीव ब्रह्म का वास्तविक अंश नहीं है, कल्पित अंश है। अविद्योपाधि से जीव ग्रस्त हैं, इस कारण उनका पृथक् व्यपदेश है। **'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः'** (छा०८।७।१) वह अन्वेषण करने योग्य है और जिज्ञासा करने योग्य है, इस प्रकार जीव अन्वेषण और जिज्ञासा से अविद्योपाधि से युक्त होता है, इस लिये अंश और अंशी की कल्पना है। अभेद का कथन वास्तविक है और भेद का कल्पित। आथर्वण शाखा वाले **'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवमेकितवाः'** ब्रह्म ही धीवर है, ब्रह्म ही भृत्य है और ब्रह्म ही ये जुआरी हैं, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार अगणित श्रुति, सूत्रादि प्रमाणों के उपलब्ध होने पर भी परमार्थ स्वरूप से जीव एवं ईश्वर को भिन्न कहना साहस मात्र है। ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—

'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरोह्यजः।
अप्राणोह्यमनाः शुभ्रोह्यक्षरात्परतः परः॥' (मु० २।१।२)

—निश्चय ही ब्रह्म दिव्य, आकार-बर्जित, पूर्ण अथवा शरीर रूप पुरु में शयन करने वाला, वाह्य-भीतर विद्यमान, अजन्मा, क्रिया शक्ति वाले प्राण से रहित तथा ज्ञान शक्ति वाले अन्तःकरणादि से भी रहित, विशुद्ध एवं कार्य-कारण के बीज रूप अक्षर से भी सर्वोत्कृष्ट है। यह ब्रह्म का सर्वोपधि विर्वाजित निरुपाधिक स्वरूप है और यही वास्तविक, पारमार्थिक स्वरूप कहा जाता है। यही ब्रह्म प्राणियों का वास्तविक स्वरूप है। जिसका वर्णन श्रुति ने—

'सवा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५)

—वही यह महान्–सर्वव्यापक एवं सर्वाधिष्ठान—'अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्म है' से किया है। यह आत्मा का वर्णन भी पारमार्थिक होने से सर्वोपाधि विर्वाजित, निरुपाधिक स्वरूप का है। इस पारमार्थिक आत्मा के स्वरूप और ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप में किञ्चित् भी भेद नहीं है। दो नही, एक ही हैं। इस एक ही स्वरूप की ओर **'तत्त्वमसि'** (छा० ६।८।७) वह तू है, **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृ० १।४।१०) मैं ब्रह्म हूँ आदि महावाक्य संकेत करते हुए एकत्व का प्रतिपादन करते हैं। इसलिए सम्पूर्ण शास्त्र का निचोड़ ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान ही है और पारमार्थिक सत्य भी यही है। इस अभेद दर्शन को जो इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', वह सर्व हो जाता है। उसके पराभव में देवता भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है—

'य एवं वेदाहंब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवति।' (बृ० १।४।१०)

और जो अन्य देवता की 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' इस प्रकार उपासना करता है, वह नहीं जानता। जैसे पशु होता है वैसे ही वह देवताओं का पशु है—

'अथयोऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवंस देवानाम् ।' (बृ० १।४।१०)

'मृत्योः समृत्युमाप्नोति य इहनानेव पश्यति ।' (बृ० ४।४।१९)

—यहां नानात्व के न रहते हुये ही जो नानात्व का दर्शन करता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। इस प्रकार भेद-दर्शन से श्रुति ने महान् भय बतलाया है और अभेद-दर्शन से सर्वात्म भाव की प्राप्ति कही है। अतः अभेद ही पारमार्थिक तत्त्व है और ऐसा ही दर्शन करना परम पुरुषार्थ है।

किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से अज्ञान-दशा में भेद स्वीकार किया गया है। इसका उद्देश्य यह है कि ब्रह्म की उपासना द्वारा अनेकता के भ्रम का निवारण करना। विक्षेप आदि दोषों के निवारण के बिना अभेद-दर्शन सम्भव नहीं है। इन दोषों की निवृत्ति उपासना से होती है। उपास्य भी ऐसा होना चाहिये जिसमें विक्षेप आदि दोष न हों और सर्वज्ञ, ज्ञानस्वरूप, सर्वसमर्थ एवं परम पुरुषार्थ प्रदाता हो। ऐसा उपास्य ब्रह्म से अतिरिक्त हो नहीं सकता, इस लिये सर्वज्ञ ब्रह्म उपास्य और अल्पज्ञ जीव उपासक कहा गया है। ब्रह्म में सर्वज्ञता मायोपाधि से और जीव में अल्पज्ञता अविद्योपाधि से है, स्वतः नहीं। क्योंकि पारमार्थिक स्वरूप में न सर्वज्ञता है और न अल्पज्ञता।

'छन्दांसि यज्ञाःक्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदावदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥' (श्वे४।९)

—इस श्रुति में कहा है कि वेद, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, भविष्य, वर्तमान तथा और भी जो कुछ वेद बतलाते हैं, वह सब मायावी ईश्वर ही उत्पन्न करता है और उस (प्रपञ्च) में ही माया से अन्य-सा होकर बंधा हुआ है। इसका तात्पर्य है, कि ब्रह्म अपनी स्वाभाविक माया शक्ति को जब स्वीकार करता है, तब वह 'मायावी', 'ईश्वर' या 'मायोपाधिक ब्रह्म' के नाम से कहा जाता है, माया इसके अधीन रहती है। माया शक्ति के ही कारण निर्गुण ब्रह्म सकल गुणों का निधान होता है, निष्कर्म, अकाम, अशब्द, अस्पर्श, अगन्ध, अरस आदि ब्रह्म सर्वकर्मा, सर्वकामनावाला, सर्व-

गन्धयुक्त और सर्वरसयुक्त होता है—**'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः'** (छा० ३।१४।२)। वही **'सर्वज्ञः सर्ववित्'** (मु० १।१।९) सर्वज्ञ और सर्ववित् है। जो पारमार्थिक रूप से अप्राण, अमन है, वही व्यावहारिक या मायोपाधि से मनोमय और प्राण शरीर वाला है—**'मनोमयः प्राणशरीरः'** (छा० ३,१४,२)। माया की उपाधि से सम्पूर्ण नाम, रूप, ज्ञान एवं कर्म से युक्त ब्रह्म ही है।

वही ब्रह्म सम्पूर्ण स्थावर–जङ्गम जगत् का स्वामी देहाभिमानी–स्थूल-सूक्ष्म देह की उपाधि वाला–होकर नवद्वार वाले–दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासिका, मुख, गुदा एवं लिङ्ग वाले शरीर में बाह्य विषयों को ग्रहण करने के लिये चेष्टा करता है—

'नवद्वारे पुरे देही हँसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥' (श्वे ३।१८)

'अङ्गुष्ठमात्रो रवि तुल्यरूपः संकल्पाहङ्कारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपिद्रष्टः॥' (श्वे० ५।८)

—जो हृदय की अपेक्षा से अंगूठे के बराबर परिमाणवाला, सूर्य के समान ज्योतिः स्वरूप, संकल्प और अहंकार से युक्त एवं बुद्धि तथा शरीर के गुणों से भी समन्वित है, वह जीव आर की नोंक के बराबर आकार वाला देखा गया है। जिस प्रकार घट, कमण्डलु आदि विभिन्न उपाधियों में एक ही आकाश विभिन्न आकार का देखा जाता है, वैसे ही बुद्धि आदि उपाधियों में एक ही ब्रह्म विभिन्न ज्ञान, कर्म एवं आकार वाला दिखाई देता है।

ब्रह्म माया की उपाधि से सर्वज्ञ, स्वतन्त्र, शासक, कर्मफलप्रदाता एवं उपास्य है और वही स्थूल-सूक्ष्म शरीर की उपाधि से अल्पज्ञ, परतन्त्र, शासित, कर्म-फल-भोक्ता एवं उपासक है। माया कारण है और शरीरादि कार्य। इसी से श्रुति ने कहा है—**'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः'** (शु०र०१२)—यह जीव कार्य की उपाधि वाला है और ईश्वर कारणोपाधि वाला। उपाधि न तो ईश्वर की पारमार्थिक है और न जीव की। इस लिये उपाधि सत्य नहीं है, क्योंकि सृष्टि काल में उपाधि का योग है

और अन्य समय उपाधि का वियोग। अतः व्यावहारिक ही ईश्वर एवं जीव की संज्ञा है, पारमार्थिक नहीं। व्यवहार दशा में कल्पित भेद की मान्यता है, उसी समय ईश्वर एवं जीव में उपास्य-उपासक सम्बन्ध की कल्पना है। इसी दृष्टि को ध्यान में रख कर श्रुति, सूत्रादि में जीव और ईश्वर के भेद का वर्णन किया गया है। वास्तविक भेद मान कर वर्णन नहीं किया गया है।

बुद्धि आदि गुण की अपेक्षा जीव में अणुत्व और भेद का कथन है। **'तदगुणसारत्वात्'** (ब्र०सू०२।३।२९) सूत्र से यही महर्षि बादरायण ने निश्चय किया है। बुद्धि आदि उपाधि से रहित आत्मा विभु है और वह ईश्वर से भिन्न नहीं है। आत्मा न उत्पन्न होता है और न मरता है--**'न जायते म्रियतेवा'** (क०१।२।१८) यदि आत्मा विनाशी होता तो निश्चय ही वह अल्प होता, क्योंकि जो अल्प है वह मर्त्य है--**'यदल्पं-तन्मर्त्यम्'** (छा०७।२४।१)। **'यो वै भूमा तदमृतम्'** (छा ७।२४।१) जो भूमा--महान् है वह अमृत है। जो अविनाशी--जन्म-मरण से रहित है, वह निश्चय ही सर्वव्यापक है। जीव भी जन्म-मरण से रहित नित्य और शाश्वत है, इसी कारण व्यापक है। सर्व व्यापक एक ही तत्त्व है और वह है ब्रह्म या आत्मा। माया की उपाधि से वही तत्त्व ईश्वर और शरीर की उपाधि से जीव या आत्मा कहा जाता है। शरीर की उपाधि से वस्तुतः वह शरीर के आकार या गुण-दोष वाला नहीं हो जाता, क्योंकि वह असङ्ग है। जैसे घट की उपाधि से आकाश वास्तव में घट के आकार वाला नहीं हो जाता, वैसे ही आत्मा भी किसी भी उपाधि के संसर्ग से वैसा नहीं होता। जन्म-मरण, सुख-दुःख, क्षुधा-पिपासा आदि धर्म स्थूल, सूक्ष्म शरीर के हैं, आत्मा का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं। घट के नष्ट होने पर जैसे कहा जाता है कि घटाकाश का विनाश हुआ और घट के निर्माण पर घटाकाश का जन्म हुआ, वैसे ही स्थूल-सूक्ष्म शरीर के जन्म-मरण एवं सुख-दुःखादि पर कहा जाता है कि जीव का जन्म हुआ, मृत्यु हुई तथा जीव सुखी-दुःखी है। वस्तुतः निःसंग और व्यापक आकाश के समान आत्मा भी निःसंग और व्यापक है। घटाकाश के भेद की मान्यता जिस प्रकार भ्रान्ति है, अज्ञान जनित है, वैसे ही आत्मा के भेद की मान्यता भी भ्रांति और अज्ञान प्रसूत है।

जीव अपने स्वरूप को नहीं देखता, शरीर और बाह्य विषयों को ही देखता है। शरीर में ही 'अहं' भाव करके शरीर को ही अपना स्वरूप मानने लगता है, उसी के लालन-पालन में निमग्न रहता है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक होता है, कि अपने से विषयों को पृथक् माने और ईश्वर को भी इन दोनों से भिन्न समझे। तदनुकूल ही उसके आचरण भी होते हैं। यह पृथक्करण की भावना और व्यवहार अज्ञानजनित होने से बन्धन कारक हैं। शास्त्र इसी भावना के अनुसार प्रथम तीनों को पृथक् बतलाकर ईश्वर की उपासना का उपदेश करते हैं और अन्त में इन तीनों की एकता का प्रतिपादन कर जीव को अज्ञान से निकाल कर अपने शुद्ध, निर्विकार, अद्वय स्वरूप में प्रतिष्ठित करा देते हैं। 'श्वेताश्वतर' की एक श्रुति में यह क्रम देखा जा सकता है--

'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥'

(श्वे० १।९)

—ईश्वर सर्वज्ञ तथा सर्व समर्थ है और जीव अज्ञ तथा असमर्थ है, ये दोनों ही अजन्मा हैं। एक मात्र अजा प्रकृति ही भोक्ता (जीव) के लिये भोग्य सम्पादन में नियुक्त है। विश्वरूप आत्मा तो अनन्त और अकर्ता ही है। जिस समय इन ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को ब्रह्मरूप अनुभव करता है, तब वह जीव मुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि मायाधिपति ईश्वर द्वारा निर्मित जगत् माया रूप ही है, उस माया के कारण जीव भोक्ता, भोग्य एवं प्रेरक ईश्वर की भिन्न-भिन्न रूप से कल्पना करके बन्धन में पड़ जाता है। जब ईश्वरोपासना, शास्त्र एवं गुरु से यह जानता है कि भेद काल्पनिक है, वास्तव में तीनों एक ही हैं, तब वह बन्धन-मुक्त हो जाता है और अपने अकर्त्ता-अभोक्ता, अनन्त स्वरूप में स्थित हो जाता है। निष्कर्ष यह कि भेद से अभेद, बन्धन से मुक्ति एवं जन्म-मरण से अजन्मा, अविनाशी पद पर प्रतिष्ठित कराना ही शास्त्र का उद्देश्य है।

इसके अतिरिक्त महर्षि बादरायण ने जितने भी जीव के भेद प्रतिपादक सूत्र कहे हैं, वह सब ब्रह्म के प्रकरण में हैं, जीव के प्रकरण में नहीं। जीव के प्रकरण में जितने भी सूत्र हैं, उनमें जीव-भेद का प्रतिपादन नहीं किया गया है वहां जीव के वास्तविक स्वरूप अपरिच्छिन्नत्व, चेतनत्व एवं एकत्व का ही कथन है। अणुत्व, परिच्छिन्नत्व एवं गमनागमनादि के भ्रम का पूर्वपक्ष उपस्थित करके निरास किया गया है। उपाधि के संयोग से कल्पित अणुत्व एवं गमनागमनादि को व्यवहार दशा में स्वीकार किया है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि श्रुति और श्रुति के अनुसार सूत्रादि का पक्ष यही है कि वास्तव में जीव और ब्रह्म में किञ्चित् भी भेद नहीं, एक ही तत्त्व है। किन्तु व्यवहार में भेद की कल्पना है, इसी लिये कल्पित भेद का अङ्गीकार किया गया है। किसी भी सूत्र में 'भेदः सत्यः' 'भद सत्य है' नहीं कहा गया है। जब कि **'तदनन्यत्वं०'** (२।१।१४) सूत्रों से जीव और ब्रह्म का अभेद कहा है।

ब्रह्म के प्रकरण में जीव और ब्रह्म के भेद प्रदर्शन करने का तात्पर्य ब्रह्म को उपास्य बतलाने के लिये है। 'छान्दोग्य' में श्रुति है--

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (छा० ३।१४।१)

—यह सम्पूर्ण जगत् निश्चय ही ब्रह्म है, यह उसी से उत्पन्न होता, उसी में लीन होता और उसी में चेष्टा करता है--इस प्रकार शान्त (राग-द्वेष रहित) होकर उपासना करे। वह ब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर, प्रकाशस्वरूप, सत्यसंकल्प है—**'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्पः'** (छा०३।१४।२)। 'मनोमय जीव है, ब्रह्म नहीं, इसलिये यहां जीव की उपासना कही गयी है', यह मत पूर्व पक्षी का है। इसके उत्तर में सूत्रकार ने कहा है कि जीव में सत्यसंकल्प, आकाशात्मा आदि गुण नहीं हो सकते। यह गुण ईश्वर में ही हैं, जीव में नहीं, इस लिये ईश्वर से जीव भिन्न है। औपाधिक भेद से ब्रह्म और जीव में गुण का भेद है, इसी द्रष्टि से सूत्रकार ने भेद-प्रतिपादक सूत्रों की रचना की है। स्वरूप-भेद को द्रष्टि में रखकर भेद का प्रतिपादन नहीं किया है, क्योंकि स्वरूप से दोनों में अभेद है। स्वरूपतः अभेद का प्रतिपादन किया है और औपाधिक भेद का। इसी प्रसंग में श्रुति ने आगे ही कहा है कि 'हृदय कमल के भीतर

यह मेरा आत्मा धान से, यव से, सरसों से, श्यामाक से अथवा श्यामाक-तण्डुल से भी सूक्ष्म है तथा हृदय कमल के भीतर यह मेरा आत्मा पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन सब लोकों की अपेक्षा भी बड़ा ही है,' (छा० ३।१४।३)। प्रथम हृदय उपाधि की अपेक्षा से धानादि से सूक्ष्म और फिर उपाधि रहित उसी को अनन्त परिमाण का कहा है।

ब्रह्म और आत्मा का एकत्व बतलाती हुई श्रुति कहती है--

'एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति'
(छा० ३।१४।४)

--वह मेरा आत्मा हृदय के मध्य में स्थित है, यही ब्रह्म है, इस शरीर से मरकर जाने पर मैं इसी को प्राप्त होऊँगा। क्योंकि पुरुष निश्चयात्मक है, इस लोक में पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है, वैसा ही यहां से मरकर जाने पर होता है--**'अथखलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँलोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति'** (छा० ३।१४।१)। उपासक **'मनोमयः'** आदि सगुण ब्रह्म को प्राप्त करना चाहता है। क्योंकि 'मैं इसे प्राप्त होऊंगा', ऐसे निश्चय वाला है, इसमें ब्रह्म और आत्मा के कर्मत्व और कर्तृत्व का निर्देश किया गया है। इसी भेद को लक्ष्य करके ही **'कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च'** (ब्र०सू० १।२।४) सूत्र का अवतरण हुआ है। यद्यपि उपासक स्वरूपतः अभेद का वर्णन करता है, किन्तु औपाधिक भेद से उपास्य सगुण ईश्वर की उपासना करता है और चाहता है कि मृत्यु के उपरान्त मैं इसी को प्राप्त करूं। संकल्प के अनुसार सगुण ईश्वर को प्राप्त करता ही है। इस प्रकार औपाधिक भेद से जीव तथा ईश्वर में भेद है, जीव अल्पज्ञ और ईश्वर सर्वज्ञ है। इसी भेद को लक्ष्य में रखकर महर्षि ने भेद प्रतिपादक सूत्रों की रचना की हैं, उपासना के लिये भेद आवश्यक है ही। किन्तु भेद सत्य ही हो, यह आवश्यक नहीं, कल्पित भेद भी हो सकता है। जीव और ईश्वर में उपाधि के कारण भेद है और उपाधि सत्य नहीं है, इस कारण भेद भी सत्य नहीं, मायिक हैं।

शास्त्र में दोनों प्रकार के वर्णन मिलते हैं, उनकी संगति से ही तत्व का निर्णय किया जाता है। 'ब्रह्मसूत्र' में ही **'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्'** (२।३।३३) आदि कई सूत्रों में कहा गया है कि जीव कर्ता है, क्योंकि

शास्त्र प्रतिपादित फल का अधिकारी है। बुद्धि कर्त्री नहीं है, इसका भी **'शक्ति विपर्ययात्'** (ब्र०सू० २-३-३८) सूत्रों में कथन किया गया है। किन्तु यदि आत्मा का स्वाभाविक कर्त्तव्य माना जाय तो मोक्ष के अभाव का प्रसंग उपस्थित होता है। जैसे अग्नि का उष्णत्व से मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि अग्नि में उष्णत्व स्वाभाविक है, वैसे ही यदि आत्मा में स्वाभाविक कर्त्तृत्व हो तो उससे कभी छुटकारा नहीं मिल सकता। कर्त्तृत्व दुःखरूप है, जब तक इससे छुटकारा न हो तब तक परम पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। किसी अन्य साधन से मोक्ष की प्राप्ति भी सम्भव नहीं, क्योंकि जो साधन के अधीन है, वह अनित्य है। ब्रह्मात्मा स्वभाव से अकर्ता है और उपाधि से कर्ता कहा जाता है। श्रुति में कहा भी है—

'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४।३।७)

—मानो ध्यान करता है, मानो चलन क्रिया करता है।

'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (क० ३।४)

—शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त को विवेकी लोग भोक्ता कहते हैं। इस प्रकार सोपाधिक आत्मा ही कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व वाला है, उपाधिरहित आत्मा नहीं। यही सूत्रकार भी कहते हैं।

'यथा च तक्षोभयथा' (ब्र० सू० २।३।४०)

—जैसे बढ़ई बसुला आदि साधनों की अपेक्षा से कर्ता होता हुआ दुःखी होता है और उनकी अपेक्षा न करके स्वरूपतः अकर्ता तथा सुखी होता है। वैसे ही आत्मा भी बुद्धि आदि करणों की अपेक्षा कर्ता और संसारी होता है, उनकी अपेक्षा न करके स्वरूपतः अकर्ता परमानन्दघन ही है।

इस प्रकार सूत्रकार ने पहले आत्मा को कर्ता बतलाया, पुनः उसका कर्तापन बुद्धि आदि की अपेक्षा कहा। मन्द बुद्धि पुरुष प्रथम के सूत्रों को देख कर यही निश्चय कर लेते हैं कि वास्तव में आत्मा स्वरूपतः कर्ता है। और वह इसके आग्रही हो जाते हैं। किन्तु प्रथम सूत्रों का भी तात्पर्य यही है कि उपाधि संयुक्त आत्मा ही कर्ता है, उपाधि रहित अकर्ता है। बिना आत्मा के योग के बुद्धि जड़ है, इसलिये वह कर्त्री नहीं

हो सकती और आत्मा अकर्ता है, इसलिये वह भी कर्ता नहीं हो सकता। जब बुद्धि और आत्मा का अध्यास से सम्बन्ध होता है, तभी आत्मा में कर्त्तृत्व का आरोप कर कहा जाता है कि 'आत्मा कर्त्ता है'। विजय या पराजय होती है सैनिकों में, किन्तु कहा जाता है कि 'अमुक राजा विजयी हुआ और अमुक पराजित'। वैसे ही आत्मा को कर्ता, भोक्ता आदि कहा जाता है। इसी प्रकार जीव तथा ईश्वर के भेद और अभेद प्रतिपादक सूत्रों की संगति है। स्वरूपतः जीव तथा ईश्वर का अभेद है और औपाधिक भेद है। उपाधि भेद से ही ईश्वर और जीव में उपास्य-उपासक, शासक-शासित एवं फलदातृत्व और कर्म कर्त्तृत्व सम्बन्ध है।

'जीव ईश्वर का अंश है और ईश्वर जीव का अंशी है', यह कथन भी सोपाधिक ही है, वास्तविक नहीं। यदि जीव को ईश्वर का वास्तविक अंश स्वीकार किया जाय और कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी आदि माना जाय तो मोक्ष असम्भव है, क्योंकि वास्तविक स्वरूप का निवारण सम्भव ही नहीं। वह सदा ईश्वर से पृथक्, कर्ता-भोक्ता एवं सुखी-दुःखी ही रहेगा। उसकी मुक्ति न ज्ञान से होगी और न कर्म से। इसके अतिरिक्त ईश्वर 'निष्कल तथा निष्क्रिय है', यदि उसका जीव अंश है तो वह निरंश नहीं कहा जा सकता। यदि अंश है, तो सावयव की भी आपत्ति होगी। यदि अंश को स्वीकार भी किया जाय तो प्रश्न होता है कि ब्रह्म से जीव भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है, तो पुनः प्रश्न होता है कि सचेतन है या अचेतन? यदि अचेतन कहा जाय तो युक्त नहीं है, क्योंकि 'मैं, मेरा, तू, तेरा' आदि ज्ञान के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा और सुषुप्ति के समान व्यवहार का सर्वथा लोप हो जायगा। ईश्वर अंशी चेतन और जीव अंश अचेतन का कार्यकारण भाव भी नहीं बन सकता, क्यों कि गाय और अश्व के समान सर्वथा भेद है, इस लिये चेतन का अंश अचेतन हो ही नहीं सकता। यदि जीव को चेतन कहा जाय तो चेतन एक मात्र ब्रह्म ही है, क्योंकि **'साक्षी चेता केवलः'** (श्वे० ६।११)--साक्षी, चेतन और शुद्ध ब्रह्म ही है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई चेतन नहीं है। इसलिये जीव-ईश्वर का भेद पक्ष सर्वथा अयोग्य है। यदि जीव को अभिन्न माना जाय तो ईश्वर और जीव में कारण-कार्य भाव नहीं बन सकता। साथ

ही 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार का पूर्ण बोध तथा असंसारित्व ज्ञान सम्पूर्ण प्राणियों को होना अनिवार्य होगा, किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता इसलिये जीव ईश्वर से अभिन्न भी नहीं है। इसका उत्तर यदि यह दिया जाय कि 'अविद्या के कारण ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इसका बोध नहीं होता' तो ठीक है, यही हमारा भी कहना है कि अविद्या से ही ब्रह्म जीव कहा जाता है। अविद्या का निवारण विद्या से होने पर पूर्ण बोध अपने स्वरूप का होगा और बोध से मोक्ष।

यदि इस पर कोई कहे कि 'निरवयवब्रह्म का अंशांशिभाव कैसे हो सकता है ?' तो इसका उत्तर है कि अविद्यारूप उपाधि से अंशांशिभाव हो सकता है। जैसे निरवयव एक ही महाकाश की घट रूप उपाधि से विशिष्ट होने पर घटाकाश की कल्पना कर घटाकाश अंश और महाकाश अंशी होता है। वैसे ही एक ब्रह्म का अविद्या से उत्थित बुद्धि आदि रूप उपाधि के सम्बन्ध से उससे अवच्छिन्न ब्रह्म के अंश की कल्पना कर जीव ब्रह्म का अंश है और ब्रह्म जीव का अंशी, यह कहा जाता है। उपाधि विशिष्ट ब्रह्म ही जीव है। यदि शंका हो कि 'असंग ब्रह्म का उपाधि से सम्बन्ध कैसे होगा ?' तो उत्तर है कि असंग स्फटिक में रक्त पुष्प की लालिमा का जैसे आध्यासिक सम्बन्ध है, वैसे ही ब्रह्म का भी आध्यासिक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध से ही आत्मा कर्ता-भोक्ता है तथा स्त्री, पुत्र, माता-पिता, गौर-श्याम, ब्राह्मण-शूद्र एवं सुखी-दुःखी आदि की कल्पना करता है। यह संसारित्व की प्रतीति आध्यासिक है, वास्तविक नहीं।

इस प्रकार उपाधि-भेद से जीव एवं ईश्वर की व्यवस्था है। अज्ञान जन्य उपाधि का निरास ज्ञान से होने पर एक मात्र अखण्ड, अद्वय, परमात्म तत्त्व ही शेष रह जाता है। जैसे घट उपाधि का विनाश होने पर एक, अखण्ड महाकाश ही शेष रहता है वैसे ही। अपने अखण्ड स्वरूप में स्थित होने पर 'मैं, मेरा' आदि संसारित्व का अभाव हो जाता है। जन्म-मरण की परम्परा उच्छिन्न हो जाती है, शरीर रहे या न रहे वह पूर्ण ब्रह्म ही होता है। किन्तु जब तक उपाधि का निरास नहीं होता, तब तक 'मैं, मेरा' आदि रूप संसारित्व का और जन्म-मरण के चक्र का भी निवारण नहीं होता।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व एवं जन्म-मरण

सोपाधिक जीव कर्ता है और वही भोक्ता। पुरुष जैसी कामना करता है, वैसा निश्चय करता है, जैसा निश्चय करता है, वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल-भोगता है। शुभ कर्मों का शुभ फल और अशुभ कर्मों का अशुभ फल मिलता है। 'शुभ क्या ? और अशुभ क्या ?' इसकी कसौटी एकमात्र वेदादि शास्त्र हैं। वेदानुकूल कर्म शुभ हैं और वेद से प्रतिकूल कर्म अशुभ। वर्णाश्रम विहित कर्मों से शुभ योनि, शुभ फल और स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है, वर्णाश्रम प्रतिकूल स्वेच्छापूर्वक कर्मों से अशुभ योनि, अशुभ फल और नरकादि लोकों की प्राप्ति होती है। 'कर्म का फल कब मिलता है ?' इसका उत्तर एकमात्र कर्मफल-प्रदाता ही दे सकता है। पुरुष का अधिकार कर्म करने तक ही है, फलाधिकार ईश्वर के हाथ है। कर्म का फल किस देश, काल, परिस्थिति या योनि में सम्भव है, इसे सर्वज्ञ ईश्वर ही जानता है और वही देता भी है। एक ही कर्म का फल दो पुरुषों में भिन्न-भिन्न भी देखा जाता है। जैसे कृषि एवं वाणिज्य में दो पुरुष समान रूप से प्रवृत्त होते हैं, एक के खेत में वर्षा होकर अन्न अधिक उत्पन्न होता है और दूसरे के खेत में वर्षा न होकर अन्न साधारण ही होता है। व्यापार भी

एक का अधिक चलता है और दूसरे का कम। कर्म एक ही, किन्तु फल में अन्तर। दोनों को समान लाभ होने पर भी एक उसका उपभोग करता है और दूसरा नहीं करता। यह भिन्नता क्यों होती है? इसका उत्तर भी पुरुष के पास नहीं है। अनन्त कोटि जन्मान्तरीय कर्म-फलोपभोग के संस्कार पुरुष में रहते हैं, यह संस्कार सभी के समान नहीं हैं। इसलिये कर्म-फलोपभोग में भी समानता सम्भव नहीं है।

जन्मान्तरीय शुभाशुभ कर्मों से जीव को जन्म और फलोपभोग मिलता है। शुभ कर्मों से सुन्दर, स्वस्थ शरीर, विद्या-विनय सम्पन्नता, धनादि साधनों से ऐश्वर्य और यश, मान एवं प्रतिष्ठादि की प्राप्ति होती है। यदि वह इस जन्म में अशुभ कर्म करता है, तो जन्मान्तरीय शुभ कर्मों के प्रताप से उनका फल नहीं देखा जाता, क्योंकि शुभ कर्म-फलोपभोग उसका प्रबल और निश्चित है। किन्तु अशुभ कर्म का फल अशुभ मिलना भी आवश्यकीय है, इसलिये शुभ कर्म-फलोपभोग के अनन्तर मिलेगा, इस जन्म में या आगामी किसी जन्म में। इसी प्रकार अशुभ कर्मों का फल दरिद्रता, रोग, कुरूपता, बुद्धिहीनता एवं अपयश, अपमान तथा अप्रतिष्ठा आदि पुरुष को मिलते हैं। ऐसा दीन-हीन पुरुष यदि शुभ कर्म करता है तो भी उसे शुभ फलोपभोग नहीं प्राप्त होता, क्योंकि अशुभ कर्मों के फलोपभोग पूर्व में निश्चित हो चुके हैं और वह प्रबल भी हैं। इन कर्मों के भोग के उपरान्त इसी जन्म में अथवा अन्य जन्म में उसे शुभ कर्म का फल अवश्य मिलेगा। इसका निर्णय सभी जन्मान्तरीय कर्मों का ज्ञाता और फल देने वाला ईश्वर ही कर सकता है, दूसरा कोई नहीं। सृष्टि में विभिन्नता के कारण कर्म ही हैं। सुख-दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयश आदि का मूल कारण कर्म ही है। कर्म के अनुसार ही परलोक-गमन, जन्म, भोग और पुनः आगमन होता है। जन्म-मरण का चक्र तब तक समाप्त नहीं होता, जब तक प्राणी कर्म करता है। जब अपने निष्कल एवं निष्क्रिय स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है, तब वह कर्म और जन्म-मरण के चक्र से विनिर्मुक्त हो जाता है।

कुछ लोग शंका करते हैं कि 'मृत्यूपरान्त शरीर यहीं पड़ा रहता

है और अग्नि में भस्म हो जाता है। ऐसी स्थिति में जिस पुरुष ने कामना की और शुभाशुभ कर्म किये उसको ही अन्य जन्म में फलोपभोग मिलता है, यह कहना ठीक नहीं। इस जन्म के कर्म और फलोपभोग तो उचित ही हैं, किन्तु इस जन्म तथा इस शरीरेन्द्रिय से किये कर्म अन्य जन्म और अन्य शरीरेन्द्रिय से भोग हों, यह सर्वथा असंगत है। ऐसा स्वीकार करने पर यज्ञदत्त के कर्मों का भोक्ता देवदत्त होगा। इसलिये एक शरीर के कर्मों का फल दूसरे शरीर में भोगना न्याययुक्त नहीं। श्रुति में तृणजलायुक के दृष्टान्त से बताया गया है कि यह कीट पूर्व तृण का परित्याग तब करता है, जब दूसरे तृण का आश्रय ले लेता है, इसी प्रकार जीव भी अन्य देह का ग्रहण कर पूर्व देह का त्याग करता है। इससे ज्ञात होता है कि जीव के लिये जब शरीर का निर्माण हो जाता है, तब वह देह का परित्याग करता है। ऐसी स्थिति में नवीन देह से ही भोग सम्भव होंगे, उस देह से नहीं, जिससे कर्म किये थे। इसलिये जन्मान्तरीय कर्मों का फल अन्य जन्म में नहीं मिलता।'

किन्तु यह शंका श्रुति-तात्पर्य से अनभिज्ञ पुरुषों को होती है, अभिज्ञ पुरुष ऐसा नहीं मानते। श्रुति का कथन है कि मरण काल में वागादि इन्द्रियां जीव के साथ हृदय में एकत्रित हो जाती हैं—**'अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति'** (बृ० ४-४-१)। जब वागादि इन्द्रियां हृदय में एकत्रित हो जाती हैं, तब वह कुछ नहीं बोलता, कुछ नहीं देखता, कुछ नहीं सूंघता, स्वादु नहीं लेता, सुनता नहीं और स्पर्श भी नहीं करता। मन और बुद्धि जब हृदय में एक रूप हो जाती हैं, तब कुछ मनन नहीं करता और जानता भी कुछ नहीं। किन्तु स्वप्नावस्था के समान हृदय में तेजोमात्राओं के ग्रहण के कारण उनके तेज और स्वयं आत्मज्योति से प्रकाशित होता है। आत्मज्योति के प्रकाश से प्रकाशित हृदय का द्वार—नाड़ीमुख अत्यन्त प्रकाशमान् हो जाता है। उस हृदय के द्वार से लिंगोपाधिक विज्ञानमय आत्मा निकल जाता है। यदि उसका ज्ञान या कर्म आदित्य लोक की प्राप्ति का कारण होता है, तो वह चक्षुद्वार से निकलता है। यदि ब्रह्म लोक की प्राप्ति का कारण होता है तो मूर्ध देश से निकलता है। इसी प्रकार ज्ञान एवं कर्मानुसार शरीर के अन्य अवयवों

से निकल जाता है—'**अस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः**' (बृ० ४-४-२)।

आगे श्रुति कहती है—

'**तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वेप्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।** (बृ० ४-४-२)

——उस विज्ञानात्मा के परलोक गमन करने पर उसके साथ ही प्राण उत्क्रमण करता है, प्राण के उत्क्रमण करने पर वागादि इन्द्रियवर्ग भी उत्क्रमण करते हैं। उस समय यह आत्मा स्वप्न के समान अपने कर्मवश विशेष विज्ञानवान् होता है, स्वतन्त्रता से विज्ञानवान् नहीं होता। इसका तात्पर्य है कि कर्म द्वारा उद्भूत अन्तःकरण की वृत्ति विशेष के आश्रित रहने वाले वासनात्मक विशेष ज्ञान से सविज्ञान होते हैं। जिसका जीवित अवस्था में अधिक चिन्तन होता है, उस वासना के अनुरूप उस समय 'अहंभाव' करता है, तदनुकूल ही अपने गन्तव्य स्थान को जाता है। उस आत्मा के साथ विहित-अविहित, प्रतिषिद्ध-अप्रतिषिद्ध विद्या और कर्म उसका अनुसरण करते हैं एवं अतीत कर्मफलानुभव की वासना—पूर्वप्रज्ञा भी साथ जाती है। निष्कर्ष यह कि जिस प्रकार स्वप्न में वासना के अनुसार अस्वतन्त्रता से कभी दरिद्र, कभी श्रीमान् और कभी आकाश में विचरण करते हुए, कभी जल में स्नान करते हुए विभिन्न रूपों में अपने को देखते हैं। वैसे ही कर्म तथा उपासना की वासना के अनुसार अन्तिम समय भी विशेष रूप का दर्शन करता है और उसमें ही 'मैं देव हूं' या 'मैं पशु हूं' आदि की भावना करने से उसी शरीर की प्राप्ति होती है। इसीसे गीता में कहा है—'**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर**' (८-७)—इसलिये प्रत्येक समय तू मेरा स्मरण कर। भगवत्स्मरण की वासना से मृत्यु समय भी इसी वासना का स्फुरण होगा और वासना के अनुसार भगवान् के स्वरूप में 'मैं यह हूं' की भावना होगी। तब वह भगवत्स्वरूप को ही प्राप्त हो जायेगा, '**मामेवैष्यस्यसंशयः**' (गी० ८-७) मेरे स्वरूप को ही प्राप्त हो जायगा, इसमें संशय नहीं। इसलिये सद्वासना का अभ्यास करना चाहिए।

'पैङ्गलोपनिषद्' में कहा है—

'कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि तत्तद्विषयान्प्राणान्संहृत्य कामकर्मान्वित अविद्याभूतवेष्टितो जीवो देहान्तरं प्राप्य लोकान्तरं गच्छति' (पै० २अ०)

—इसका तात्पर्य है कि मृत्युकाल में सम्पूर्ण कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, उनके विषय तथा प्राणों का उपसंहार कर, काम और कर्मयुक्त एवं अविद्या तथा पञ्चभूतों से आवेष्टित जीव अन्य देह की प्राप्ति के लिये लोकान्तर गमन करता है। इस श्रुति में स्पष्ट कहा गया है कि जीव के साथ मृत्यूपरान्त कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, विषय, प्राण, कामना, कर्म, अविद्या और पञ्चभूत सूक्ष्म रूप से जाते हैं। इनसे दूसरा नवीन शरीर निर्माण होता है और पूर्व देह के कर्मों का फलोपभोग करता है, क्योंकि कामना, इन्द्रियां और अविद्या की परम्परा अविच्छिन्न रूप से इस देह में भी विद्यमान है। इसलिये जिस लिंगदेह ने कामना की और जिस स्थूल देह ने कर्म किये, उसी ने रूपान्तर होकर फलों का भोग भी किया, दूसरे ने नहीं किया। अतः कर्म-परम्परा निर्दोष है।

'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' (ब्र० सू० ३-१-१)

—इस सूत्र से महर्षि वादरायण ने कहा है कि उस देह से अन्य देह की प्राप्ति में देह के बीजभूत भूतों के सूक्ष्म मात्राओं के साथ सम्बद्ध (जीव) जाता है, प्रश्न और उसके निरूपण से यह जाना जाता है। 'छान्दोग्य' में राजा प्रवाहण का प्रश्न है—**'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति'** (५-३-३)—पांच अग्नियों में आहुति किया गया जल पांचवीं आहुति होने पर जैसे पुरुष शब्द वाच्य होता है, उसे क्या तू जानता है ? श्वेतकेतु नहीं जानता था। तब राजा ने उसके पिता गौतम से कहा—**'असौ वाव लोको गौतमाग्निः'** (छा० ५-४-१)—हे गौतम ! वह द्युलोक अग्नि है, उसमें श्रद्धा नामक जल आहुति है। पर्जन्य रूप अग्नि में सोमरूप आहुति है, पृथिवीरूप अग्नि में वृष्टिरूप आहुति, पुरुष-रूप अग्नि में अन्नरूप आहुति और पांचवीं स्त्रीरूप अग्नि में रेतरूप आहुति है। इस प्रकार पांचवीं आहुति के प्रक्षेप होने पर जल (पुरुष)

संज्ञक होता है—'**इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति**' (छा० ५-९-१)। ऐसा निरूपण किया गया है। श्रद्धा का स्थूल रूप जल है और जल का अति सूक्ष्म रूप श्रद्धा। श्रद्धा कारण है और कार्य जल। श्रद्धा से सोम, वृष्टि आदि उत्तरोत्तर स्थूल होते हुए जल प्रचुर दिखाई देते हैं, इससे श्रद्धा जल ही है। 'श्रद्धा वा आपः' निश्चय श्रद्धा जल है, ऐसा प्रयोग भी सुना जाता है। अतः श्रद्धा नामक जल ही आहुति के द्वारा पुरुष होता है। जल की शरीर में प्रचुरता है, इससे जल का ग्रहण किया गया है। और जल में अन्य भूतों का सम्मेलन भी है। 'छान्दोग्य' के अनुसार भूतों का त्रिवृत्करण है और जहां 'तैत्तिरीय' आदि में पंचभूतों की उत्पत्ति कही गयी है, वहां भूतों का पञ्चीकरण है। इसलिये जल के कथन से सब भूतों का ग्रहण समझना चाहिए।

तृणजलायुक का दृष्टान्त जो ऊपर दिया गया है, उसमें भी कोई विरोध नहीं है। क्योंकि अविद्या, कामना, कर्म एवं भूतादि से परिवेष्टित जीव एक तृण से दूसरे तृण में जाने के समान एक देह से शरीरान्तर को अपनी फैली हुई वासना से ग्रहण कर अपना उपसंहार कर लेता है। जिस प्रकार स्वप्न में देह का निर्माण कर आत्मभाव कर लेता है, वैसे ही मृत्यु के समय भी वासना के अनुसार स्थावर-जंगम देह का निर्माण कर उसमें आत्मभाव कर लेता है। वहीं कर्मवश इन्द्रियां भी वृत्तियुक्त होकर संगठित हो जाती हैं और स्थूल शरीर का भी आरम्भ हो जाता है। फिर उसी में इन्द्रियव्यूह की अपेक्षा से वागादि इन्द्रियों का उपकार करने के लिए अग्नि आदि देवता भी आश्रय ले लेते हैं। अतः जिन भूतों से यह शरीर बना था, उन भूतों से ही दूसरा शरीर बनता है, इसलिये इस दृष्टान्त में कोई विरोध नहीं है। 'बृहदारण्यक' में कहा है कि जिस प्रकार सुवर्णकार सुवर्ण का भाग लेकर पूर्व रचना से भिन्न दूसरा नवीन और कल्याणतर रूप की रचना करता है, उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को जो पृथिवी से आकाश पर्यन्त पञ्चभूतों से निर्मित है, इसको नष्ट कर दूसरे देहान्तर को अर्थात् नवीन और कल्याणतर रूप—देह को रच लेता है। अपने कर्म एवं ज्ञान के अनुसार पितृ, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा अथवा अन्य भूतों के शरीर की रचना कर लेता है—

'तद् यथा पेशस्करी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायं आत्मेदं शरीरं निहत्या विद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वान्येषां वा भूतानाम् ।' (बृ० ४-४-४)

जन्म-मृत्यु सभी प्राणियों को समान मिलती है। किन्तु कर्मी पुरुष और उपासकों का परलोक गमन होता है। ज्ञानी पुरुषों का गमनागमन नहीं होता, वे जन्म-मृत्यु के चक्र से विलग ब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं। पञ्चाग्नि विद्या के ज्ञाता 'मैं अग्निज हूं—अग्नि का पुत्र हूं, द्युलोक, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और स्त्रीरूप अग्नियों से उत्पन्न हुआ अग्निरूप ही हूँ' जिनको ऐसा ज्ञान है और जो वन में निरन्तर निवास करने वाले वानप्रस्थ तथा संन्यासी श्रद्धायुक्त होकर ब्रह्म—हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं, वह देवयान मार्ग से जाते हैं। जो पुरुष अग्निहोत्रादि यज्ञ, दान और कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप करते हैं, वह पितृयान मार्ग से परलोक गमन करते हैं। इन दो मार्गों का वर्णन 'बृहदारण्यक' श्रुति करती है—'**द्वे सृती अश्रृणवं पितृणामहं देवनामुत मर्त्यानाम्**' (बृ० ६-२-२) मैंने दो मार्ग सुने हैं, उनमें एक मार्ग से पुरुष पितृलोक को प्राप्त करता है और दूसरे मार्ग से देवलोक को। इन मार्गों से मनुष्य ही जाते हैं, अन्य नहीं। देवयान मार्ग को ही उत्तरायण या शुक्ल गति भी कहा जाता है और पितृयान मार्ग को दक्षिणायण या कृष्णगति कहा गया है।

''पञ्चाग्नि विद्या के ज्ञाता गृहस्थ या वनवासी वानप्रस्थ तथा संन्यासी जिन्होंने हिरण्यगर्भ की उपासना की है, वह मृत्यु के अनन्तर 'ज्योति' के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। ज्योति के अभिमानी देवता से 'दिन' के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। दिन के अभिमानी देवता से 'शुक्लपक्ष' के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। शुक्लपक्षाभिमानी देवता से 'षण्मास' के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं, जिन छः मासों में सूर्य उत्तरायण दिशा में रहते हैं, उनके अभिमानी 'षण्मासाभिमानी' देवता को। षण्मासाभिमानी देवता से 'देवलोक' के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। देवलोकाभिमानी देवता से 'आदित्य' के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। आदित्याभिमानी देवता से 'विद्युत' के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं।

वैद्युत देवों के पास से ब्रह्मा-रचित एक मानस पुरुष आकर ब्रह्मलोकों को ले जाता है। वहाँ उपासक ब्रह्मा के अनेकों कल्पपर्यन्त निवास करता है, उसका इस संसार में पुनरागमन नहीं होता" (बृ० ६।२।१५)।

इस वर्णन में 'अर्चिः','अहः' आदि शब्द ज्योति तथा दिन के लिये आये हैं। यदि इनका अर्थ ज्योति तथा दिन आदि ही लिये जांय, तो उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि संन्यासियों का अग्नि से साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। दिन, शुक्लपक्ष या उत्तरायण के लिए भी कोई नियम नहीं हो सकता, क्योंकि आयु के क्षीण होने पर ही मृत्यु होती है। रात्रि, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायण में ही यदि पंचाग्नि वेत्ता या उपासक की मृत्यु हो तो क्या उसे उत्तरायण मार्ग की प्राप्ति न होगी ? यदि न होगी तो श्रुति का कथन ही मिथ्या होगा, क्योंकि श्रुति तो पंचाग्नि वेत्ता और सत्य—हिरण्यगर्भोपासक को ब्रह्म लोक की प्राप्ति कहती है। इस लिये इसका तात्पर्य है कि ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष तथा उत्तरायणादि के अभिमानी देवताओं के द्वारा वह ब्रह्मलोक तक जाता है। जिस प्रकार पृथिवी, जलादि तथा नेत्रादि के अभिमानी देवता हैं, उसी प्रकार ज्योति, दिन आदि के भी अभिमानी देवता होते हैं। ज्योति के अभिमानी देवता की जहां तक गति या सीमा है, वहां तक वह ले जाता है। उसके पश्चात् दिन के अभिमानी देवता उसको ग्रहण करते हैं, उनकी जितने ऊपर तक की सीमा है, वह ले जाते हैं। पश्चात् शुक्लपक्षाभिमानी देवता उसे आगे पहुँचाते हैं। इसी प्रकार वह ब्रह्मलोक ब्रह्मा के मानस पुरुष द्वारा पहुँचाया जाता है।

'ब्रह्मलोकान् गमयति' (बृ० ६।२।१५) ब्रह्मलोकों को ले जाता है। इसमें बहुवचन के प्रयोग से ज्ञात होता है कि ब्रह्म लोक अनेक हैं। नीचे-ऊपर की भूमि के भेद से ब्रह्मलोकों में भेद है। उपासना के तारतम्य से भी यह भेद सम्भव है। क्योंकि किसी उपासक ने अधिक काल तक उपासना की और किसी ने अल्पकाल तक, किसी की निरन्तर मनः स्थिति उपास्य में रही और किसी की व्यवधान पूर्वक रही। अतः जिसकी उपासना अधिक काल तक और निरन्तर रही, उसकी स्थिति ब्रह्मलोक में भी उच्च भूमि में होगी। जिसकी अल्पकाल और व्यवधान पूर्वक मनः स्थिति ब्रह्म में रही, उसकी ब्रह्मलोक में भी निम्न भूमि में स्थिति होगी।

इस प्रकार उपासक के तारतम्य के भेद के अनुसार अनेक ब्रह्मलोकों की कल्पना है। **'तेषां न पुनरावृत्तिः'** (बृ० ६।२।१५) उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती, इस लोक से उपासक पुनः मृत्युलोक में नहीं जाता। किन्तु अन्य श्रुति में **'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते'** (छा० ४-१५-५) इस मानव—मनु की सृष्टि के आवर्त में फिर नहीं आते, इससे प्रतीत होता है कि इस कल्प तक बह्मलोक में निवास करने के पश्चात् अन्य कल्प में उसकी आवृत्ति हो सकती है। यदि उसकी सर्वथा आवृत्ति न होती तो 'इमं मानवम्' विशेषण व्यर्थ हो जांयगे। इस कारण उसकी पुनरावृत्ति सम्भव है। यदि ब्रह्मलोक में ही उसे ज्ञान हो गया तो आवृत्ति नहीं भी हो सकती, वहीं मुक्ति हो जायगी। क्योंकि मुक्ति तो एक मात्र ज्ञान से ही होती है।

पितृयान मार्ग से वह पुरुष प्रयाण करते हैं 'जो अग्निहोत्रादि यज्ञ, दान एवं कृच्छ्रचान्द्रायणादि रूप तप से लोकों को जीतते हैं—**'अथ ये यज्ञेन दानेन तपसालोकाञ्जयन्ति'** (बृ० ६।२।१६)। वह धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि देवता को, रात्रि से कृष्णपक्षाभिमानी देवता को, कृष्णपक्ष से जिन छः मासों में सूर्य दक्षिण की ओर जाता है, उन षण्मासाभिमानी देवताओं को, षण्मासाभिमानी देवताओं से पितृलोक को और पितृलोक से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। चन्द्र में पहुंच कर वे अन्न हो जाते हैं। जिस प्रकार यज्ञ में ऋत्विग्गण सोमराजा को 'आप्यायस्व अपक्षीयस्व' कह कर चमस में भरकर पीते हैं, उसी प्रकार चन्द्रलोक को प्राप्त इन अन्नभूत कर्मियों को, स्वामी जिस प्रकार सेवकों से सेवा कराते हैं, वैसे ही देवगण उनका भक्षण—उपभोग करते हैं। जब सोमलोक की प्राप्ति कराने वाला यज्ञ, दानादि रूप कर्मक्षीण हो जाता है, तो फिर वे इस आकाश को ही प्राप्त होते हैं। आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को और वृष्टि से पृथिवी को प्राप्त होते हैं। पृथिवी को प्राप्त होकर वे धान, यव, ओषधि आदि अन्न हो जाते हैं। अन्न होने पर वीर्याधान करने वाले पुरुषरूप अग्नि में हवन किये जाते हैं। फिर वीर्यरूप हुये स्त्रीरूप अग्नि में हवन किये जाते हैं। तदनन्तर परलोक गमन के लिये उद्यत होकर जन्म लेते हैं, पुनः कर्म करते हैं और धूमादि मार्ग द्वारा पुनः-पुनः सोमलोक को जाते और यहां आते रहते हैं' (बृ०६।२।१६)।

चन्द्रलोक में आकर विविध प्रकार के भोगों का उपभोग कर्मी पुरुष करता है। जिस प्रकार राजा के उपजीवी परिजनों को भोग प्राप्त होते हैं, वैसे ही देवों के प्रति गुणभाव को प्राप्त हुये इष्टादि करने वालों को उपभोग प्राप्त होते हैं। स्वर्ग के लिये किये हुये कर्मों के भोग के उपरान्त उनका वहां से पुनरागमन होता है। जन्म, कर्म, मृत्यु आदि की परम्परा निरन्तर बनी रहती है, कभी इससे छुटकारा नहीं होता। स्वर्ग फलोपभोग निमित्तक कर्मक्षीण हो जाने पर भी अन्य शुभाशुभ कर्म विद्यमान रहते ही हैं। उन कर्मों के भोग के लिये पुनः उसे नीचोच्च योनियों में जन्म लेना पड़ता है। महर्षि वादरायण का कहना है—

'कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च' (ब्र०सू० ३।१।८)

—इष्ट आदि कृत कर्म के फलोपभोग के अपक्षय होने पर अनुशय—कर्म सहित ही जीव इस लोक में अवरोहण करते हैं। श्रुति तथा स्मृति में ऐसा ही प्राप्त होता है। प्रत्यक्ष श्रुति है—**'तद्य इह रमणीय चरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा'** (छा० ५।१०।७)

—उनमें जो यहां पुण्यकर्म करने वाले हैं, वे निश्चय ही रमणीय योनि—ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि या वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं और जो पाप कर्म करने वाले हैं वे अवश्य ही पापयोनि—श्वयोनि, सूकरयोनि या चाण्डाल योनि प्राप्त करते हैं। श्रुति में 'रमणीयचरणा' से पुण्यकर्म और 'कपूयचरणा' से पापकर्म कहे गये हैं। 'चरण' से कर्म यानी अनुशय का कथन है। विना कर्म के जन्म हो ही नहीं सकता। प्रत्येक प्राणी में विभिन्न प्रकार के उपभोग देखने में आते हैं, कोई सुखी, कोई दुःखी। इसका कारण अपने सुकृत और दुष्कृत के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। स्मृति भी सुनी जाती है—**'वर्णा आश्रमाश्चस्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेन विशिष्ट देश जाति कुलरूपायुः श्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते।'**—वर्ण तथा आश्रम वाले मरण के पीछे अपने कर्म में स्थित हुये कर्भफल का अनुभव करके उससे शेष कर्म द्वारा विशिष्ट देश, जाति,

कुल, रूप, आयु, ज्ञान, आचार, वित्त, सुख और मेधा वाले होकर जन्म प्राप्त करते हैं।

'वह कर्म कौन से हैं, जिनसे जीवों का अवरोहण होता है ?' इसके उत्तर में एक देशी का मत है, कि 'स्वर्ग के लिये किया गया कर्म, जिसका फल-भोग किया गया है, उसका कुछ अंश अवशेष रह जाता है, जैसे तेल से भरे हुये भाण्ड को खाली करने पर भी कुछ स्नेह शेष रह जाता है, वैसे ही सब कर्मों का भोग होने पर भी कुछ शेष रह जाते हैं, वही अनुशय हैं। जिससे जीवका अवरोहण होता है।' किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि जो इष्ट आदि कर्म स्वर्ग में फल देने वाले हैं, उनका शेष रहना युक्त नहीं। उन कर्मों का फल स्वर्ग में भोग है, उनसे अवरोहण मानना सर्वथा अनुचित है। तेल के भाण्ड में स्नेह की अनुवृत्ति तो देखने में आती है, किन्तु स्वर्ग में फलोपभोग वाले कर्म की अनुवृत्ति देखने में नहीं आती। क्योंकि सुकृत कर्म से स्वर्ग प्राप्त होता है, यदि उसका कुछ अंश शेष रह जाय तो यहां भी सुकृत कर्मानुसार रमणीय योनि ही प्राप्त होनी चाहिये। किन्तु श्रुति श्वान, सूकर तथा चाण्डाल योनि प्राप्त करने को भी कहती है। यह निकृष्ट योनि सुकृत कर्म की फल नहीं हो सकतीं। साथ ही शास्त्र उन कर्मों का फल स्वर्ग भोग कहता है, उससे भी विरोध होगा। इसलिये वह कर्म स्वर्ग में ही उपभुक्त हो जाते हैं। उन कर्मों के अतिरिक्त अन्य जो कर्म प्रबल होते हैं, उनके द्वारा जीव का अवरोहण होता है। अनन्त कोटि जन्मों के कर्मों का संग्रह जीव में रहता है, उनमें शुभ या अशुभ जो कर्म अति प्रबल होते हैं, वह पहले भोग के लिये उपस्थित हो जाते हैं। तदनुकूल जीव को शुभ या अशुभ योनि की प्राप्ति होती है।

जीव का अवरोहण अनुशय सहित होता है। जिस मार्ग से गया था, उस मार्ग से और अन्य मार्ग से भी आगमन होता है। सूत्र में 'यथेतम्' से यह सूचित किया गया है कि जैसे गये थे, वैसे ही और 'अनेवम्' से उसके विपरीत प्रकार से कहा गया है। धूमादि जो आरोहण क्रम कहा गया है, उससे अवरोहण कहा गया है इससे 'जैसे गया वैसे' कहा गया

और रात्रि आदि का आगमन में कथन न होने के कारण 'उसके विपरीत प्रकार से' कहा गया है।

'जीव स्वर्ग से आकाश में लौटता है, आकाश से वायु में, वायु होकर धूम होता है, धूम होकर अभ्र होता है, अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर जलरूप में पृथिवी पर गिरता है' (छा० ५।१०।५)। 'जीव आकाश आदि स्वरूप को प्राप्त होकर लौटता है या आकाश के सदृश स्वरूप को प्राप्त करता है?' इसका निर्णय सूत्रकार करते हैं—

'साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः' (ब्र० सू० ३।१।२२)

—उन आकाश आदि के साथ जीव का सादृश्य ही है, क्योंकि उपपत्ति है—चन्द्रलोक में गये हुये अनुशयी जीवों के फलोपभोग के अनन्तर कर्मक्षय के दर्शन से उत्पन्न शोकाग्नि द्वारा दृश्यमान जलमय शरीर बरफ के समान गलता हुआ आकाश के समान हो जाता है। पीछे पिण्डीकृत होकर अतिसूक्ष्म लिंग से उपहित वायु द्वारा इधर-उधर नीयमान होने से वायुसम होता है। वह अनुशयी जीव तत्क्षण वायुसम होता हुआ धूम को प्राप्त होकर तत्सम होता है। धूम तुल्य होकर अभ्रतुल्य होता है। अप अर्थात् जो जल को धारण करे वह अभ्र। 'मेहति' जो सिंचन करता है, वह वृष्टिकर्ता मेघ, तत्सम होकर वृष्टिधारा द्वारा पृथिवी में प्रवेश कर ब्रीहियवादि रूप होता है।

'जीव आकाश आदि से स्वल्प काल में ही आता है या दीर्घ काल तक अवस्थित होकर तब आता है?' इस पर सूत्रकार कहते हैं—

'नातिचिरेण विशेषात्' (ब्र० सू० ३-१-२३)

—स्वल्पकाल ही आकाश आदि के साथ समान रूप से रहकर वर्षा की धारा द्वारा पृथिवी में प्रवेश करता है। क्योंकि ब्रीह्यादि भाव की प्राप्ति के अनन्तर ही **'अतोवैखलु दुर्निष्प्रपतरम्'** (छा० ५-१०-६)—निश्चय ही, इससे निष्क्रमण विशेष कष्टदायक है। इस श्रुति से ज्ञात होता है कि ब्रीह्यादि भाव से प्राप्ति के पूर्व आकाश से मेघ पर्यन्त स्वल्पकाल में ही निष्क्रमण होता है, किन्तु ब्रीहि आदि प्राप्त होने पर दीर्घकाल में निष्क्रमण होता है।

'ब्रीहि, यव, ओषधि तथा वनस्पति आदि की प्राप्ति होने पर अनुशयी जीवों को स्थावर के सुख-दुःख का भान होता है या नहीं ? उनका स्थावर जन्म मुख्य है या स्थावर शरीरों में संसर्गमात्र है ?' इस पर वादरायण मुनि का कथन है—

'अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्' (ब्र० सू० ३-१-२४)

—अन्य जीवों से अधिष्ठित ब्रीहि आदि में अनुशयी जीव संसर्गमात्र प्राप्त करते हैं, उनके सुख-दुःख के भागी नहीं होते, पूर्व के समान। जैसे आकाश आदि का संश्लेषमात्र था, वैसे ही ब्रीहि आदि होना भी स्थावर जाति के साथ संश्लेषमात्र है। जैसे आकाश से प्रवर्षण तक श्रुति किसी भी कर्म-व्यापार का कथन नहीं करती, वैसे ब्रीहि आदि रूप से जन्म में भी किसी कर्म का कथन नहीं करती। इसलिये यहां अनुशयी जीव सुख-दुःख के भागी नहीं होते। जहां सुख-दुःख के भागी होते हैं, वहां उनका वर्णन है। ब्राह्मण आदि योनियों में कर्म का परामर्श होने से सुख-दुःख का भान होता है। इसलिये चन्द्रलोक से लौटे जीवों का स्थावर योनि में मुख्य जन्म नहीं है, संसर्गमात्र है। संसर्गमात्र होने से सुखादि के भागी भी नहीं होते। जिन जीवों को पापकर्म से स्थावर योनि प्राप्त होती है, उनका वह उपभोग स्थान है, उनको सुख-दुःख का भान होता है।

ब्रीहि, यव, धान्यादि भाव को प्राप्त अनुशयी जीवों को जो खाता है, जो वीर्य का आधान करता है, उसी के भाव को अनुशयी जीव प्राप्त हो जाता है। योनि में वीर्य के सेचन के पश्चात् उस योनि से सुख-दुःख रूप फल के उपभोग के लिये योग्य शरीर उत्पन्न होता है। क्योंकि **'तद्यइह रमणीयचरणाः'** (छा० ५-१०-७)——उनमें जो यहां रमणीय शील वाले हैं, से श्रुति कहती है। अतः ब्राह्मण आदि योनि में ही अनुशयी जीव का मुख्य जन्म है, अन्यत्र नहीं, यह कहते हैं इस सूत्र में—

'योनेः शरीरम्' (ब्र० सू० ३-१-२७)

पुरुष जो भी अन्न खाता है प्रथम मधुर, तिक्त, कषाय आदि छः प्रकार का रस बनता है। रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेदा, मेदा से स्नायु, स्नायु से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र बनता है।

ऋतुकाल में स्त्री-पुरुष संयोग से पुरुषस्थ शुक्र रूप से अनुशयी जीव का स्त्री में गर्भाधान होता है। स्त्री के गर्भ में पड़ा हुआ वीर्य एक रात्रि में 'कलल' होता है। सप्त रात्रि में 'बुद्बुद'। एक पक्ष में 'पिण्ड' के रूप का हो जाता है, एक मास में कठोर होता है और दो मास में शिर सम्पन्न होता है। तीन मास में पादप्रदेश का निर्माण, चतुर्थ मास में गुल्फ, जठर तथा कटि प्रदेश, पंचम मास में पृष्ठवंश और छठे मास में मुख, नासिका, नेत्र एवं श्रोत्रादि का निर्माण होता है। सप्तम मास में जीव का संयोग होता है तथा अष्टम मास में सम्पूर्ण लक्षण से युक्त हो जाता है। पिता के रेत की अधिकता से पुरुष, माता के रेत की अधिकता से स्त्री और पिता-माता का वीर्य सम होने पर नपुन्सक उत्पन्न होता है। मन व्याकुल होने से अन्धा, खञ्जा, कुब्ज तथा वामन सन्तान होती है। पंचकर्मेन्द्रिय, पंचज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरणपंचक तथा प्राण से युक्त होकर नवम मास में सर्वलक्षण सम्पन्न हो जाता है। पूर्व जन्मों के शुभाशुभ कर्मों का स्मरण करता है। सहस्रों पूर्व योनियों को देखता है और पश्चात्ताप करता है—'विविध प्रकार के आहार भक्षण किये, अनेक प्रकार के स्तनों का पान किया, उत्पन्न हुए, मरे और पुनः जन्म होकर मृत्यु हुई। परिवार के पालन के लिए नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्म किये, अकेले ही उन कर्मों का फल भोग रहा हूँ, शरीर दग्ध हो रहा है और दुःख रूप सागर में निमग्न होने से कोई उपाय भी नहीं दिखाई पड़ता। यदि गर्भ के बन्धन से मुक्त हुआ तो अशुभ विनाशक तथा मुक्तिफल प्रदायक महेश्वर के ही शरण जाऊंगा। नारायण का आश्रय लूंगा अथवा सांख्य तथा योग का अभ्यास करूंगा। इस योनि से बाहर निकलने पर दुष्कर्म विनाशक एवं मोक्षफल प्रदायक सनातन ब्रह्म का ध्यान करूंगा।' तभी योनि-द्वार से बाहर आ जाता है। जिस प्रकार गोल लघु छिद्र में सहस्रों आरे की नोंक के मध्य से निकलने पर चारों ओर से आरे की नोकों की वेदना होती है, वैसे ही योनि से निकलने पर महान् दुःख होता है। वेदना से मूर्छित हो जाता है और वैष्णवी वायु के संस्पर्श से न पूर्व जन्मों की स्मृति रहती है, न जन्म-मरण का ज्ञान और न शुभाशुभ कर्मों का भान ही रहता है। कर्मानुसार सुख-दुःखात्मक भोग भोगता है, शुभाशुभ कर्म

करता है और पुनः मृत्यु तथा जन्मादि की परम्परा में पड़कर अनेकों दुःख भोगता है ।

इस प्रकार इष्ट आदि कर्म करने वाले पुरुषों का पितृयान मार्ग से गमनागमन होता है और पञ्चाग्निवेत्ता तथा उपासकों के लिए देव यान मार्ग का विधान है । किन्तु जो न कर्मी हैं और न उपासक, उनकी गति या आगति कैसे होती है ? इस पर कुछ लोगों का कहना है कि 'कर्मी हो या अकर्मी सभी की समान गति और आगति होती है, क्योंकि पञ्चम आहुति से पुरुष के निष्पन्न होने की श्रुति है ।' किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि श्रुति-सूत्रादि में कर्मरहित पुरुषों के लिये तृतीय मार्ग का कथन है । सूत्र है—

'संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौतद्गतिदर्शनात्' (ब्र० सू० ३-१-१३)

—सब चन्द्रलोक में जाते हैं, ऐसा नियम नहीं है । क्योंकि भोग के लिये ही चन्द्र में आरोहण होता है, केवल प्रत्यवरोह के लिए नहीं होता । सुकर्मी पुरुष ही चन्द्रलोक जाते हैं और भोग के पश्चात् आते हैं । दुष्कर्मी पुरुष यमालय में अपने दुष्कर्मों का फलोपभोग कर फिर इस लोक में प्रत्यवरोहण करते हैं । श्रुति भी देखी जाती है—'**न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे** ।' (क० २-६)—अज्ञ, वित्तसेमूढ़, प्रमाद करने वाले को परलोक का उपाय नहीं सूझता, 'यह स्त्री, अन्न, पान आदि विशिष्ट लोक है, परलोक नहीं है', ऐसा मानने वाला मेरे वश में बार-बार आता है ।

'अपि च सप्त' (ब्र० सू० ३-१-१५)

—और भी पुराणों में रौरव, महारौरव, वह्नि, वैतरणी, कुम्भी, तामिस्रा और अन्धतामिस्रा नामक नरकों का दुष्कृत फलोपभोग के लिए वर्णन किया गया है । 'छान्दोग्य' श्रुति भी कहती है—

'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति, ज्यायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५-१०-८)

—इसके अनन्तर, इन दोनों विद्या और कर्म के मार्गों के साधनों में किसी एक भी साधन से जो पुरुष युक्त नहीं है, वे ये क्षुद्र जीव—दंश, मशक, कीट आदि बार-बार आवर्तन करने वाले होते हैं। वे जन्म लेते और मरते हैं, वह यह तीसरा स्थान है, इसलिये यह लोक नहीं भरता। गीता में भगवान् का कथन है—

'अनेक चित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥
(१६-१६)

—अनेक प्रकार के विचारों से भ्रान्तचित्त, अज्ञान रूप जाल से समावृत्त तथा विषय-भोगों में अत्यन्त आसक्त पुरुष भोगों द्वारा पाप का संचय कर वैतरणी आदि अशुद्ध नरकों में गिरते हैं। इस प्रकार पापियों के लिए नरक-भोग और वहां से आकर क्षुद्र कीट, पतंगादि योनियों में जन्म और मरण बार-बार होता रहता है।

निष्कर्ष यह कि अज्ञानावृत्त, सूक्ष्म एवं स्थूल देहाभिमानी जीव कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व से संयुक्त है। उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं है। जीव का वास्तविक स्वरूप अज्ञानावरण से रहित, स्थूल-सूक्ष्मादि सर्वोपाधि विवर्जित एवं कर्त्तापन-भोक्तापन से सर्वदा पृथक् है। ब्रह्म एवं जीव का किञ्चित् मात्र भेद नहीं है, जो ब्रह्म है वही जीव और जो जीव है वही ब्रह्म। ब्रह्म जिस प्रकार सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान, सच्चिदानन्द स्वरूप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप है, वैसा ही जीव भी है। वैसा ही नहीं, किन्तु जीव ब्रह्म ही है, केवल नाम मात्र भिन्न है। इन्द्रियादि करण स्वीकार करने से और उनकी प्रवृत्ति बाहर विषयों की ओर होने से आत्म दर्शन नहीं होता। यही कारण है जीव के दुःखी और जन्म-मरण शील होने का। जब कोई पुरुष इन्द्रियों को रोक कर बुद्धि द्वारा आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है और उसे यह निश्चय हो जाता है : कि 'मैं मरणधर्मा जीव नहीं, ब्रह्म हूं', तब वह मुक्त हो जाता है। जन्म-मरण, गमनागमन और

सुख-दु:ख के घटी यन्त्र से पृथक् होकर कूटस्थ, सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है। वह पहले भी मुक्त था केवल अज्ञानावरण का निवारण ज्ञान से होने पर शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वरूप का दर्शन होने लगता है। फिर उसका कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता।

एक बात और, जीव का स्वरूप वस्तुत: निरुपाधिक, चेतन एवं अखण्ड है। यही ज्ञातव्य तथा साध्य है। सोपाधिक स्वरूप मायिक तथा अध्यासजनित है। किन्तु सोपाधिक स्वरूप का भी उपयोग है। इस कर्म-ज्ञानेन्द्रिय, अन्त:करण और प्राणोपाधिक स्वरूप से ही निरुपाधिक, अखण्ड स्वरूप का ज्ञान होता है। अतः सोपाधिक स्वरूप साधन है तथा ज्ञान का आश्रय है। जिस प्रकार शरीर होने पर ही विषयपदार्थों का ज्ञान एवं उपभोग होता है, उसी प्रकार आत्मस्वरूप का ज्ञान एवं ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान भी शरीर रहते ही होता है। क्योंकि मन ही पुरुष को बन्धन में डालता है और मन के द्वारा ही पुरुष मुक्त होता है। इसीसे कहा है—**'मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:'** मनुष्यों के बन्ध-मोक्ष में मन ही कारण है। अशुद्ध मन बन्धनकारक है और शुद्ध मन मोक्ष प्रदायक। मन की शुद्धि वर्णाश्रम विहित निष्काम यज्ञादि कर्म एवं उपासना से होती है। मन-शुद्ध होने पर विवेकोदय होता है। तब आत्मज्ञान एवं ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति होती है। प्रत्यक्ष निर्विकल्प, निरुपाधिक, अखण्ड, सच्चिदानन्द स्वरूप के दर्शन होने पर सद्योमुक्ति होती है। इस कारण सोपाधिक स्वरूप साधन है एवं साध्य के प्राप्त करने में इसका महत्वपूर्ण योग है। वस्तुतः मानव-जन्म का यही उद्देश्य है।

—०*०—

४

उपासना खण्ड

इस खण्ड के कुछ आधार वाक्य

'तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरम-मृतमभयं परं चेति ।'

—प्रश्नोपनिषद् ५.७

'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा-कामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते ऽस्ति ।'

—छान्दोग्य उपनिषद् ७ १.५

'समे शुचौ शर्करावह्निवालुका विवर्जिते शब्दजलाश्रया-दिभिः । मनोनुकूले न तु चक्षुः पीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥'

—श्वेताश्वतर २.१०

'आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्'

—ब्रह्मसूत्र ४.१.१२

'ते य एवमेतद् विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपा-सते.........तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ।'

—बृहदारण्यक उपनिषद् ६.२.१५

'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः'

—ब्रह्मसूत्र ४.३.८

उपासना का उपयोग

वेदान्त शास्त्र में जीव और ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः जीव ब्रह्म ही है, किन्तु अज्ञान और शरीराध्यास के कारण अपने ब्रह्मस्वरूप का उसे भान नहीं होता। किसी परम कारुणिक ब्रह्मवेत्ता गुरु से यह जान कर कि 'तुम जन्म-मरणशील पुरुष नहीं हो, सब द्वन्द्वों से रहित, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप परब्रह्म ही हो' विचारवान् पुरुष को अपने ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है। किन्तु जो पुरुष विवेकी नहीं हैं, उनको सुनकर भी ज्ञान नहीं होता। अनेक जन्मों की वैषयिक वासना के कारण उनके चित्त मलिन होते हैं। वासना के अनुकूल चित्त में संकल्प, विकल्प, आलस्य आदि उदित होते रहते हैं। चित्त-चाञ्चल्य, प्रज्ञा-मान्द्य, विषयासक्ति, कुतर्क और विपरीत निश्चय आदि उन पुरुषों में होते हैं। जब तक इन दोषों का निवारण नहीं होता, तब तक ब्रह्मात्मज्ञान का प्रकाश नहीं होता।

मुख्यतः पुरुषों का विभाजन तीन कोटियों में किया जा सकता है—उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। उत्तम पुरुषों के लिए वेदान्त में 'ज्ञान' का विधान है। मध्यम पुरुषों के लिए 'उपासना' का और निम्न श्रेणी के पुरुषों के लिए 'कर्म' का उपदेश है।

रसनेन्द्रिय दूषित होने के कारण दूध पीने पर कड़ुवा लगता है और नेत्रेन्द्रिय में विकार होने से दो चन्द्र दिखायी देते हैं, उस पुरुष के लिए रसना और नेत्र-दोषों को दूर करना ही एकमात्र उपाय है। इसी प्रकार जिस पुरुष को अध्यात्मशास्त्र के श्रवण मननादि में रुचि नहीं होती, उसके कारण हैं अनेक जन्मों के महापातक। इन महापातकों की निवृत्ति होती है पुण्य से। तब उसे ब्रह्मात्मज्ञान में रुचि होती है। इसीलिये **'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन'** (बृ० ४-४-२२) ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन, यज्ञ, दान और अनाशक तप से ब्रह्म-ज्ञान की इच्छा करते हैं। इन वेदाध्ययन, यज्ञ एवं दानादि से पाप-समूह का विध्वंस होता है और पुण्य का संचय होता है। 'तप' शब्द से उपासना का भी ग्रहण किया गया है। तात्पर्य यह कि निम्न कोटि का पुरुष प्रथम वेदाध्ययन तथा यज्ञादि कर्मों को निष्काम भाव से करे। इससे मलिन वासना शिथिल पड़ती है और चित्त शुद्ध होने लगता है। तब वह ऊपर उठता है और कर्मों में उपासना का संयोग करता है। जब मध्यम कोटि में प्रवेश करता है तब उपासना की प्रधानता होती है। उपासना से विषयासक्ति, चित्तचाञ्चल्य, पाप-प्रक्षालन, पुण्योदय और अध्यात्म विद्या की अभिलाषा उत्पन्न होती है। तब उत्तम श्रेणी में प्रवेश कर ज्ञान का अधिकारी होता है और ज्ञानोपदेश से सद्योमुक्ति मिलती है।

कर्म और उसके फल का वर्णन जीव खण्ड में किया जा चुका है, यहां उपासना और उसके फल का निरूपण किया जा रहा है। 'उपासना' के दो अर्थ हैं—एक समीप रहना (उप-समीप, आसन-उपवेशन) और दूसरा स्थिति लाभ। चित्त वृत्ति को सम्पूर्ण भाव से उपास्य देवता में प्रवाहित या लीन करना ही 'उपासना' है। समान रूप से प्रत्यय का—धारणा का प्रवाह तैल धारावत् प्रवाहित होना ही सर्वोत्तम उपासना है। उपासना तीन प्रकार की है—१. कर्म समृद्धि के लिये, २. अभ्युदय के लिये और ३. क्रम मुक्ति के लिये। क्रमशः इनको ही कर्माङ्गोपासना, प्रतीकोपासना और अहंग्रहोपासना कहा जाता है। यहां यह कहा जा सकता है कि 'जब कर्माङ्ग तथा प्रतीकोपासना का फल कर्म समृद्धि और अभ्युदय है, तब उससे ब्रह्मात्म विद्या की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

'स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७-३-२)--वह जो मन की 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है, उसकी जहां तक मन की गति है वहाँ तक स्वेच्छा गति हो जाती है। इसी प्रकार अन्य उपासनाओं का भी फल कहा गया है, ऐसी स्थिति में ब्रह्म विद्याभिलाषा कैसे उत्पन्न हो सकती है ?' इसका उत्तर है कि काम्य कर्मों का जो फल है, उसका त्याग करने पर वह कर्म निरतिशय मोक्ष फल के लिए विद्या शेष होते हैं, उसी के समान उपासना का भी फल त्याग करने पर उपासना कर्म भी विद्याशेष होते हैं। जब निष्काम भावना से उपासना की जाती है, तो उसका फल चित्त की एकाग्रता, ब्रह्मज्ञानेच्छा और अन्त में निरतिशय मुक्ति होती है।

ब्रह्मात्मज्ञान के समान उपासना साक्षात् मोक्ष की साधिका नहीं है। उपासना से उपासक मृत्यु होने पर ब्रह्मलोक प्राप्त करता है और ब्रह्मलोक में ब्रह्मा जी के मुख से वेदान्त का श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन कर उनके साथ कैवल्य-प्राप्त करता है। अतः सबके लिए एकमात्र ज्ञान द्वारा ही कैवल्य मुक्ति कही गयी है, कर्म, सांख्य, योग तथा उपासना के द्वारा नहीं--

'अतएव ब्रह्मलोकस्था अपि ब्रह्ममुखाद्वेदान्त श्रवणादि कृत्वा तेन सह कैवल्यं लभंते। अतः सर्वेषां कैवल्यमुक्तिर्ज्ञानमार्गेणोक्ता। न कर्मसांख्य-योगोपासनादिभिरिति।' (मुक्तिकोपनि० १-५६)

तत्त्व ज्ञान से साधक श्रवणादि पूर्वक यहीं इसी जीवन में कैवल्य मुक्ति पाता है। मृत्यु के उपरान्त उसे किसी लोक में जाने की आवश्यकता नहीं है। **'न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति'** (बृ० ४-४-६) श्रुतिप्रमाण से उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते। वह **'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'** (मु० ३-२-९) के अनुसार ब्रह्म को जान कर ब्रह्म ही हो जाता है। अतः उपासना-द्वारा चित्त-शुद्ध होने पर ब्रह्मात्मज्ञान होता है और ज्ञान से मुक्ति होती है। इस लोक में तथा इसी जीवन में हो या मृत्यूपरान्त ब्रह्मलोक में जाकर हो, इसमें कोई अन्तर नहीं। यदि प्रकृष्ट उपासना के द्वारा यहीं चित्त शुद्ध हो जाता है और ब्रह्मज्ञान तथा श्रवणादि में तत्परता होती है तो

यहीं ज्ञान होकर मुक्ति-प्राप्त हो जाती है। यदि उपासना के द्वारा चित्त-शुद्ध नहीं होता और ब्रह्मज्ञान-श्रवण में भी रुचि तथा तत्परता नहीं होती तो ज्ञान प्राप्त नहीं होता। उसे उपासना के तारतम्य के अनुसार ब्रह्मलोक में सालोक्य तथा सारूप्य आदि मुक्ति मिलती है और चित्त शुद्ध होने पर ब्रह्मा के साथ उपासक भी मुक्त हो जाता है।

सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि तथा सारूप्य–चार प्रकार की मुक्ति ब्रह्मलोक में कही गयी है। उपासना द्वारा 'मैं मनुष्य हूँ' यह व्यवहार विस्मृत हो जाय (यद्यपि उपासना के समय दृढ़ और अदृढ़ दोनों प्रकार के उपासकों को अपने मनुष्य देह का विस्मरण रहता है तथापि व्युत्थान-दशा में भी जिसे विस्मरण रहे) तो वह विस्मरण दृढ़ कहलाता है। दृढ़ विस्मरण और उपास्य-स्वरूप में 'मैं यह हूँ' की उत्कृष्ट भावना से 'सारूप्य' मुक्ति मिलती है। 'मैं देव हूँ' की भावना उपास्य में दीर्घकाल तक हो और कभी-कभी 'मैं मनुष्य हूँ' यह भी भावना होती जाय, तो उस उपासक को 'सालोक्यं' मुक्ति मिलती है। सालोक्य मुक्ति कई प्रकार की है, सालोक्य में ही सामीप्य और सार्ष्टि अन्तर्भूत हैं। किसी पुरुष को मनुष्य-भावना अधिक समय तक अनेक बार होती है, किसी को स्वल्प समय तक मनुष्य–भावना होती है, किसी को एक बार ही अति स्वल्प समय तक मनुष्य की भावना रहती है। इस प्रकार मनुष्यत्व और देवत्व की भावना के उत्कर्ष–अपकर्ष के और भी भेद हो जाते हैं, उत्कर्षा-पकर्ष के अनुसार उनके फल सालोक्य आदि भी अनेक प्रकार के होते हैं। धनी-निर्धनी और सुखी-दुःखी के समान ब्रह्म लोक में भी उपासना के तारतम्य के अनुसार विविध सुख विशिष्ट जीव रहते हैं। उपासक की उत्कर्षापकर्ष भावना के अनुकूल फल मिलता है। यही कारण है कि उपासना कर्त्ता के अधीन है।

'अहं-ग्रह' उपासना से ही सालोक्य आदि मुक्ति प्राप्त होती है। प्रणव आदि में अहं-ग्रह उपासना होती है। जिन उपासनाओं में उपास्य के स्वरूप की प्राप्ति रूप फल कहा गया है, वह उपासनायें अहं-ग्रह रूपा हैं। कुछ प्रतीकों में भी अहंग्रहोपासना का वर्णन मिलता है, जैसे 'बृहदारण्यक' में अश्व-प्रतीक में विराट् की उपासना और अग्नि-प्रतीक में

भी विराट् की उपासना। क्योंकि इस उपासना में विराड्भाव की प्राप्ति कही गयी है और यह फल अहं-ग्रह के बिना हो नहीं सकता। किन्तु अन्य जिन प्रतीकों में यह फल नहीं है, उनमें अहंग्रहोपासना नहीं करनी चाहिये। अहं-ग्रह उपासना ही सब उपासनाओं में श्रेष्ठ है, इसी से ब्रह्म-लोक की प्राप्ति और मुक्ति मिलती है।

शालग्राम में विष्णु की उपासना के समान 'प्रतीक उपासना' है। नाम, वाक्, मन, जल, आकाश आदि प्रतीकों में ब्रह्म-भावना करना प्रतीक उपासना कही जाती है। इनका फल है–नाम की जहां तक गति है, वहाँ तक नामोपासक की स्वच्छन्द गति हो जाती है, इसी प्रकार वाणी, मन, जल और आकाश आदिक उपासनाओं का फल भी यही है कि वाणी, मन, जल और आकाश आदि की जहां तक गति है, वहां तक उपासक की गति स्वतन्त्रता पूर्वक हो जाती है। क्योंकि जिस प्रतीक में ब्रह्म-भावना की उसकी जहां तक सीमा है, वहां तक उपासक की स्वछन्द गति हो जाती है। नामादि की गति ब्रह्म तक नहीं है, इसलिये उसकी उपासना से उपासक ब्रह्म को नहीं प्राप्त कर सकता। प्रतीकोपासना की सिद्धि से उपासक का अभ्युदय होता है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु मुक्ति नहीं मिलती।

प्रतीकोपासक किसी एक ही प्रतीक की जीवन पर्यन्त उपासना करे या कई प्रतीकों की उपासना करे? इसका निर्णय 'वेदान्त दर्शन' में किया गया है। वहां कहा गया है कि प्रतीकोपासना अदृष्ट द्वारा फलकी हेतुभूत काम्य विद्याओं का यथेष्ट अनुष्टान करना चाहिये, अथवा नहीं भी करना चाहिये, क्योंकि विकल्प प्रयोजक हेतु का अभाव है--

'काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात्' (ब्र० सू० ३।३।६०)

तात्पर्य प्रतीकोपासना में ईश्वर साक्षात्कार नहीं होता जो नाम ब्रह्म है, ऐसी उपासना करता है, उसका नाम के सब विषयों में यथाकाम संचार होता है–**'यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकाम-चारो भवति'** (छा० ७।१।१५) इत्यादि प्रतीकोपासना में क्रिया के समान अदृष्ट आत्मा से फल प्राप्त होता है। एक प्रतीक का त्याग कर दूसरे प्रतीक को ग्रहण करने पर विक्षेप की शंका भी नहीं है, क्योंकि

पहले प्रतीक से उत्पन्न अपूर्व का नाश नहीं होता । इस लिये यदि उपासक एक ही फल का इच्छुक है तो एक ही प्रतीक की उपासना करे और यदि अनेक फल-प्राप्ति की कामना है तो अनेक प्रतीक की भी उपासना कर सकता है । इस उपासना में कोई नियम नहीं है, इस कारण एक या अनेक इच्छानुसार उपासना कर सकता है ।

किन्तु अहंग्रहोपासना में ऐसा नहीं है । इन उपासनाओं का विकल्प ही होना ठीक है, क्योंकि इनका वेद्य वस्तु के साक्षात्काररूप अभिन्न फल है--

'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्' (ब्र० सू० ३।३।५९)

उपास्य का साक्षात्कार करना ही इन उपासनाओं का फल है और जब एक ही उपासना से उपास्य ईश्वर का साक्षात्कार होता है, तब दूसरी उपासना का अनुष्ठान व्यर्थ है । यदि दो या अधिक उपासना का एक साथ अनुष्ठान किया जाय तो किसी भी उपासना की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि इससे विक्षेप होगा और चित्त-विक्षेप होने से कोई भी उपासना की सिद्धि नहीं होगी । जिस पुरुष को 'मैं ईश्वर हूँ' ऐसा साक्षात्कार हो जाता है और 'मैं ईश्वर हूँ या नहीं' ऐसा सन्देह नहीं रहता-- **'यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ति'** (छा० ३।१४।४,) वही ईश्वर को प्राप्त करता है । जीवित अवस्था में ही भावना से देवत्व का साक्षात्कार करके देहपात होने के पश्चात् देवों को प्राप्त करता है--**'देवो भूत्वा देवानप्येति'** (बृ० ४।१।२) । इस प्रकार अहंग्रह उपासना का फल ईश्वर का साक्षात्कार है और वह साक्षात्कार भावना के प्रकर्ष से ही होता है । भावना तभी हो सकती है जब चित्त में कोई विक्षेप न हो और चित्त का प्रवाह तैलधारावत् एक ही उपास्य में लगा हो । इसलिये अहंग्रहोपासना एक ही करनी चाहिये और जब तक उपास्य का साक्षात्कार न हो तब तक निरन्तर करते रहना चाहिये ।

प्रतीकोपासना के समान कर्माङ्गोपासना में भी कोई नियम नहीं है । **'न वा तत्सहभावाश्रुतेः'** (ब्र० सू० ३।३।६५) सूत्र में कहा गया है कि अङ्गाश्रित उपासनायें समुच्चित्त नहीं हैं, क्योंकि तीनों वेदों में विहित स्तोत्रादि अंगो का सहभाव जैसे सुना जाता है, वैसे उपासनाओं का सहभाव

नहीं है। इस लिये अपनी इच्छा के अनुसार उपासनाओं का समुच्चय अथवा विकल्प है।

यह तीनों प्रकार की उपासनायें सगुण ब्रह्म की हैं। अहंग्रहोपासना दोनों प्रकार की होती हैं। अर्थात् सगुण भी और निर्गुण भी। प्रतीक उपासना भी निर्गुण और सगुण कहीं-कहीं देखी जाती है। 'प्रश्नोपनिषद्' में ओङ्कार को पर और अपर कहा गया है। वहां बतलाया गया है कि उस ओङ्कार रूप आलम्बन के द्वारा ही विद्वान् उस लोक को प्राप्त करता है जो शान्त, अजर, अमर, अभय एवं सबसे पर है—

'तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति'
(प्रश्नो० ५।७)

महर्षि व्यासदेव ने भी **'ईक्षति कर्म व्यपदेशात् सः'** (ब्र० सू० १-३-१३) सूत्र में कहा है कि जो तीन मात्रा वाले ओंकार का परपुरुष रूप से ध्यान करता है—(**'यः पुनरेतंत्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत'** प्र० ५-५) यह ध्येयरूप से उपदिष्ट पर (निर्गुण) ब्रह्म ही है, अपर (सगुण) ब्रह्म नहीं। क्योंकि **'परात् परंपुरिशयं पुरुषमीक्षते'** (प्र० ५।५) पर से पर, शरीरप्रविष्ट पुरुष को देखता है। इस वाक्य शेष में ध्येय दर्शन विषय कहा गया है, कल्पित पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। पर पुरुष शब्द का मुख्य अर्थ परमात्मा ही है, क्योंकि अन्य श्रुति में भी कहा है—**'पुरुषान्नपरं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः'** (क० ३-११)—पुरुष से पर कुछ नहीं है वह परम अवधि है, वह परम गति है। **'परं चा परं च ब्रह्म यदोङ्कारः'** प्र० ५-२)—जो ओंकार है, वह पर और अपर ब्रह्म है, इस प्रकार विभाग द्वारा परब्रह्म को ही पर पुरुष श्रुति ने कहा है। जैसे सर्प केंचुल से विनिर्मुक्त होता है, इसी प्रकार वह पाप से विनिर्मुक्त हो जाता है—**'यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुच्यते'** (प्र० ५-५) इस प्रकार पाप से मुक्तिरूप फल का कथन यहां परमात्मा ध्येय है, ऐसा सूचित करता है। तात्पर्य ओंकार में निर्गुण परब्रह्म की उपासना से सूर्य द्वारा ब्रह्मलोक में जाकर, परब्रह्म का दर्शन करके उसी समय शान्त, अभय पर को प्राप्त करता है।

'आध्यानाय प्रयोजनाभावात्' (ब्र० सू० ३-३-१४)

सूत्र में कहा गया है कि 'कठोपनिषद्' में आया है कि 'इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः' (कठो० ३-१०) इन्द्रियों से अर्थ पर हैं, अर्थ से मन पर है और मन से बुद्धि पर है। 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठ० ३-११)—पुरुष से पर कुछ नहीं है, वह पर्यवसान है और प्रकृष्ट गति है। ध्यान जन्य साक्षात्कार के लिए पुरुष ही अर्थ आदि सभी से पर कहा गया है। इन्द्रिय से अर्थ पर हैं, यह ज्ञान स्वतः किसी फल का उत्पादक नहीं है। अतः ध्यानपूर्वक निर्गुण परब्रह्म ज्ञान के लिए ही इन्द्रियों से पुरुष तक पर का उपदेश है। निष्कर्ष यह कि यहां भी निर्गुण ब्रह्म का ध्यान कहा गया है और ध्यान से तत्व ज्ञान प्राप्त होकर परम मोक्ष प्राप्त होता है।

वस्तुतः ब्रह्म एक है, सगुण तथा निर्गुण भेद से दो नहीं हैं। ब्रह्म सकल धर्मों से शून्य है, इसलिए अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, अगुण, अरूप आदि निषेधक धर्मों से कहा जाता है और दुःखत्व, अल्पत्व, असत्व, जड़त्व आदि धर्मों का कोई ब्रह्म में अनुमान न कर ले इस कारण ब्रह्म को आनन्द, अनन्त, सत्य, ज्ञान आदि विधेयक धर्मों से उच्चारण किया जाता है। तात्पर्य ब्रह्म मन तथा वाणी का विषय नहीं है, फिर भी त्रिकालाबाधित है इसलिये 'सत्य' ब्रह्म कहा जाता है। दुःख-रहित होने के कारण 'आनन्द', जड़त्व से पृथक् है इसलिये 'ज्ञान' और सीमारहित होने से 'अनन्त' कहा जाता है। इन विधेयक धर्मों का सभी स्थानों में ब्रह्म में उपसंहार करना चाहिये—

'आनन्दादयः प्रधानस्य' (ब्र० सू० ३-३-११)

इसी प्रकार निषेधक 'अस्थूल', 'अगुण' आदि धर्मों का भी सर्वत्र उपसंहार करना चाहिए—

'अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्'
(ब्र० सू० ३-३-३३)

इस सूत्र में बतलाया गया है कि सामान्य और तद्भाव हेतुओं से अर्थात् द्वैत निरसन द्वारा सब स्थलों में ब्रह्म प्रतिपादन समान है और

सर्वत्र प्रतिपाद्य उस ब्रह्म का एक रूप से प्रत्यभिज्ञान भी है, अतः इन दो हेतुओं से ब्रह्म में निषेधक धर्मों का सर्वत्र उपसंहार करना चाहिए, औपसदवत् ।

यह दो प्रकार के ब्रह्म में स्वाभाविक धर्मों का कथन किया गया है। किन्तु जहां पर ब्रह्म में गुणों का वर्णन आया है, वहां ब्रह्म के वह स्वाभाविक धर्म नहीं है, औपाधिक धर्म हैं। जैसे **'तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'** (तै० २-५)—उस आनन्दमय आत्मा का प्रिय ही शिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनन्द आत्मा है और ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा है। इस श्रुति में जो प्रिय शिरस्त्व आदि ब्रह्म के धर्म कहे गये हैं, वह ब्रह्म के धर्म नहीं हैं, किन्तु कोश धर्म हैं। कोश-उपाधि के कारण ही ब्रह्म में इन धर्मों की कल्पना है, स्वतः ब्रह्म इन सभी धर्मों से अतीत है। परब्रह्म में चित्त को स्थिर करने के लिए उपायमात्र से इनकी कल्पना की गयी है। इसी प्रकार 'सत्यकामत्व' आदि धर्मों की कल्पना भी उपासना के लिए ब्रह्म में की गयी है। ब्रह्म के एक होने पर भी उपासना के भेद से धर्मों की विभिन्न प्रकार कल्पना की गई है। जैसे दो स्त्रियां एक राजा की उपासना करती हैं। एक छत्र से दूसरी चामर से। उपास्य एक ही राजा है तो भी उपासना का भेद और धर्म की व्यवस्था होती है। वैसे ही एक उपास्य ब्रह्म होने पर भी उपासना का भेद और धर्मों की व्यवस्था हो ज ती है। इस कारण उपासना के धर्मों का सर्वत्र उपसंहार नहीं है, जिस उपासना में जिन धर्मों का कथन है उनका उपयोग उसी में है, अन्यत्र नहीं।

सबका सार है कि पामर लोगों की अपेक्षा वह पुरुष श्रेष्ठ हैं जो वैदिक कर्मानुष्ठान में रत हैं। कर्म करने वालों से वह श्रेष्ठ हैं जो सगुणोपासना करते हैं। सगुणोपासना में कर्म समृद्धिवाली कर्माङ्ग उपासना से प्रतीक उपासना श्रेष्ठ है और प्रतीक से अहंग्रहोपासना उत्तम है। सगुणोपासना से भी श्रेष्ठ है निर्गुणोपासना। निर्गुणोपासना जब परिपक्व होने लगती है, तब यही सविकल्प समाधि का रूप ले लेती है। सविकल्प समाधि ही परिपक्व होने पर निर्विकल्प समाधि में परिणत हो जाती है।

निर्विकल्प समाधि में एकमात्र असंग, अभिन्न ब्रह्मस्वरूप ही शेष रह जाता है। जब उसमें 'मैं ही हूं' की भावना होती है, तब **'तत्त्वमसि'** (छा० ६-८-७)—वह तू है का तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है। ज्ञान उत्पन्न होने पर जन्म-मरण का बन्धन समाप्त हो जाता है, वह पुरुष जीवित अवस्था में ही मुक्ति का अनुभव करता है। इस प्रकार उपासना से ज्ञान और ज्ञान से परमानन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

जिस पुरुष की उपासना परिपक्व नहीं होती और बीच में ही मृत्यु हो जाती है, उसे या तो मरण काल में ही तत्त्व ज्ञान हो जाता है या ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। ब्रह्मलोक में तत्त्वज्ञान के उपदेश से उसकी मुक्ति हो जाती है। **'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं तं तमेवैति'** (गी०८-६)—प्राण वियोग के समय जिस जिस भाव का स्मरण करके पुरुष शरीर का त्याग करता है, उसी भाव को प्राप्त होता है। जीवित अवस्था में जिस कर्म या जिस भावना का पुरुष अत्यधिक चिन्तन करता है, मृत्यु के समय वासना रूप से वही उपस्थित होता है। उस वासना के अनुसार आगामी जन्म, कर्म, भावना एवं ज्ञान आदि पुरुष को प्राप्त होते हैं। सगुणोपासक को सगुण ब्रह्म की प्राप्ति और निर्गुणोपासक को निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। ब्रह्म लोक में सगुणोपासक का गमन होता है, निर्गुणोपासक का नहीं। उपासना के तारतम्य के अनुसार सालोक्य, सारूप्य आदि मुक्ति मिलती है और वहीं ब्रह्मज्ञान होकर ब्रह्मा के साथ मुक्त हो जाता है।

निश्चय ही उपासना का बड़ा महत्व है। उपासना से अनन्त कल्प, कल्पान्तरों के पापों का विध्वंस होता है, अनात्म बुद्धि शिथिल होती है, देहाभिमान गलित होता है, ईश्वर का साक्षात्कार होता है और परमानन्द दायिनी मुक्ति मिलती है। इस जीवन में सुख और सन्तोष मिलता है. मृत्यूपरान्त समस्त ऐश्वर्यों की प्राप्ति, स्वच्छन्द गति और अन्त में ब्रह्मानन्दार्णव में निमग्न हो जाता है। ऐसी महाभागा उपासना से जो पुरुष विरत हैं, उनमें और पशु में क्या अन्तर ?

——*——

बाह्य एवं आन्तरिक साधन

उपासना किस प्रकार करनी चाहिये ? और उसकी सिद्धि के लिये किन साधनों की अपेक्षा है ? आदि बातों का यहां विचार किया जाता है। प्रधानतः मानसिक दोषों को दूर करने के लिये उपासना सर्वोत्तम साधन है। मन जब तक अमनी भाव को नहीं प्राप्त होता, तब तक स्वरूप-दर्शन असम्भव है। मानसिक वृत्तियों (तरङ्गों) के कारण चित्त अत्यन्त चञ्चल होता है और चञ्चलता के कारण आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं दिखलाई देता, जैसे तरङ्गित जल में चन्द्रमा का स्पष्ट स्वरूप नहीं दिखाई देता। चित्त में चञ्चलता के दो कारण हैं—एक विषय भोगों की प्रबल वासना और दूसरा प्राणस्पन्दन। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धात्मक विषयों में जब पुरुष की शोभन दृष्टि हो जाती है, तब बार-बार विषय-भोगों की इच्छा होती है। उनके संस्कार मन में अङ्कित होते हैं, उनको ही 'वासना' कहा जाता है। वासना के कारण विषयों में मन जाता है, और प्राणों में स्पन्दन होता है। वासना के कारण ही जन्म-मृत्यु, भोग और प्राणस्पन्दन होता है। प्राणस्पन्दन से पुनः वासना की उत्पत्ति होती है और वासना से भोग, जन्म एवं मृत्यु का घटीयन्त्र के समान निरन्तर प्रवाह चलता रहता है।

रस्सी में बद्ध पक्षी कभी इधर उड़ता है और कभी उधर, इसी प्रकार प्राण से निबद्ध मन कभी किसी विषय की ओर उड़ान भरता है और कभी अन्य विषय की ओर। मन का चाञ्चल्य एक तो विषय-वासना के कारण होता ही है और दूसरे चञ्चल प्राण के कारण भी उसमें स्थिरता नहीं आती। मन में स्थिरता लाने के लिये प्राणों का निरोध और वासना का समूल उन्मूलन करना होगा। जब तक यह नहीं होता, तब तक मन का निरोध सम्भव नहीं और मन का निरोध न होने से आत्मदर्शन भी नहीं हो सकता। यद्यपि मन और प्राण सर्वथा पृथक् हैं, क्योंकि मन ज्ञानशक्ति है और प्राण क्रियाशक्ति। तथापि वासना के कारण सम्बन्ध हो जाने से परस्पर आश्रित हो रहे हैं। किन्तु यह भी सत्य है कि मन वासनारहित होने से चञ्चलता त्याग देता है और प्राण-निरोध होने से भी चञ्चलता नहीं रहती। यही कारण है कि योगी प्रथम प्राणायाम, आसनादि के द्वारा प्राण-निरोध पूर्वक मन का निरोध करते हैं और उपासक तथा ज्ञानी उपासना एवं साधन चतुष्टय के द्वारा मन का निग्रह करते हैं। प्राणस्पन्दन क्षीण हो चाहे वासना, दोनों में एक के क्षीण होने पर दोनों का निरोध हो जाता है। फिर भी प्राण-निरोध से वासना-विनाश श्रेष्ठ साधन है, इसी से ज्ञानी तथा उपासक प्राण-निरोध का विशेष प्रयत्न नहीं करते।

ज्ञान प्रतिपादक उपनिषदों में तथा 'वेदान्त दर्शन' में विषयों की विनश्वरता, वैराग्य, विवेक, शम, दम, उपासना आदि का वर्णन इसीलिये आया है कि वासना-विनाश होकर मन का निरोध हो। वहां प्राणायाम का कोई उल्लेख नहीं है। प्राण-निरोध पूर्वक मन का निरोध अस्थायी और एक देश में ही होता है। किन्तु उपासना आदि के द्वारा जो मन का निरोध होता है, वह स्थायी और सार्वदेशिक होता है। यही कारण है कि विवेकी पुरुष उपासना के द्वारा मन का निरोध उत्तम मानते हैं। संसार के चिन्तन का परित्याग, शरीर की विनश्वरता का दर्शन, अनासक्त होकर व्यवहार और परमात्मा का ध्यान करने से वासना का विनाश होता है। वासना के विनाश से चञ्चलता का निवारण और चित्त अचित्त

भाव को प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति आने पर प्राणस्पन्दन होते रहने पर भी चित्त में चञ्चलता नहीं होती।

एक बात और। वैराग्य, विवेक एवं उपासना में तब तक सफलता नहीं मिलती, जब तक सत्वगुण का उदय न हो। सत्व, रज एवं तमोगुणमय अन्तःकरण है। कर्मानुसार किसी पुरुष का अन्तःकरण तमोगुण प्रधान होता है, रज तथा सत्वगुण गौण रूप से रहते हैं। किसी में रजोगुण का प्राधान्य होता है, तम और सत्व गुण न्यून रूप में रहते हैं और किसी पुरुष में सत्व गुण प्रधान होता है, रज एवं तमोगुण गौण रूप से रहते हैं। तमोगुण प्रधान होने पर आलस्य, निद्रा, मादक पदार्थ का सेवन, वस्तु का विपरीत ग्रहण, अहंकार और आस्तिकता से रहित आचरण होते हैं। रजोगुण प्रधान होने पर चंचलता, कर्मों में प्रवृत्ति, विषय-भोगों में आसक्ति, ऐश्वर्य, मद, अभिमान आदि की वृद्धि होती है। सत्वगुण में प्रकाश, नित्य-अनित्य का विवेक, वैराग्य, शम, दमादि एवं उपासना, ज्ञान आदि का विकाश होता है। इसलिये कल्याणकामी पुरुष को सत्वगुण की अभिवृद्धि के लिये प्रथम प्रयत्न करना आवश्यक है।

गुणों की अभिवृद्धि के लिये दश पदार्थों को बताया गया है—

'आगमोऽपः प्रजाः देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः॥'

(भाग० ११-१३-४)

—शास्त्र, जल (जल से अन्न, फलादि का भी ग्रहण है), प्रजा, (प्रजा में पुत्र, परिवार आदि भी समझना चाहिए), देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दश वस्तुएँ यदि सात्विक हों तो सत्वगुण की, राजसिक हों तो रजोगुण की और तामसिक हों तो तमोगुण की वृद्धि करती हैं। इन वस्तुओं का प्रभाव प्रत्यक्ष है। यदि 'काम' प्रतिपादक ग्रन्थों का अध्ययन किया जाता है तो चित्त में काम-विकार उत्पन्न होता है। यदि अर्थ शास्त्र का अध्ययन होता है तो अर्थ-प्राप्ति के लिये मन में उत्कण्ठा होती है और यदि धर्म एवं मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन किया जाता है तो धर्म तथा मोक्ष के लिये रुचि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार

अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। इस लिये कल्याण-कामी पुरुष को सत्वगुण की वृद्धि के लिये सात्विक दश वस्तुओं का ही सेवन करना चाहिये, क्योंकि सत्वगुण की वृद्धि से धर्म की वृद्धि होती है और धर्म की वृद्धि से अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है :

'सात्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्वविवृद्धये।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत् स्मृतिरपोहनम् ॥' (भाग ११।१३।६)

'सत्वगुण की वृद्धि से धर्म की वृद्धि होती है' यहां 'धर्म' शब्द का अर्थ है—उपासना। क्योंकि समुचित क्रम दिया गया है—सात्विक पदार्थों के सेवन से सत्वगुण की वृद्धि, सत्वगुण की वृद्धि से उपासना में प्रवृत्ति, उपासना से अन्तःकरण की शुद्धि और अन्तःकरण की शुद्धि से ब्रह्मात्मा का ज्ञान होता है। स्वयं भगवान् का कथन है कि जब सत्वगुण की वृद्धि होती है, तब पुरुष को मेरे भक्ति स्वरूप 'धर्म' की प्राप्ति होती है :

'सत्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः।'

तात्पर्य सात्विक आहार, विहार, अध्ययन, मन्त्र, ध्यानादि होने पर सत्व-गुण का उदय होता है और सत्वगुण होने पर उपासना में प्रवृत्ति होती है। इस लिये उपासक को प्रथम आहार, विहार आदि में पूर्णरूप से सावधान रहना चाहिये। जिस प्रकार खेत में बीज बोने के पहले खाद देकर खेत बनाने पर ही उत्तम उपज होती है, वैसे ही अन्तःकरण में सात्विक गुणों के उदय होने पर ही उपासना में अच्छी प्रकार सफलता मिलती है।

उपासना में इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि 'प्रतीक' में अहंदृष्टि न हो। **'मनो ब्रह्मेत्युपासीत'** (छा० ३।१।८।१)—मन ब्रह्म है, ऐसी उपासना करनी चाहिये, यहां मन प्रतीक है। इसी प्रकार **'आकाशो ब्रह्मेति'** (छा०३।१८।१)—आकाश ब्रह्म है, इसमें आकाश प्रतीक है और **'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते'** (छा० ७।१।५)—वह जो नाम की ब्रह्मरूप से उपासना करता है, यहां नाम प्रतीक है। इसी प्रकार अन्य अनेक प्रतीकों में ब्रह्म की उपासना की जाती है। इसमें संशय है कि मन आदि प्रतीक में आत्मा का ग्रहण करना चाहिये अभिन्न रूप से या ब्रह्म का ग्रहण करना

चाहिये भिन्न रूप से ? कुछ लोगों का मत है कि ब्रह्म और जीव का अभेद है, इस लिये अहंग्रह उपासना होती है। मन आदि प्रतीक भी ब्रह्म-विकार हैं, इस लिये जीव से अभिन्न हैं, अतः प्रतीकों में 'अहं' रूप से ही उपासना करनी चाहिये। किन्तु यह पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि विकार का ब्रह्म के साथ स्वरूप से ऐक्य नहीं है। विकार के स्वरूप का नाश (बाध)होने पर ही नाम आदि ब्रह्म स्वीकार किये जाते हैं और नाम आदि के बाध होने पर उनमें प्रतीकत्व ही नहीं रहेगा, तब उपासना का हीउच्छेद हो जायगा। इस लिये प्रतीकोपासना में अहंग्रह नहीं करना चाहिये :

'न प्रतीके नहि सः' (ब्र०सू०४।१।४)

उपासक आत्म स्वरूप से भी प्रतीक का अनुभव नहीं करता है, इस लिये भी प्रतीक में अहंग्रह करना अयुक्त है। यद्यपि कण्ठहार और कंगन सुवर्ण रूप से एक हैं, तथापि उनमें रूप और स्थान-प्रयोग में भेद है। इसी प्रकार जीव और प्रतीक ब्रह्मरूप से एक हैं, किन्तु कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व और व्यवहारादि भेद होने से एक नहीं हैं। इस लिये प्रतीक में अभेदो-पासना सम्भव नहीं है।

'मन, नाम, आदित्य आदि प्रतीक ब्रह्म-विकार हैं। इसलिये विकार-दृष्टि से ब्रह्म की उपासना करना उचित है। आदित्य आदि दृष्टि से ब्रह्म की उपासना करने पर उपासना सफल होती है।' ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्यों कि ब्रह्म उत्कृष्ट है और प्रतीक निकृष्ट, निकृष्ट में उत्कृष्ट दृष्टि करने पर निकृष्ट की उत्कृष्टता होती है, अतः प्रतीक में ही ब्रह्म-दृष्टि करनी चाहिये :

'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्' (ब्र०सू० ४।१।५)

मन्त्री में राजा की दृष्टि करने से, राजा के समान स्वागत, सत्कार करने से, मन्त्री का उत्कर्ष होता है। इसी के समान प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि करने से प्रतीक का उत्कर्ष होता है, अतः आदित्य आदि प्रतीक में ही ब्रह्म-दृष्टि करनी चाहिये, ब्रह्म में प्रतीक दृष्टि नहीं। उत्कृष्ट में निकृष्ट दृष्टि करने से फल भी विपरीत सम्भव है, क्यों कि राजा में यदि कोई सामान्य कर्मचारी की दृष्टि करे तो राजा उसे सामान्य कर्मचारी के समान

ही फल देगा। इसी प्रकार यदि ब्रह्म में आदित्य आदि प्रतीक दृष्टि की जाय तो आदित्यादि के समान ही उसका फल होगा। और राजा के प्रतिनिधि मन्त्री में यदि राजा-दृष्टि की जाय तो राजा प्रसन्न होकर उपयुक्त फल देता है, इसी प्रकार ब्रह्म-विकार में ब्रह्म दृष्टि करने से ब्रह्म ही फल-प्रदाता होंगे, क्यों कि वही कर्माध्यक्ष हैं और उत्कृष्ट दृष्टि होने के कारण उपासक को उत्कृष्ट फल ही प्राप्त होगा।

उपासनाओं के स्वरूप ज्ञान के पश्चात् यह संशय होता है कि उपासना बैठ कर करना चाहिये या खड़े होकर अथवा सोकर करे या चलते हुये या जब इच्छा हो तब बैठकर और जब इच्छा हो तब खड़ होकर उपासना करे। इस पर महर्षि वेदव्यास का कहना है कि उपासना बैठ कर ही करना चाहिये, क्योंकि गमन आदि में विक्षेप होता है--

'आसीनः सम्भवात्' (ब्र० सू० ४।१।७)

कर्माङ्ग उपासनायें कर्म के साथ सम्बन्ध होने से कर्म के अधीन हैं, इसलिये वहां खड़े होकर या बैठकर अथवा जैसा प्रसंग के अनुसार वर्णन हो, उस प्रकार उपासना की जाती है। उसमें कोई एक नियम नहीं है। ज्ञान में भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि ज्ञान वस्तु के अधीन है। वस्तु सम्मुख हो तो बैठकर, खड़े होकर या लेट कर अथवा गमन करते हुए भी दर्शन हो सकता है। इसलिये ज्ञान में कोई नियम नहीं किया जा सकता। किन्तु प्रतीक या अहंग्रह उपासना की स्थिति दूसरी है। उसमें मन को सब ओर से खींचकर एक मात्र उपास्य-स्वरूप में ही केन्द्रित करना पड़ता है। उपास्य में तैल धारावत् एक ही प्रकार की मानसिक वृत्ति निरन्तर प्रवाहित होना ही 'उपासना' है। यह वृत्ति चलते हुये, दौड़ते हुये कभी भी सम्भव नहीं है, क्योंकि गति में मन की चञ्चलता अधिक होती है और मन के चञ्चल होने से एक ही प्रकार की वृत्ति नहीं रह सकती। यद्यपि मन और शरीर भिन्न हैं, तथापि शरीर के चञ्चल होने पर मन भी चञ्चल होता है, यह अनुभव सिद्ध है।

खड़े होने पर भी मन अनवस्थित रहता है, क्योंकि शरीर के धारण करने में मन व्यग्र रहता है। इस लिये सूक्ष्म वस्तु के निरीक्षण करने में

असमर्थ होता है। लेटे हुये व्यक्ति में निद्रा आने की सम्भावना रहती है, आलस्य रहता है, इस लिये मन का प्रवाह उपास्य-स्वरूप में निरन्तर रहना असम्भव है। बैठा हुआ व्यक्ति सरलता से उपासना कर सकता है और यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो उसका परिहार भी कर सकता है। बैठने पर भी देह स्थिर रहे, इसके लिये आसन के नियम की अपेक्षा है। आसन दो प्रकार के हैं—बाह्य और शारीर। गीता में बाह्य आसन का वर्णन इस प्रकार है—

'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिन कुशोत्तरम् ॥' (गी० ६।११)

—शुद्ध और एकान्त स्थान में अपने आसन को स्थिर भाव से स्थित करके, जो न अति ऊँचा हो और न अति नीचा। उस पर कुश, मृगचर्म और वस्त्र बिछाये। शारीरिक आसन का वर्णन श्रुति तथा योग शास्त्र में किया गया है। 'श्रीजाबालदर्शनोपनिषद्' में बताया है—

'स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीर सिंहासने तथा।
भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च ॥
सुखासनसमाख्यं च नवमं मुनिपुङ्गव।'

(जाबाल० ३-१-२)

—मुनि श्रेष्ठ! स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त, मयूर और सुखासन नव प्रकार के आसन कहे गये हैं।

आसन समतल भूमि में होना आवश्यक है, क्योंकि ध्यान में एक ही विषय में चित्त का प्रवाह होने से अङ्ग प्रशिथिल हो जाते हैं, दृष्टि स्थिर होती है और चञ्चलता का अभाव होता है। यदि भूमि ऊँची या नींची हो तो शरीर प्रशिथिल होने पर गिरने का भय हो सकता है, दृष्टि भी स्थिर नहीं रह सकती इस कारण मन भी चञ्चल होगा ही। ऐसी स्थिति में उपासना की सिद्धि असम्भव होगी, इसलिये सम भूमि में ऐसा आसन होना आवश्यक है कि सुख पूर्वक अधिक समय तक और अचञ्चल होकर बैठा जा सके। श्रुति में भूमि के लिये कहा गया है कि **'ध्यायतीव पृथिवी'**

(छा०७।६।१)—मानो पृथिवी ध्यान करती है, अचलता की अपेक्षा से ही भूमि में 'ध्यायति' शब्द का प्रयोग होता है। तात्पर्य जिस प्रकार भूमि अचञ्चल है, वैसे ही उपासक भी भूमि में आसन पर स्थिर होकर चञ्चलता रहित ध्यान करे। ध्यान में अन्य भी दृष्टान्त हैं—जैसे बगुला एकाग्र होकर मछली का ध्यान करता है, उस समय उसकी समस्त चेष्टायें क्रिया शून्य हो जाती हैं। इसी प्रकार पतिव्रता स्त्री विदेश-स्थित पति का ध्यान जब करती है, तब उसमें भी चञ्चलता का अभाव होता है, वैसे ही उपासक को भी एकाग्र और चञ्चलता रहित होकर उपास्य-स्वरूप का ध्यान करना चाहिये इसमें समतल भूमि, वाह्य आसन और शारीरिक आसन अत्यन्त सहयोगी हैं।

स्वस्तिक या पद्मासन आदि जिस आसन से सुख पूर्वक अधिक देर तक बैठा जा सके उसी आसन का प्रयोग करना चाहिये। जिस आसन में कष्ट हो, बलात् बैठने का प्रयत्न करना पड़े उस आसन से नहीं बैठना चाहिये। क्यों कि चित्त बार-बार आसन की ओर ही अभिमुख होगा, इससे चञ्चलता बढ़ेगी और उपास्यस्वरूप में मन कभी स्थिर न हो सकेगा। शरीर की स्थिति मन के अधीन है और मन जब शरीर की ओर होगा तो ध्यान कदापि न हो सकेगा। इसलिये शरीर, विषय और विशेष आसन की ओर से मन को सर्वथा हटाकर केवल उपास्य-स्वरूप में ही बगुला के समान मन का निरन्तर प्रवाह या मन को प्रतिष्ठित करना चाहिये। इस कारण उपासना में किसी विशेष आसन का आग्रह नहीं है। जिस आसन से अधिक काल तक और सुख पूर्वक स्थिर रह सके, वही आसन उत्तम है। ध्यान या निरन्तर मन की वृत्ति का प्रवाह एक ही प्रतीक में मुख्य है, आसन गौण है। आसन सहायक तथा अंग है और ध्यान अंगी तथा मुख्य है। इस लिये जिस आसन से ध्यान में सहायता मिलती हो, वही उत्तम है, उसी का प्रयोग करना उचित है।

वैदिक कर्मों में देश, काल और दिशा का विचार परमावश्यक है। प्रातःकाल पूर्वाभिमुख होकर सन्ध्या का नियम है, अपराह्न में पिण्डपितृ यज्ञ का नियम है और पूर्व दिशा में क्रमशः निम्न स्थल में वैश्यदेव का

नियम है। इस प्रकार दिशा, काल और देश का सर्वत्र नियम है, किन्तु उपासना वैदिक होने पर भी इसमें देश, काल तथा दिशा का कोई नियम नहीं है। इसका कारण बतलाते हुये महर्षि व्यास ने कहा है।

'यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्' (ब्र०सू० ४।१।११)

—जिस देश, काल तथा दिशा में मन की एकाग्रता हो, उस देशादि में उपासना करनी चाहिये, क्यों कि श्रुति में देश विशेष का श्रवण नहीं है। एकाग्रता ध्यान का प्रधान साधन है, देशादि नहीं। यदि ध्यान में किसी उपासक के लिये पर्वतीय देश उपयुक्त होता हो तो पर्वतीय देश का उपयोग कर सकता है और दूसरे उपासक को गुहा प्रदेश, तीसरे को गङ्गा-तट तथा चौथे व्यक्ति को नैमिषारण्य प्रदेश यदि सहायक प्रतीत होता हो तो उसका प्रयोग कर सकते हैं। किन्तु एक ही देश सभी उपासकों के लिये उपयुक्त हो, यह सम्भव नहीं। यदि एक ही देश का नियम हो तो किसी उपासक के मनोनुकूल देश न होने से मन एकाग्र न होगा और जब मन एकाग्र न होगा तो न ध्यान ही लगेगा और न समाधि ही। इस लिये देश विशेष का नियम उपासना में नहीं किया जा सकता। क्योंकि देश का महत्त्वपूर्ण स्थान होने पर भी मुख्यतः महत्व है एकाग्रता का। जहां मन एकाग्र हो, उसी देश में उपासना उपयुक्त है।

इसी प्रकार काल और दिशा का भी सम्बन्ध है। किसी का मन एकाग्र होता है प्रदोष काल में, किसी का रात्रि में और किसी का ब्राह्म-मुहूर्त में। दिशा पूर्व हो या पश्चिम अथवा उत्तर हो या दक्षिण जिस उपासक का मन जिस दिशा में अधिक एकाग्र होकर ध्यान में लगता हो, उसके लिये वही दिशा उपयुक्त होगी। तात्पर्य यह कि मन की एकाग्रता ही उपासना में प्रधान है, देश, काल या दिशा नहीं। इस लिये इनका विधान उपासना में नहीं किया जा सकता। इस पर कहा जा सकता है कि श्रुति में देशादि का कथन है, सम और पवित्र, सूक्ष्मपाषाण, वह्नि तथा रेती से वर्जित, शब्द और जलाशय आदि से वर्जित, मन के अनुकूल, मशकादि से रहित, गुहा सदृश निर्वात या एकान्त प्रदेश में बैठकर चित्त को परमात्मा में युक्त करना चाहिये :

'समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥'
(श्वे० २।१०)

यद्यपि इस श्रुति से देश विशेष का नियम सा प्रतीत होता है, तथापि उपासना में महत्व है एकाग्रता का, क्यों कि एकाग्रता आन्तरिक साधन है और ध्यान के सन्निकट है, जब कि देशादि बाह्य साधन हैं और ध्यान से दूर हैं। इस लिये सामान्य नियम देशादि का तो स्वीकार ही है, किन्तु यदि कोई स्थान मनोनुकूल न हो तो उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। विशेष नियम सामान्य से बलवान् होता है, विशेष नियम है मनोनुकूल और एकाग्रता। अतः जो देशादि मन के अनुकूल हों और जहां चित्त की एकाग्रता होती हो, उसी स्थान पर बैठ कर ध्यान करना उचित है। यदि देशादि का आग्रह किया जायगा तो चित्त में विक्षेप होगा और विक्षेप होने से न ध्यान लगेगा न समाधि की ही सिद्धि होगी। इस लिये एकाग्रता की ही प्रधानता है, जहां मन एकाग्र हो, ध्यान निरन्तर होता रहे, वही स्थान आदि उपासक के लिये परमोपयोगी हैं।

'उपासना में जिस प्रकार देश, कालादि का नियम नहीं है, वैसे ही जीवन पर्यन्त आवृत्ति का भी नियम नहीं है अर्थात् कुछ काल तक ध्यान करना चाहिये और फिर उसे छोड़ देना चाहिये। मरण समय तक उपासना करने की कोई आवश्यकता नहीं है।' किन्तु यह ठीक नहीं, महर्षि व्यास का निर्णय है कि मरण समय तक उपासना करनी चाहिये :

'आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्' (ब्र०सू०४।१।१२)

—इसका अर्थ है कि मरणपर्यन्त उपासना करनी चाहिये, क्योंकि **'स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति'** श्रुति के अनुसार पुरुष जैसे संकल्प विशेष वाला इस लोक से प्रयाण करता है, इसमें उपास्य के प्रत्यय की अनुवृत्ति देखी जाती है। अतः मरण पर्यन्त उपासना करनी चाहिये। भावी जन्म का हेतु अन्त्य प्रत्यय ही है, और वह वही हो सकती है जिसका मरण काल तक अभ्यास किया जाय, इस लिये जीवन भर उपास्य-प्रत्यय की आवृत्ति करनी ही चाहिये। जिस उपास्य देवता की निरन्तर जीवन पर्यन्त मानसिक वृत्ति से उपासना की जायगी मृत्यु के अनन्तर उपासक

उसी देवता को प्राप्त करेगा। इसलिये मरण पर्यन्त आवृत्ति करनी चाहिये। इस पर कोई यह कह सकता है कि 'ज्योतिष्टोमादि कर्म कुछ काल करने पर ही जिस प्रकार स्वर्ग-प्राप्त कराते हैं, वैसे ही उपासक को कुछ काल उपासना करने पर उपास्य देवता की प्राप्ति हो जायगी। अतः मरण समय तक उपासना करने की क्या आवश्यकता?' किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्योतिष्टोमादि कर्म में स्वर्ग फल कहा गया है, उसमें आवृत्ति का कथन नहीं है। उपासना में तो आवृत्ति का विधान है, गीता में कहा है :

'यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः॥' (गी०८।६)

—हे अर्जुन! यह पुरुष मरण काल में जिस जिस भाव का—देवता विशेष का—स्मरण करता हुआ प्राण वियोग काल में शरीर का परित्याग करता है, उसी देवता विशेष का सदा स्मरण करता हुआ उसी देवता विशेष को प्राप्त करता है। धारावाहिक रूप से उपासना प्रत्ययों का स्वरूपतः अनुवर्तन ही अन्त्य विज्ञान है, अदृष्ट द्वारा किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। कर्म दृष्ट द्वारा अन्त्य ज्ञानरूप फल में कारण नहीं हो सकते हैं, इसलिये अदृष्ट स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु उपासना में अन्य प्रत्यय की अपेक्षा नहीं है और जब दृष्ट उपाय उपलब्ध है तो अदृष्ट को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता? यदि कोई कहे कि 'सुख-दुःखादि सभी अदृष्ट से ही होते हैं, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि क्षुधा-निवृत्ति के लिये दृष्ट भोजन के प्रयत्न सभी करते हैं और इससे क्षुधा-निवृत्ति भी होती है। रोग के निवारण के लिये ओषधि का दृष्ट प्रयोग भी सभी करते हैं और सुख-प्राप्त करने के लिए भी दृष्ट प्रयत्न करने से सुख प्राप्त होता ही है। अतः दृष्ट उपाय उपलब्ध होने से मरण पर्यन्त उपासना कर्तव्य है, इसी प्रत्यय के अनुसार उपासक उपास्य को प्राप्त करेगा।

निष्कर्ष यह कि उपासना की सिद्धि के लिए वाह्य एवं आन्तरिक साधनों का पूर्णरूप से पालन करना अनिवार्य है। वाह्य साधन से आन्तरिक साधन में प्रविष्ट करना चाहिए, क्योंकि आन्तरिक साधन ही ध्यान के सन्निकट हैं, ध्यान से ही उपास्य की प्राप्ति होती है। यदि आन्तरिक

साधन में वाह्य साधन विघ्न प्रतीत होते हों तो उनकी उपेक्षा भी की जा सकती है, किन्तु आन्तरिक साधनों की उपेक्षा नहीं की जकती। निरन्तर मानसिक वृत्ति उपास्य स्वरूप में जब प्रवाहित होने लगे, तब अन्य आन्तरिक साधनों की भी उपेक्षा की जा सकती है यदि उनसे वृत्ति में विघ्न पड़ता हो। उपास्य-वृत्ति ही उपासना में प्रधान है, इसके लिए ही वाह्य एवं आन्तरिक साधनों को स्वीकार किया गया है। इसकी सिद्धि होने पर अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं है। फिर मरण पर्यन्त इसी वृत्ति में स्थिर रहने से उपास्य-स्वरूप को उपासक निश्चय ही प्राप्त करेगा।

जिस प्रकार स्त्री-प्रेमी पुरुष की वासना स्त्री में दृढ़ होने से उसे स्वप्न में भी विना प्रयत्न के ही स्त्री-दर्शन होता है। उसी प्रकार यदि उपासक निरन्तर उपास्य-स्वरूप ब्रह्म में भावना करे तो उसकी वासना-दृढ़ हो जाती है। वासना-दृढ़ होने पर स्वप्न में भी उपास्य-स्वरूप का ही दर्शन होता है और मृत्यु होने पर भी विना प्रयत्न के ही स्वाभाविक रूप से उपास्य का दर्शन होता है। उपास्य-दर्शन से उपास्य-लोक की प्राप्ति उपासक को होना अनिवार्य है। अतः जीवन में सदैव उपास्य-स्वरूप की उपासना कर्तव्य है। जितनी मानसिक भावना का उत्कर्ष होगा, उतनी ही उपासक को सफलता मिलेगी और उपास्य-लोक में उसकी भूमिका भी उत्कर्षमयी होगी। अतः भावना का महत्व सर्वाधिक है।

—०*०—

उपासक की उत्क्रांति

उपासना की सिद्धि होने पर मृत्यु के उपरान्त उपासक की उत्क्रान्ति होती है या नहीं ? यदि उत्क्रान्ति होती है तो कर्मी पुरुष के समान होती है या उपासक की उत्क्रान्ति में कुछ विशिष्टता है ? यदि नहीं होती तो आत्मज्ञानी और उपासक में अन्तर क्या है ? क्योंकि ज्ञानी पुरुष की उत्क्रान्ति नहीं होती। यदि उत्क्रान्ति होती है तो उसका क्रम क्या है ? आदि प्रश्नों का विचार यहां किया जा रहा है। ब्रह्मात्मज्ञानी का उत्क्रमण नहीं होता, क्योंकि वह जीवित अवस्था में ही ब्रह्मत्व प्राप्त कर लेता है। **'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'** (मु० ३।२।९)—ब्रह्म को जान कर ब्रह्म ही हो जाता है, इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है और ब्रह्म अनन्त, अखण्ड, अक्षर, अमर, अजन्मा एवं गमनागमनादि से रहित है। इसलिए ब्रह्मज्ञ पुरुष का किसी भी लोक में गमन नहीं होता। 'बृहदारण्यक' में आर्तभाग का याज्ञवल्क्य से प्रश्न है—**'यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाःक्रामन्त्याहो नेति'** (बृ० ३।२।११)—जब यह ब्रह्मवेत्ता पुरुष मृत्यु को प्राप्त होता है, तब उसके प्राण ऊर्ध्व को जाते हैं या नहीं ? इस पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—**'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः'**(बृ०३।२।११) याज्ञवल्क्य ने कहा कि प्राण उत्क्रमण नहीं करते। इस प्रश्नोत्तर

तथा अन्य श्रुतियों से भी ज्ञात होता है कि ब्रह्मज्ञ पुरुष का उत्क्रमण नहीं होता। उसके लिए किसी लोक विशेष में व्यवस्था नहीं है।

किन्तु उपासक के लिए ब्रह्म-लोक की व्यवस्था है, ब्रह्म-लोक प्राप्त करने के लिए उत्क्रान्ति और मार्ग भी होना अवश्यम्भावी है। 'छान्दोग्य' में उत्क्रमण का क्रम दिया है—

'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्‌मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्' (छा० ६।८।६)

—हे सोम्य! मरण शील पुरुष की वाणी मन में लीन होती है, मन प्राण में, प्राण तेज में, तेज पर देवता में लीन होता है। जब पुरुष की मृत्यु सन्निकट होती है। तब प्रथम वाणी का विलय मन में होता है और अन्त में सभी का विलय परमात्मा में। यदि इस प्रकार सभी पुरुषों की मृत्यु होती है, तो फिर सभी की मुक्ति भी होगी ही। क्योंकि अन्त में सभी परमात्मा में ही मिल जाते हैं। किन्तु ऐसा नहीं होता, अपने कर्म, ज्ञान और उपासना के अनुसार फलोपभोग के लिए अन्य जन्म लेना ही पड़ता है। इसलिए 'वाङ्‌मनसि' वाणी मन में लीन होती है, इसमें संशय है। इसके दो प्रकार के अर्थ हैं—'उच्यते अनेन'—जिससे कहा जाय इस प्रकार करण व्युत्पत्ति है और 'उक्तिःवाक्'—यह भाव व्युत्पत्ति है। यदि करण अर्थात् वाक् इन्द्रिय मन में स्वरूप से लीन होती है, तो ज्ञानी-अज्ञानी, पापी-पुण्यात्मा सभी की मुक्ति होगी और ऐसा होने पर शुभाशुभ कर्म, सृष्टि वैचित्र्य और पुनर्जन्म आदि शास्त्रीय सिद्धान्त का उच्छेद होगा। इसके अतिरिक्त वाक् का उपादान कारण मन नहीं है, इसलिए भी वाक् स्वरूपतः मन में नहीं लीन हो सकता, क्योंकि उपादान कारण में ही कार्य का विलय होता है। मृत्तिका से घट उत्पन्न होता है, इस लिए मृत्तिका उपादान कारण में घट कार्य लीन हो सकता है। किन्तु वाक् का उपादान कारण मन कहीं भी नहीं देखा जा सकता, इस लिये वाक् स्वरूप से मन में लीन भी नहीं हो सकता।

किन्तु अनुपादान में वृत्ति लीन हो सकती है। पार्थिव—भूमि से उत्पन्न—इन्धन से तैजस अग्नि की वृत्ति का उदय होता है और वह जल में उपशान्त होती देखी जाती है। इसी प्रकार वाक् इन्द्रिय का मन अनुपादान

है, उसमें वाक् की वृत्ति अर्थात् केवल व्यापार का विलय होता है, वाक् स्वरूप से मन में विलीन नहीं होता। इसी बात को व्यासदेव ने एक सूत्र में कहा है :

'वाङ् मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च' (ब्र० सू० ४।२।१)

—मन में वाग्वृत्ति का ही लय होता है, क्योंकि मन की वृत्ति के विद्यमान रहते ही वाग्वृत्ति का लय देखा जाता है और वृत्ति तथा वृत्तिमान में अभेद होने से वाक् शब्द का प्रयोग होता है अथवा 'उक्तिः वाग्' इस प्रकार भाव व्युत्पत्ति से वाक् शब्द वृत्ति परक माना जा सकता है। मन में केवल वाग्वृत्ति का ही विलय नहीं होता, किन्तु चक्षु आदि सभी इन्द्रियों की वृत्ति का विलय होता है। यही कहते हैं :

'अत एव च सर्वाण्यनु' (ब्र० सू० ४।२।२)

—उक्त दर्शनादि हेतुओं से ही सभी चक्षु आदि इन्द्रियां वृत्ति विशिष्ट मन में वृत्तिमात्र के लय से लीन होती हैं। रसना, नेत्र, श्रोत्र, नासिका, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों की वृत्ति और हस्त, पाद, वाक्, उपस्थ एवं गुदा पञ्च कर्मेन्द्रियों के व्यापार का भी मन में विलय होता है। श्रुति ने केवल 'वाणी मन में लीन होती है' यह कहा है, किन्तु यह सब इन्द्रियों का उपलक्षण मात्र है। वाणी से सभी इन्द्रियों का ग्रहण है। अन्य श्रुति में कहा है कि उत्क्रमण के अनन्तर स्वाभाविक तेज जिसका उपशान्त हो गया हो, वह मन में लीन होने वाले इन्द्रियों के साथ अन्य शरीर प्राप्त करता है :

'तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः' (प्र० ३।९)

इस श्रुति में सभी इन्द्रियों का समान लय मन में कहा गया है, अतः सम्पूर्ण कर्म एवं ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार का विलय मन में होता है। जब वाणी के व्यापार का विलय मन में होता है, तब मुमूर्षु पुरुष कुछ भी बोल नहीं सकता, हस्त तथा पाद इन्द्रियों की वृत्ति के लीन होने पर हाथ पैर के व्यापार नहीं होते, उपस्थ एवं गुदा-वृत्ति के लीन होने पर मूत्र एवं मलत्याग का व्यापार भी बन्द हो जाता है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध का ज्ञान भी पुरुष को कुछ नहीं होना जब उसकी

ज्ञानेन्द्रियां--कर्ण, त्वक्, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका के व्यापार का विलय मन में हो जाता है। उसके निकट उपस्थित व्यक्ति कहते हैं--'यह कुछ नहीं सुनता, कुछ नहीं देखता, कुछ भी खाता--पीता नहीं, गन्ध का ज्ञान भी नहीं है और किसी प्रकार के स्पर्श का भी अनुभव नहीं करता। निश्चय ही इसकी समस्त इन्द्रियां अपने व्यापार से निवृत्त होकर उपशान्त हो गयी हैं।'

समस्त इन्द्रिय-वृत्तियों के साथ मन भी प्राण में वृत्ति द्वारा लीन होता है, क्योंकि **'मनः प्राणे'** (छा० ६।८।६) मन प्राण में लीन होता है ऐसा आगे श्रुति में कहा गया है :

'तन्मनः प्राण उत्तरात्' (ब्र० सू० ४।२।३)

--मन प्राण में लीन होता है, क्योंकि श्रुति है। किन्तु मन स्वरूप से लीन होता है या वृत्ति से ? इसमें भी वाणी के समान संशय है। कुछ लोगों का आग्रह है कि 'मन स्वरूपतः प्राण में लीन होता है, क्योंकि प्राण मन की प्रकृति है और उपादान कारण में विकार का लय होना सिद्ध ही है। श्रुति ने ही कहा है-- **'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः'** (छा० ६।५।४)–हे सोम्य ! मन अन्न से बना है और प्राण जल से बना है। इस प्रकार मन अन्न से उत्पन्न हुआ और प्राण जल से उत्पन्न हुआ **'ता आप ऐक्षन्त······ता अन्नमसृजन्त'** (छा० ६।२।४)–उस जल ने ईक्षण किया, उसने अन्न की रचना की। इस प्रकार अन्न का उपादान कारण जल है, अतः मन का प्राण में जो लय होता है, वह अन्न का ही जल में लय होता है, क्योंकि मन अन्न है और प्राण जल। इस लिये मन का लय स्वरूप से ही प्राण में होता है।'

किन्तु ऐसा मानना अनुचित है, क्योंकि यदि स्वरूप से मन लय हो जायगा तो पुनर्जन्म होना सम्भव नहीं। तब तो मृत्यु के उपरान्त सभी की मुक्ति होगी, कृतकर्म का विनाश उपस्थित होगा और अकृत कर्म-फल प्राप्त होगा, जो सभी प्रकार से असंगत है। कर्मानुसार लोक-परलोक में पुरुष फल भोगता है और फल भोगने के लिये शरीर अनिवार्य है इसके लिए मन तथा इन्द्रियों का होना भी आवश्यक है, अतः इन्द्रिय वृत्ति के

समान मन की वृत्ति ही प्राण में लीन होती है, मन लीन नही होता । मन का उपादान प्राण नहीं है, अन्न का विकार मन है और मन की प्रकृति अन्न है एवं प्राण की प्रकृति जल है और जल का विकार प्राण है । इसलिए मन का उपादान अन्न है, अतः स्वरूप से मन अन्न में ही लीन हो सकता है। प्राण तथा मन दोनों ही जल और अन्न के विकार हैं, इस प्रकार परम्परा से सम्बन्ध होने पर भी साक्षात्, सम्बन्ध नहीं है । और परम्परा से जो उपादान है उसमें कार्य का विलय कहीं नहीं देखा गया है । इस कारण प्राण में मन के व्यापार का ही विलय होता है, स्वरूप से मन का विलय नहीं होता । मनोवृत्ति के विलीन होने पर न बाह्य किसी पदार्थ का ज्ञान होता है और न आन्तरिक ज्ञान की स्फूर्ति होती है ।

ज्ञान-कर्मेन्द्रियों की वृत्ति मन में लीन होती है और इन्द्रिय-वृत्ति सहित मन की वृत्ति प्राण में लीन होती है । दश ज्ञान-कर्मेन्द्रिय, मन और प्राण सहित सभी प्राण की वृत्ति द्वारा जीव में लीन होते हैं । इसी का प्रति पादन सूत्रकार करते हैं ।

'सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः' (ब्र० सू० ४।२।४)

—वह प्राण अविद्या, कर्म तथा पूर्वप्रज्ञा जिसकी उपाधि है, ऐसे विज्ञानस्वरूप अध्यक्ष में अवस्थित होता है । क्योंकि प्राण का उपगम, अनुगमन और अवस्थान जीव में श्रुत है । श्रुति में कहा है--**'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति'** (बृ० ४।३।३८)—इसी प्रकार अन्तकाल में जब ऊर्ध्व उच्छ्वासी होता है, तब सब प्राण—वाक् आदि इस आत्मा के अभिमुख जाते हैं, यह प्राणों का उपगमन है । **'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति'** (बृ० ४।४।२) जब विज्ञानात्मा परलोक प्रस्थान करता है, तब प्राण उसके पीछे उत्क्रमण करता है, यह प्राण का अनुगमन है । **'सविज्ञानो भवति'** (बृ० ४।४।२) --तब यह आत्मा विज्ञान वाला होता है, इस श्रुति में प्राण का अवस्थान जीव में दिखाया गया है । इसलिये प्राण जीव में विलीन होता है ।

यहां संशय होता है कि **'प्राणस्तेजसि'** (छा० ६।८।६)--प्राण तेज में लीन होता है, जब कहा गया है तब इसकी उपेक्षा कर विशेष रूप से 'प्राण जीव में लीन होता है', यह क्यों कहा गया ? इस पर सूत्र है--

'भूतेषु तच्छ्रुतेः' (ब्र० सू० ४।२।५)

--तेज आदि पञ्चमहाभूतों के सूक्ष्मांश से उपहित जीव में प्राण वृत्ति का लय होता है। इसी अर्थ की प्रकाशिका **'प्राणस्तेजसि'** (छा०-६।८।६)—प्राण तेज में लय होते हैं, यह श्रुति है। इस प्रकार दोनों श्रुतियों की संगति है। एक श्रुति में प्राण का जीव में लय होना कहा है और दूसरी में जीव के द्वारा प्राण का तेज में लीन होना कहा है। क्योंकि जीव की उपाधि तेजादि भूत हैं, इसलिए प्राण जीव में और प्राण सहित जीव तेजादि भूतों में लीन होता है। जैसे लखनऊ से हरिद्वार होकर ऋषिकेश जाना कोई कहता है और कोई लखनऊ से ऋषिकेश जाना ही कहता है। लखनऊ से ऋषिकेश जाने वाला भी हरिद्वार होकर ही जाता है, वैसे ही एक श्रुति प्राण से तेज में सीधे लीन होने को कहती है और दूसरी श्रुति मध्य में जीव का भी कथन करती है। अतः कोई विरोध नहीं है, प्राण मन तथा इन्द्रियों की वृत्ति सहित जीव में लीन होता है और प्राणयुक्त अध्यक्ष जीव का अवस्थान तेज आदि पञ्च भूतों के सूक्ष्मांश में होता है।

कर्मानुसार जीव के शरीर धारण में पञ्चमहाभूत ही कारण हैं, अतः जीव भूतों से सम्बद्ध रहता है। जिस नवीन देह की उत्पत्ति होती है, उसमें प्राचीन भूत, इन्द्रियां, मन, प्राण और जीव ही कारण हैं। न नवीन भूतों से स्थूल देह बनता है, न इन्द्रियां, मम एवं प्राण ही कोई नवीन होते हैं, सभी प्राचीन का ही रूपान्तर होता है। इस लिए जब तक मोक्ष नहीं होता, तब तक सभी जीव से सम्बन्ध रहते हैं। जीव के जन्म का निमित्त कारण कर्म है और उपादान कारण भूत। मोक्ष होने पर ही कर्म तथा भूतादि से रहित होकर जीव का पुनर्जन्म नहीं होता। मरणोपरान्त अज्ञानी जीव के संग सूक्ष्म भूत, इन्द्रियां, मन और प्राण जाते हैं एवं उत्पन्न होने पर उनके द्वारा ही शरीर-निर्माण होता है और भोग भी भोगे जाते हैं।

श्रुति में जो कहा गया है कि 'तेज पर देवता में लीन होता है' इसका तात्पर्य भी यही है कि जब तक मोक्ष नहीं होता, तब तक तेज आदि भूत जो श्रोत्रादि इन्द्रियों के आश्रय हैं, वह अवस्थित रहते हैं।

जैसे सुषुप्ति में समस्त इन्द्रियां परदेवता में लीन होती हैं किन्तु बीजभाव अवशेष रहता है, उसी से पुनः जाग्रत् अवस्था में जीव आता है। वैसे ही मृत्यु के उपरान्त तेज आदि सहित जीव पर देवता में अनात्यन्तिक ही लीन होता है और कर्मानुसार पुनर्जन्म आदि होते हैं। अज्ञान से उत्पन्न बन्धन सम्यग् ज्ञान के बिना विनष्ट नहीं होता। इसलिए परदेवता में जो तेजादि का लीन होना कहा है, वह आत्यन्तिक जीव का लय नहीं है, इन्द्रियों की वृत्ति के समान ही पर देवता में जीव आदिकालय है, स्वरूप से विलय नहीं है।

मृत्यु काल उपस्थित होने पर प्रत्येक व्यक्ति का चाहे वह कर्मी हो या उपासक एक ही प्रकार से प्राणोत्सर्ग होता है। बाह्य इन्द्रियों का प्रथम मन में वृत्तिलय होता है, मनोवृत्ति का प्राण में लय होता है और प्राणवृत्ति का भूतों की उपाधि वाले जीव में लय होता है। महर्षि वेद व्यास ने यही निर्णय किया है—

'समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य' (ब्र० सू० ४।२।७)

—इसका अर्थ है कि देवयान मार्ग के उपक्रम से पूर्व जो उत्क्रान्ति है, वह विद्वान् और अविद्वान् दोनों की समान है। 'अमृतत्वं हि विद्वानश्नुते' श्रुति के अनुसार विद्वान् मोक्ष पाता है—यह कथन आपेक्षिक है। क्योंकि अविद्या आदि क्लेश समूह का विनाश न कर जो अमृतत्व है, वह अपेक्षा कृत है।

कर्मी या अविद्वान् पुरुष कामना तथा कर्म आदि से प्रेरित अन्य शरीर धारण करने के लिए पुनः संसार में आता है, इसलिए शरीर के बीजरूप सूक्ष्मभूतों का आश्रय लेता है। उपासक या विद्वान् पुरुष उपासना की सामर्थ्य से प्रकाशित मोक्षनाडी द्वार का आश्रयण करता है। ब्रह्मज्ञानी के समान उपासक अज्ञान, कामना आदि को सम्पूर्ण रूप से ज्ञानाग्नि में दग्ध नहीं करता, इसीलिए निरपेक्ष मोक्ष भी नहीं पाता। वह अपर विद्या के सामर्थ्य से आपेक्षिक अमृतत्व प्राप्त करने की इच्छा करता है। इसी लिए मार्ग का उपक्रम और भूतों का आश्रय लेना पड़ता है, क्योंकि आश्रयरहित प्राणों की गति नहीं हो सकती।

जीव मृत्यु के समय इन्द्रिय, मन, प्राण एवं सूक्ष्मभूतों-सहित शरीर से बाहर जाने के लिए हृदय में स्थित होता है। हृदय का अग्रभाग—नाडी-मुख—प्रकाशित होने लगता है तात्पर्य भावी फल-प्राप्ति के अनुकूल प्रकाशस्वरूप स्फूर्ति नाडी विशेष में होने लगती है। विद्या, कामना, कर्म, वासना आदि के अनुसार जीव चक्षु से, मूर्धा से या अन्य शरीर प्रदेश की नाडी के मुख से निर्गमन करता है—**'आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्योवा शरीरदेशेभ्यः'** (बृ० ५।४।२)

उपासक का निर्गमन मूर्धा नाडी द्वारा होता है, अन्य व्यक्तियों का चक्षु आदि नाडी द्वार से होता है। ब्रह्मसूत्रकार ने कहा है—

'तदोकोग्रज्वलंन तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृति-योगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया' (ब्र० सू० ४।२।१७)

—उत्क्रमणशील जीव के आधारभूत हृदय का ऊर्ध्वभाग पहले विकसित होता है और उस प्रकाश से देवयानादि मार्ग का प्रकाश विद्वान् तथा अविद्वान् दोनों को होता है। विद्वान् मूर्धस्थान से निर्गमन करता है और अविद्वान् अन्य मार्ग से। सगुण विद्या की शेषभूत गति अर्थात् मूर्धन्यनाड़ी मार्ग के ध्यान का विधान होने से उपासक मूर्धन्यनाडी से ही गमन करता है। दीर्घ समय और नैरन्तर्य आदि दृढ़ता से सेवित हार्द-ब्रह्म से अनुग्रहीत विद्वान् एक सौ एकवीं मूर्धन्य नाडी से निष्क्रमण करता है।

एक सौ एक नाडियों में केवल एक सुषुम्ना नामकनाडी से जब प्राण निकलते हैं, तब प्राणी ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। यह नाडी हृदय से निकलती है, हृदय से दक्षिण नेत्र, तालु, कण्ठाध, स्तन, नासिका मध्यभित्ति से ब्रह्मरन्ध्र को जाती है और सूर्य की किरणं से एकीकृत उपासक को ब्रह्मलोक का मार्ग प्रदान करती है।

सूर्य की किरणों और नाडियों का सम्बन्ध 'छान्दोग्योपनिषद् ८।६।१-२ में बतलाया गया है। वहां कहा गया है कि 'हृदय की नाडियां पिंगलवर्ण और सूक्ष्म रस की हैं। वे शुक्ल, नील, पीत और लोहित रस की हैं, क्योंकि आदित्य पिङ्गलवर्ण है, शुक्ल है, नील है, पीत है और लोहितवर्ण है।

जिस प्रकार कोई विस्तीर्ण महापथ समीप और सुदूर दोनों ग्रामों को जाता है, उसी प्रकार ये सूर्य की किरणें इस पुरुष में और उस आदित्यमण्डल में दोनों लोकों में प्रविष्ट हैं। वे निरन्तर इस आदित्य से ही निकली हैं और इन नाडियों में व्याप्त है तथा नाडियों से व्याप्त होकर फैलती हुई आदित्यमण्डल में प्रवेश करती हैं।'

सूर्य की रश्मियों के द्वारा ही जीव कर्मानुसार ऊर्ध्वलोक या अधोलोक जाता है। विद्वान् पुरुष सुषुम्ना नाम्नी नाडी से निष्क्रमण कर सूर्य-रश्मि से आदित्य मण्डल जाता है। आदित्य लोक निश्चय ही ब्रह्मलोक का प्रसिद्ध द्वार है, उस द्वारभूत आदित्य के द्वारा विद्वान् ब्रह्मलोक को जाता है—**'एतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनम्'** (छा०८।६।५) अविद्वान् पुरुष सौर तेज के द्वारा देह में ही निरुद्ध होकर मूर्धन्यनाडी से उत्क्रमण नहीं कर सकते।

सूर्य-रश्मियों का नाडी से सम्बन्ध निरन्तर रहता है, दिन हो या रात्रि। कुछ लोग कह सकते हैं कि 'सूर्य के उदय होने पर ही रश्मियां होती हैं और सूर्य का प्रकाश दिन में ही होता है। इसलिये दिन में मृत पुरुष का सम्बन्ध सूर्य की रश्मियों से हो सकता है, रात्रि में मृत पुरुष का सम्बन्ध सूर्य-रश्मियों से नहीं हो सकता।' किन्तु यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि उपासक की मृत्यु दिन में ही हो, रात्रि में न हो, इसका कोई बन्धन नहीं है। प्रारब्ध कर्म क्षीण होने पर मृत्यु दिन में भी हो सकती है और रात्रि में भी। यदि रात्रि में मृत्यु हो गई और सूर्य-किरणों से नाडियों का सम्बन्ध नहीं है तो उपासक को ब्रह्मलोक प्राप्त न होगा। ऐसी स्थिति में उपासक की जीवन पर्यन्त उपासना ही व्यर्थ हो जायगी और श्रुति का कथन भी मिथ्या होगा। किन्तु यह किसी को अभीष्ट नहीं, न तो श्रुति-प्रतिपादित ब्रह्मलोक की प्राप्ति का मिथ्यात्व हो सकता है और न जीवन पर्यन्त उपासना ही व्यर्थ हो सकती है। इसलिए सूर्य-किरण एवं नाडी का सम्बन्ध निरन्तर रहता है, दिन और रात्रि का कोई प्रश्न ही नहीं। श्रुति ने स्पष्ट कहा है—

'अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः' (छा० ८।६।२)

—रश्मियां उस आदित्यमण्डल से फैलती हैं और इन नाडियों में प्रवेश करती हैं एवं नाडियों से फैलती है और वे उस आदित्यमण्डल में प्रवेश करती हैं। इस प्रकार जब तक शरीर है, तब तक नाडी और किरण का सम्बन्ध रहता है। मेघ से आवृत्त आदित्यमण्डल होने पर दिन में भी प्रकाश नहीं रहता, तब क्या दिन में भी किरणों का अभाव हो जाता है? कदापि नहीं। इसी प्रकार पृथिवी से आवृत्त आदित्यमण्डल होने पर रात्रि होती है, उस समय भी किरणों का अभाव नहीं होता। किरणों के ताप आदि कार्य रात्रि में भी अनुभव होते ही हैं, इस कारण भी सूर्य-किरण और नाडियों का सम्बन्ध दिन तथा रात्रि दोनों में रहता ही है। अतः उपासक मूर्धन्य नाडी से निष्क्रमण कर सूर्य-रश्मियों का अवलम्बन करता है--

'रश्म्यनुसारी' (ब्र० सू० ४।२।१८)

इसी प्रकार उपासक की मृत्यु दक्षिणायन में हो या उत्तरायण में, उत्तर मार्ग से ही उसका गमन होता है। दक्षिण मार्ग कर्मियों का है और उत्तर मार्ग उपासकों का। दक्षिण मार्ग से गमन करने वाले का पुनः आगमन होता है और उत्तर मार्ग से गमन करने वाले का पुनरागमन नहीं होता। कर्मी पुरुष का पुनर्जन्म, कर्म, भोग और पुनर्जन्म का चक्र निरन्तर चलता रहता है। किन्तु उत्तरमार्ग से गमन करने वाले उपासक को ब्रह्मलोक की प्राप्ति और कालान्तर में मुक्ति होती है। पुरुष की मृत्यु दक्षिणायन या उत्तरायण की प्रतीक्षा नहीं कर सकती। मृत्यु का समय आने पर उपासक की मृत्यु दक्षिणायन में हो सकती है और कर्मठ की उत्तरायण में। इससे न तो उपासना का फल विनष्ट हो सकता है और न कर्म का फल ही बदल सकता है। यदि दक्षिणायन या उत्तरायण काल से उपासक तथा कर्मठ पुरुष की जीवन पर्यन्त की साधना का फल विपरीत हो जाय तो न कुछ कर्म का महत्व रहा और न उपासना का। पर ऐसा नहीं हो सकता, कर्म का फल निश्चित है और उपासना का भी। उत्तरायण या दक्षिणायन काल इसमें प्रतिबन्धक नहीं हो सकते। वस्तुतः उत्तरायण या दक्षिणायन दो मार्ग हैं और इनके पृथक्-पृथक् अभिमानी देवता हैं। इन अभिमानी देवता के द्वारा ही पुरुष उन मार्गों में ले

जाये जाते हैं। किसी भी समय पुरुष की मृत्यु हो, उसके कर्म तथा भावना के अनुसार दक्षिणायन या उत्तरायण के अभिमानी देवता उसे उस मार्ग के द्वारा ले जाते हैं। दक्षिणायन में उपासक की मृत्यु होने पर भी वह उत्तरमार्ग से ही गमन करता है, यही निष्कर्ष 'ब्रह्म सूत्र' में कहा गया है--

'अतश्चायनेऽपि दक्षिणे' (ब्र० सू० ४।२।२०)

—उपासक उत्तरमार्ग से ब्रह्मलोक गमन करता है। इस लोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त गमन का क्रम क्या है? इसके सम्बन्ध में कई क्रम देखे जाते हैं। 'छान्दोग्य' ४।१५।५ व ५।१०।१-२ में यह क्रम है--'प्रथम अर्चिरभिमानी देवता को प्राप्त होता है, अर्चिः अभिमानी देवता उस उपासक को अपनी सीमा तक ले जाता है। फिर दिवस के अभिमानी देवता की सीमा पर दिवसाभिमानी देवता को दे देता है। दिवसाभिमानी देवता से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को प्राप्त होता है और शुक्लपक्षा-भिमानी देवता से उत्तरायण के छः मासों के देवता को प्राप्त होता है। मासों से संवत्सर को संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को और चन्द्रमा से विद्युत् को प्राप्त होता हैं। वहां से अमानव पुरुष उपासक को सत्यलोक में स्थित ब्रह्म के पास पहुँचा देता है।'

'बृहदारण्यक' ६।२।१५ में कुछ अन्तर सहित प्रायः यही क्रम है। वहां छः मासों के देवता से देवलोक को प्राप्त होता है, देवलोक से आदित्य को और आदित्य से विद्युत् सम्बन्धी देवता को प्राप्त होते हैं। वैद्युत देवता के पास एक मानस पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोक ले जाता है। इसमें संवत्सर के स्थान पर देवलोक है और आदित्य के पीछे चन्द्र लोक का उल्लेख नहीं है, शेष छान्दोग्य और बृहदारण्यक में एक ही क्रम है।

'कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्' १।३ में देवयान मार्ग प्राप्त पुरुष के लिए कहा है कि 'वह अग्नि लोक में जाता है, वायुलोक में जाता है, वरुण लोक, इन्द्रलोक, प्रजापति लोक और ब्रह्मलोक में जाता है।' इस प्रकार सभी स्थानों में कुछ न कुछ मार्ग के सम्बन्ध में भिन्नता देखी जाती है। ऐसी स्थिति में शंका होती है कि ये सभी मार्ग भिन्न-भिन्न हैं या एक ही हैं? महर्षि वेदव्यास ने इन मार्गों को भिन्न नहीं माना है। क्योंकि उपासनाओं के भिन्न

होने पर भी उपास्य ब्रह्म एक है और उपास्य एक होने पर मार्ग भी एक ही ब्रह्म है। पंचाग्नि विद्या के विद्वान्, वानप्रस्थ, संन्यासी और हिरण्यगर्भस्वरूप की उपासना करने वाले पुरुषों का देवयान मार्ग है। इष्ट, पूर्त आदि कर्मियों का पितृयान मार्ग है। देवयान अर्चिरादिमार्ग है और पितृयान धूममार्ग है। इन दो मार्गों से पृथक् एक तीसरा कष्टकारी मार्ग है—'उत्पन्न होना और मरना'। इन तीन मार्गों से पृथक् अन्य कोई मार्ग नहीं है। अतः उपासकों के लिये एक ही अर्चिरादि मार्ग है।

'कौषीतकि उपनिषद्' में प्रथम अग्निलोक है और अन्य दोनों उपनिषदों में प्रथम अर्चि है। अर्चि और अग्निलोक ये दो शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं, क्योंकि वे अग्नि वाचक हैं। इसलिये इनमें कोई विरोध नहीं। अग्नि के पीछे 'वायुलोक' कहा गया है, इसके लिये सूत्रकार कहते हैं—

'वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम्' (ब्र० सू० ४।३।२)

इसका अर्थ है कि संवत्सर के पीछे और आदित्य लोक से पहले वायुलोक में प्रवेश करते हैं, क्योंकि 'कौषीतकी' श्रुति में सामान्य वायुलोक का कथन है, इसमें यह नहीं है कि इसके पहले या इसके पीछे वायुलोक में जाना है। और 'बृहदारण्यक' की एक श्रुति में—**'यदा वै पुरुषोऽस्माँल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति'** (बृ० ५।१०।१)—जब विद्वान् इस लोक से शरीर का त्याग करता है, तब वह वायु में जाता है वह वायु अपनी आत्मा में छिद्र करता है। जैसे रथचक्र का छिद्र है, वैसे वायु के छिद्र से विद्वान् ऊपर जाता है, वह आदित्य में जाता है। इस श्रुति में आदित्य की अपेक्षा से वायु पहले है। कौषीतकी श्रुति में पौर्वापर्य पाठ मात्र है, क्रमवाचक कोई शब्द नहीं है। बृहदारण्यक श्रुति में तो क्रम है, इसलिये आदित्य से पहले वायु लोक का होना ठीक है। छान्दोग्य श्रुति की अपेक्षा से सूत्र कहा गया है, क्योंकि बृहदारण्यक में संवत्सर नहीं है और छान्दोग्य में देवलोक नहीं है। इसलिये दोनों श्रुतियों का समावेश कर लेना चाहिये, संवत्सर से पर देवलोक, देवलोक से पर वायुलोक और वायुलोक से पर आदित्यलोक समझना चाहिये।

'कौषीतकी' श्रुति में वायु लोक के पीछे 'वरुण लोक' आया है, किन्तु दूसरी श्रुति में नहीं है। अन्य अर्चिरादि मार्ग वाले क्रम में वरुण लोक का समावेश है या नहीं ? इसका समाधान सूत्रकार करते है—

'तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात्' (ब्र०सू० ४।३।३)

—विद्युत् लोक से ऊपर वरुण लोक का सम्बन्ध है। क्योंकि तीव्र गर्जना द्वारा जब विद्युत् मेघ के उदर में नृत्य करती है, तब जल गिरता है। विद्युत् का कार्य जल है और जल का अधिपति वरुण है, इस प्रकार जल के द्वारा विद्युत् के साथ वरुण का सम्बन्ध होने से विद्युत् लोक के ऊपर वरुण लोक है। 'आगान्तुकों का अन्त में समावेश करना चाहिए' इस लोकोक्ति के अनुसार वरुण लोक के ऊपर इन्द्र और प्रजापति लोकों का भी समावेश कर लेना चाहिए।

इस प्रकार कई श्रुतियों में भिन्न-भिन्न अर्चि मार्ग का कथन, और उनका समन्वय होने से देवयान मार्ग का क्रम यह निश्चित होता है-प्रथम अर्चि को प्राप्त होता है, अर्चि से दिवस को, दिवस से शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण के छः मासों को, मासों से उपासक संवत्सर को प्राप्त होता है। संवत्सर से देवलोक को, देवलोक से वायु को, वायु से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत् को, विद्युत् से अमानव पुरुष उपासक को वरुण, इन्द्र और प्रजापति लोक होकर ब्रह्म लोक में ब्रह्म के पास पहुंचाता है।

श्रुति में **'अर्चिषोऽहः'** (छा०४।१५।५) अर्चि से दिवस को प्राप्त करता है, इसी प्रकार दिवस से शुक्लपक्ष प्राप्त करता है आदि कहा गया है। इसमें संशय होता है कि ये अर्चि आदि क्या मार्ग चिह्न हैं या भोगभूमि हैं अथवा ब्रह्मलोक को जाने वाले के नेता हैं ? इस पर सूत्रकार कहते हैं—

'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' (ब्र०सू०४।३।४)

—ये अर्चिरादि के अभिमानी देवता—आतिवाहिक—हैं, क्योंकि **'चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति'** (छा४।१५।५) चन्द्र से विद्युत् में वे जाते हैं, अमानव पुरुष उन्हें सत्यलोकस्थ ब्रह्म के पास पहुंचाता है, इस श्रुति में 'अमानव पुरुष' का संकेत है, इससे यह ज्ञात होता है कि चन्द्रमा तक मानव पुरुष उपासक को लाता है और उसके ऊपर अमानव पुरुष ले जाता है।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मलोक जाने वाले पुरुष के शरीर नहीं होता, इन्द्रियों के समूह संपिण्डित—एकाकार—होते हैं, इस कारण वे स्वतन्त्र नहीं होते और अर्चिरादि के अचेतन होने से वह भी स्वतन्त्र नहीं होते। अर्चिरादि के अभिमानी चेतन देवता विशेष ही इस कार्य में नियुक्त हैं, यही निश्चय होता है। देवताओं की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता, स्वयं सूत्रकार ने **'तदुपर्यपि वादरायणः संभवात्'** (ब्र०सू० १।३।२६) सूत्र से देवताओं की सत्ता का प्रतिपादन किया है। अर्चिरादि मार्ग और मार्ग में जाने वाले दोनों ही अज्ञ हैं, क्योंकि दोनों अचेतन और अस्वतन्त्र हैं। जिस प्रकार उन्मत्त और मूर्च्छित आदि पुरुष जिनकी इन्द्रियां संपिण्डित हुई हैं, वे अन्य चेतन पुरुष के द्वारा ही ले जाये जाते हैं, वैसे ही मृत्यु से संपिण्डित हुई इन्द्रियों वाले पुरुष को भी अर्चिरादि के चेतन अभिमानी देवता ही ले जाते हैं। इसलिये अर्चिरादि मार्गचिह्न नहीं हैं और न वह भोगभूमियां ही हैं।

'स एवान् ब्रह्म गमयति' (छा०४।१५।५)—वह इनको ब्रह्म के पास पहुंचाता है, इस उपसंहार वाक्य में गम्य और गमक का विशेष सम्बन्ध कहा गया है, इसलिये उपक्रम में भी ऐसा ही निश्चय होता है। अतः अर्चिरादि लोक से तात्पर्य है अर्चि, वायु आदि स्वामी वाले लोक। अर्चि, वायु आदि आतिवाहिक देवताओं के द्वारा उपासक एक से दूसरे लोक में पहुंचाया जाता है। अन्त में मानस पुरुष ब्रह्म के निकट उपासक को पहुंचाता है।

'ब्रह्मलोक किसे प्राप्त होता है और किसे नहीं प्राप्त होता?' इसका निर्देश स्वयं श्रुति ने ही किया है। **'ते य एवमेतद् विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते'** (बृ०६।२।१५)—वे जो (गृहस्थ) इस (पंचाग्नि विद्या) को जानते हैं और जो (संन्यासी या वानप्रस्थ) वन में श्रद्धायुक्त सत्य—ब्रह्म—की उपासना करते हैं। वही पुरुष इस मार्ग से ब्रह्मलोक जाते हैं। यज्ञ, दान, तपशील गृहस्थ पुरुषों का गमन धूममार्ग से होता है और उनका पुनर्जन्म भी होता है। किन्तु जो गृहस्थ पंचाग्नि विद्या—अग्नि, समिध्, धूम, ज्वाला, अङ्गार, विस्फुलिङ्ग और श्रद्धाविशिष्ट पांचों अग्नियों—को जानता है, वह अर्चिरादि मार्ग से गमन करता है। वह गृहस्थ भी इसी

मार्ग से जाता है जो ब्रह्म की उपासना करता है एवं अरण्य में निवास करने वाले वानप्रस्थ तथा संन्यासी भी जो श्रद्धा से ब्रह्म की उपासना करते हैं, वह भी इसी मार्ग से ब्रह्मलोक जाते हैं। प्रतीकोपासक ब्रह्मलोक नहीं जाते, क्योंकि जो जिसकी उपासना करता हैं, उसे ही वह प्राप्त करता है। प्रतीकोपासना में प्रतीक ही प्रधान है, इसलिये वह ब्रह्मलोक में नहीं जा सकते। प्रतीकोपासक पितृयान और तृतीय मार्ग 'उत्पन्न होओ और मरो' इन दोनों मार्ग से नहीं जाते। किन्तु अर्चिरादि मार्ग से ही जाते हैं, तथापि उनका गमन विद्युत् तक ही होता है। अमानव पुरुष प्रतीकोपासक को नहीं ले जाता, क्योंकि वह ब्रह्मोपासक नहीं है। प्रतीक और नाम आदि ध्येयों में ब्रह्म गौण है, प्रतीक आदि ही मुख्य है, इस कारण ब्रह्म को नहीं प्राप्त करते। ब्रह्मज्ञानी की तो गति का सर्वथा अभाव ही है। अतः पंचाग्नि वेत्ता तथा सगुण ब्रह्मोपासक गृहस्थ एवं अरण्य निवासी वानप्रस्थी तथा संन्यासी जो श्रद्धापूर्वक सगुण ब्रह्मोपासक हैं, वही अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक में ब्रह्म के निकट जाते हैं, अन्य नहीं।
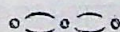
ब्रह्मलोक में ऐश्वर्य और अनावृत्ति

'पर्यङ्क विद्या' के प्रसंग में 'कौषीतकि उपनिषद्' में ब्रह्मलोक का वर्णन आया है। ब्रह्मलोक में 'आर' नामक एक जलाशय है। इसके बाद 'येष्टिह' मुहूर्त है, फिर 'विरजा' नामक नदी है। उसके आगे 'तिल्य' नामक वृक्ष है। फिर 'सायुज्य संस्थान' है। उसके आगे ब्रह्म का निवास स्थान 'अपराजिता' नामक विशाल मन्दिर है, इसके द्वार रक्षक हैं—इन्द्र तथा प्रजापति। 'विभुप्रमित' नामक सभा मण्डप है, 'विचक्षणा' नामक वेदी है। 'अमितौजा' पर्यङ्क है, 'मानसी' प्रिया है, उसकी प्रतिरूपा का नाम 'चाक्षुषी' है। पुष्प आदि ही 'जगत्' हैं, 'अम्बा' तथा 'आम्बायवी' नाम की अप्सरायें हैं और 'अम्बया' नामक नदिया हैं ब्रह्मलोक में।

इस प्रकार जानने वाला पुरुष एवं उपासक जब अमानव पुरुष द्वारा ब्रह्मलोक में लाया जाता है, तब ब्रह्म परिचारकों एवं अप्सराओं से कहते हैं—'दौड़ो, मेरे यश के अनुकूल उसका स्वागत करो, वह विरजा नदी के निकट आ पहुंचा है, अब जरावस्था को न प्राप्त करेगा'। यह सुन कर उसके स्वागत के लिये पांच सौ अप्सरायें दौड़ती हैं। सौ अप्सराओं के हाथ में माला होती है, सौ के हाथों में अङ्ग-राग होते हैं, सौ अप्सरायें अपने हाथों में केशर, रोली आदि चूर्ण लिये होती हैं, सौ के हाथों में वस्त्र आदि होते हैं और सौ अप्सरायें

हाथों में फल आदि लिये होती हैं। उस पुरुष को अप्सरायें ब्रह्मोचित अलङ्कारों से अलङ्कृत करती हैं। वह विद्वान् अलङ्कारों को धारण कर ब्रह्म के स्वरूप को ही प्राप्त कर लेता है। वह विद्वान् 'आर' नामक जलाशय के पास आता है तथा उसे मन से ही पार कर लेता है। फिर 'येष्टिह' के निकट होकर 'विरजा' नदी के तट पर पहुँचता है, उसे संकल्प मात्र से ही पार कर जाता है। वहां पुण्य तथा पापों को झाड़ देता है। जो कुटुम्बी उसके प्रिय पात्र होते हैं, वे उसका पुण्य पाते हैं और जो द्वेष करने वाले होते हैं, वे उसके पाप पाते हैं।

वह पुरुष पुनः 'तिल्य' वृक्ष के निकट जाता है, वहां ब्रह्मगन्ध का प्रवेश होता है। आगे वह 'सायुज्य संस्थान' में आता है, वहां उसमें ब्रह्म स्वरूप का प्रवेश होता है। फिर 'अपराजिता' नामक ब्रह्ममन्दिर में आता है, वहां ब्रह्म-तेज का प्रवेश होता है। द्वार पर इन्द्र और प्रजापति के निकट जाने पर वह हट जाते हैं और वह 'विभुप्रमित' नामक सभामण्डप में पहुंचता है, वहां उसमें ब्रह्मयश प्रवेश करता है। फिर वह 'विचक्षणा' नामक वेदी के निकट आता है। 'बृहत्' और 'रथन्तर' नामक साम दोनों पूर्व के पाद हैं और 'श्यैत' तथा 'नौधस' नामक साम उसके दोनों पीछे के पाये हैं। 'वैरूप' तथा 'वैराज' नामक साम उसके दक्षिण और उत्तर पार्श्व हैं एवं 'शाक्वर' तथा 'रैवत' साम उसके पूर्व तथा पश्चिम पार्श्व हैं। वह विद्वान् उस प्रज्ञा से विशेष दृष्टि वाला हो जाता है। फिर वह 'अमितौजा' नामक पर्यङ्क के निकट आता है, वह प्राण स्वरूप है। इस पर्यङ्क के पूर्व पाद हैं—भूत तथा भविष्य, श्री एवं भू पश्चिम पाद हैं, 'अनूच्य' नाम के दक्षिण-उत्तर भाग में जो पार्श्व हैं, वह 'बृहत्' तथा 'रथन्तर' नामक साम हैं और पूर्व-पश्चिम के पार्श्व जिन पर शिर तथा पैर रहते हैं, वे 'भद्र' और 'यज्ञायज्ञीय' नामक साम हैं। पूर्व-पश्चिम की बड़ी पाटियाँ ऋक् तथा सामस्वरूपा हैं और दक्षिण-उत्तर की तिरछी पाटियां हैं यजुर्वेद स्वरूपा। चन्द्रमा की किरणें विस्तर हैं। उद्गीथ उस पर बिछी हुई चादर है। श्री तकिया है। इस पर्यङ्क पर ब्रह्म विराजमान होते हैं। पर्यङ्क विद्यावित् पुरुष उस पर्यङ्क पर पैर रख कर चढ़ता है।

इस प्रकार ब्रह्मलोक का वर्णन और उपासक की गति विषयक श्रुति होने से निश्चय होता है कि उपासक कार्यब्रह्म—हिरण्यगर्भ को ही प्राप्त होता है, परब्रह्म को नहीं। क्योंकि परब्रह्म का कोई लोक नहीं है, उसका कोई स्वरूप भी नहीं है और सबका आत्मस्वरूप होने से गति का भी अभाव है। 'ब्रह्मसूत्र' में सूत्रकार ने कार्यब्रह्म में ही गति स्वीकार की है :

'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः' (ब्र० सू० ४-३-८)

—अमानव पुरुष कार्य ब्रह्म में ही ले जाता है, ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं। क्योंकि **'स एनान ब्रह्मगमयति'** (छा० ४-१५-५)—वह अमानव पुरुष उपासक को सत्य लोकस्थ ब्रह्म के पास पहुँचाता है, इस श्रुति में कथित गति आदि की उपपत्ति परिच्छिन्न कार्यब्रह्म में ही हो सकती है, अपरिच्छिन्न परब्रह्म में गति नहीं हो सकती।

'बृहदारण्यक' श्रुति में कहा है--**'ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु परा परावतो वसन्ति'** (६-२-१५)--अमानव पुरुष उपासकों को ब्रह्मलोक में ले जाकर पहुँचाता है, वे उन ब्रह्मलोकों में हिरण्यगर्भ के प्रकृष्ट संवत्सर तक वास करते हैं। इस श्रुति में 'ब्रह्मलोकेषु' बहुवचन होने से भी कार्य-ब्रह्म का ही निश्चय होता है, क्योंकि परब्रह्म में बहुवचन का प्रयोग सम्भव नहीं है। नीचे-ऊपर की भूमि के भेद से कार्यब्रह्म में अनेक लोक सम्भव हैं। उपासक की उपासना के तारतम्य से भी अनेक ब्रह्मलोक हो सकते हैं। किन्तु परब्रह्म में न तो लोकों का उत्कृष्टापकृष्ट हो सकता है और न ज्ञानी पुरुष के ज्ञान के तारतम्य के अनुसार अनेक भोग भूमियां ही हो सकती हैं। इसलिये भी उपासक का ब्रह्मलोक कार्यब्रह्म ही है, परब्रह्म नहीं। परब्रह्म के समीप ही अपरब्रह्म होने से 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग अपरब्रह्म में भी होता है, क्योंकि सात्विक उपाधि विशिष्ट परब्रह्म ही मनोमयत्व आदि विकार धर्मों से उपासना के लिये उपदिष्ट हुआ अपर-ब्रह्म होता है :

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः' (ब्र० सू० ४-३-९)

यहा शंका होती है कि 'कार्यब्रह्म और उसका ब्रह्मलोक विनाशी है, यदि उपासक विनाशी लोक को प्राप्त करेगा तो उसका भी विनाश होगा

ही। किन्तु श्रुति में उपासक के लिये अमृतत्व प्राप्त होना और पुनर्जन्म का अभाव कहा गया है। इसलिए उपासक परब्रह्म को ही प्राप्त करता है, कार्यब्रह्म को नहीं।' इसका समाधान सूत्रकार करते हैं :

'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्' (ब्र० सू० ४-३-१०)

--कार्यब्रह्म के लोक का विनाश होने पर उसमें ही जिनको सम्यक् दर्शन उत्पन्न हो गया है, वह उस लोक के अध्यक्ष हिरण्यगर्भ के साथ परब्रह्म को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार क्रममुक्ति का, अनावृत्ति आदि श्रुति में अभिधान होने से कथन है। परब्रह्म में तो गति पूर्वक मुक्ति हो ही नहीं सकती। क्योंकि मुक्ति तो एकमात्र ज्ञान से ही होती है, अन्य कोई भी मुक्ति का मार्ग नहीं है।

कुछ जैमिनि प्रभृति आचार्यों का कहना है कि गति का कथन परब्रह्म विषयक ही है। इस पक्ष को भी प्रदर्शित करने के लिये सूत्रकार ने कुछ सूत्रों की रचना की है। 'ब्रह्म' शब्द को देखकर ही परब्रह्म की कल्पना की गयी है और 'अनावृत्ति' तथा 'अमृतत्व' शब्दों से साक्षात् मुक्ति मान कर परब्रह्म में ही गति मानी है। किन्तु यह सर्वथा अनुचित है, क्योंकि ब्रह्म में गन्तव्यत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती, कारण परब्रह्म आकाश के समान सर्वव्यापक और समस्त प्राणियों का आत्मा है। अपने प्रति किसी की भी गति नहीं होती, गति अन्य प्रदेश में तथा दूसरे के प्रति ही होती है। कार्यब्रह्म परिच्छिन्न और उपासक से भिन्न है, इसलिये उसमें ही गति हो सकती है, परब्रह्म में नहीं। इसलिये उपासक को साक्षात् मुक्ति भी नहीं मिल सकती। 'अमृतत्व' शब्द परम्परा से कहा गया है, जैसे **'असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः'** (गी० ३-१९)--अनासक्त कर्म करनेवाला पुरुष मोक्ष रूप परम पद पा लेता है, इसमें कर्मी पुरुष के लिये भी परब्रह्म रूप मोक्ष फल कहा गया है। किन्तु यह मोक्ष साक्षात् नहीं है। आसक्ति रहित कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है, शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञानोदय होता है और ज्ञानोदय से मोक्ष होता है। इस प्रकार परम्परया कर्म मोक्ष का साधन है। वैसे ही ब्रह्मलोकस्थ उपासक भी कार्यब्रह्म के सानिध्य में ज्ञान प्राप्त करता है और ज्ञान से अमृत्व का लाभ होता है।

इस प्रकार परम्परा से उसकी भी मुक्ति होती है, इसी अभिप्राय से 'अमृतत्व' शब्द का प्रयोग है, परब्रह्म को प्राप्त होगा और अमृतत्व प्राप्त करेगा, इस अभिप्राय से नहीं है।

'अनावृत्ति' का तात्पर्य भी यह नहीं है कि कभी उसका पुनर्जन्म होता ही नहीं। क्योंकि 'छान्दोग्य' ४-१५-५ में कहा है—**'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते'**—इस मानव मण्डल में नहीं लौटते। 'इमं' विशेषण से यही सूचित होता है कि इस मनु सम्बन्धी संसार में नहीं लौटता, किन्तु दूसरे कल्प में पुनर्जन्म सम्भव है। यदि ब्रह्मलोक में हिरण्यगर्भ से ज्ञान प्राप्त कर लिया तो अनन्त वर्षों तक ऐश्वर्य भोग कर कल्पान्त में हिरण्यगर्भ के साथ अमृतत्व प्राप्त करता है और फिर उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती।

परब्रह्म ज्ञान सम्पन्न पुरुष का तो कहीं भी गमनागमन नहीं होता क्योंकि ज्ञान के द्वारा अज्ञान का विनाश होने पर अखण्ड, अनन्त, अन्तर्वाह्य शून्य, आकाशवत् एवं अद्वितीय ब्रह्मात्मस्वरूप से तत्काल स्थित हो जाता है। उसकी दृष्टि में एकमात्र ब्रह्म के अतिरिक्त देश, काल, परिस्थिति, जीव आदि की किञ्चित् भी सत्ता नहीं रहती। वह ब्रह्म होता हुआ ही ब्रह्म में लीन होता है, घट का आकाश जैसे आकाश में लीन होता है, वैसे ही। इस कारण उसके गमनागमन का प्रश्न ही नहीं, इसी अभिप्राय से श्रुति ने कहा है—**'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'** (बृ० ४-४-६)—उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, ब्रह्म ही होकर ब्रह्म में लीन होता है। इसलिये गमनकर्ता उपासक अज्ञानी है, अज्ञानी की गति परब्रह्म में नहीं हो सकती और बिना अज्ञान का विनाश हुये मुक्ति भी नहीं हो सकती है।

ब्रह्मलोक में अप्सराओं द्वारा स्वागत, सरोवर, नदी, सभा, अपराजिता मन्दिर आदि के वर्णन से भी स्पष्ट होता है कि यह कथन परब्रह्म विषयक नहीं हो सकता। क्योंकि **'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्'** (श्वे० ६-१९), **'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्'** (बृ० ३-८-८), **'सवाह्याभ्यन्तरोह्यजः'** (बृ० २-१-२)—ब्रह्म अवयव रहित, क्रियारहित, शान्त, अनिंद्य और निर्लेप है, ब्रह्मस्थूल, अणु, ह्रस्व और दीर्घ नहीं है, वह वाह्य,

अभ्यन्तर और अज है। उसका कोई प्रदेश नहीं है और यह परिच्छिन्न भी नहीं है, आकाश के समान, सर्वगत और नित्य है—**'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः'**। इसके विपरीत कार्यब्रह्म परिच्छिन्न, विनाशी, सावयव, सक्रिय, वाह्याभ्यन्तर रहित और उत्पन्न होने वाला है। इसलिये जिस ब्रह्मलोक में उपासक जाता है, वह कार्यब्रह्म का ही लोक है और उसे ही प्राप्त होता है।

गति विषयक श्रुतियां कार्य ब्रह्म परक हैं। किन्तु परब्रह्म तथा अपर ब्रह्म का विवेक न होने से विद्वान् भी गति विषयक श्रुतियों को परब्रह्म विषयक समझ लेते हैं। इस पर प्रश्न हो सकता है कि क्या दो ब्रह्म हैं, एक पर और दूसरा अपर? तो इसका उत्तर है कि हां, दो ब्रह्म हैं। क्योंकि **'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः'** (प्र०५।२)—हे सत्यकाम! जो ओङ्कार है, वह परब्रह्म और अपरब्रह्म है, इत्यादि श्रुतियों में दो प्रकार के ब्रह्म देखने में आते हैं। नाम, रूप, गुण आदि से रहित, अस्थूल आदि शब्दों से जहां वर्णन है, वह परब्रह्म का ही कथन है और जब नाम, रूप, गुण आदि किसी विशेष से विशिष्ट उपासना के लिये कहा जाता है, तब वह अपरब्रह्म का ही वर्णन होता है। जैसे **'अस्थूलमनण्वमदीर्घम्'** (बृ०३।८।८)—ब्रह्म अस्थूल, अनणु, अह्रस्व और अदीर्घ है, यह परब्रह्म का वर्णन है और **'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः'** (छा०३।१४।२)—मनोमय, प्राणशरीर और प्रकाश रूप है, यहां अपरब्रह्म का कथन है। अविद्याजन्य नाम, रूप, आदि का निराकरण करने पर अद्वितीय ब्रह्म ही रह जाता है। नाम, रूप विशिष्ट ब्रह्म की उपासना का फल भी तत्-तत् स्थानों में कहा गया है। संसार का ऐश्वर्यफल, जो संसार रूप है, उपासक प्राप्त करता है। क्योंकि उसकी अभी अविद्या निवृत्त नहीं हुयी है।

ब्रह्मलोकस्थ उपासक का ऐश्वर्य संकल्प मात्र से होता है अथवा शरीर, इन्द्रिय आदि तथा वाह्य भोग पदार्थ के कारण होता है? इसका निर्णय सूत्रकार करते :

'संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः' (ब्र०सू०४।४।८)

—संकल्प से ही पितृलोक आदि की प्राप्ति होती है, क्योंकि श्रुति ने कहा है—**'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवाऽस्य पितरः समु-**

त्तिष्ठन्ति' (छा०८।२।१)--वह यदि पितृलोक प्राप्ति की इच्छा करता है, तो संकल्प से ही उसके पितर उससे सम्बद्ध होते हैं। श्रुति ने 'संकल्प से ही' पितृलोक की प्राप्ति कही है। इसी प्रकार अन्य भोग-प्राप्त के लिये यदि इच्छा वाला होता है, तो उस भोग के संकल्प करने से वह प्राप्त हो जाता है। इस लिये अन्य प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। यदि अन्य निमित्त को स्वीकार किया जाय तो श्रुति बाधित होगी और उपासक का संकल्प भी शक्तिहीन होगा। अन्य निमित्त यदि संकल्प के अधीन हों, तो हो सकते हैं, किन्तु प्रयत्न से साध्य अन्य निमित्त नहीं हो सकते। साधारण मानव और ब्रह्मलोकस्थ उपासक के संकल्प में महान् अन्तर है। उपासक का संकल्प प्रबल होता है और प्राकृत पुरुष का साधारण। इस लिये प्राकृत पुरुषों के संकल्प से उपासक के संकल्प की तुलना नहीं की जा सकती :

'किन्तु उपासक का संकल्प और उपासक भी ईश्वर के अधीन होता है, इसलिये संकल्पमात्र से ही भोग की कैसे सिद्धि होगी ?' इस शंका की निवृत्ति सूत्रकार करते हैं :

'अत एव चाऽनन्याधिपतिः' (ब्र०सू०४।४।९)

—विद्वान् का सत्य संकल्प होता है, इसी से उसका कोई अन्य अधिपति नहीं होता। विद्वान् में ईश्वर का धर्म ही प्रकट होता है, अतः उसके संकल्प का भंग नहीं होता। ब्रह्मतेज, यश आदि का प्रवेश उपासक में होता है, यह पहले कहा ही गया है।

'ब्रह्मलोकस्थ विद्वान् के शरीर, इन्द्रिय आदि होते हैं या नहीं ? क्योंकि जब ऐश्वर्य प्राप्त होगा तो भोग के लिये शरीर आदि भी आवश्यक हैं।' इस पर आचार्य बादरि का मत है कि शरीर, इन्द्रिय आदि नहीं होते हैं, क्योंकि **'मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते'** (छा०८।१२।५)—मन से इन मनोरथों को देखता हुआ रमण करता है। यदि शरीर आदि से रमण करता तो 'मन से' यह विशेषण संगत नहीं होगा। अतः विद्वान् के शरीर, इन्द्रिय आदि का अभाव है।

जैमिनि आचार्य का मत है कि मन के समान शरीर, इन्द्रिय आदि विद्वान् के होते हैं, क्योंकि **'स एकधा भवति त्रिधा भवति'** (छा०७।२६।२)

--वह एकधा होता है, त्रिधा होता है, इत्यादि अनेक प्रकार से भाव-विकल्प श्रुति में कहे गये हैं। किन्तु इन दोनों पक्षों को अस्वीकार करते हुए सूत्रकार कहते हैं :

'द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः' (ब्र०सू०४।४।१२)

—दोनों प्रकार की श्रुति होने से दोनों प्रकार का ऐश्वर्य विद्वान् में होता है। जब सशरीरता का संकल्प करता है, तब शरीरवान् होता है और जब अशरीरता का संकल्प करता है, तब अशरीर होता है। क्योंकि उसका संकल्प सत्य है और संकल्प का वैचित्र्य है, द्वादशाह के समान। विद्वान् का ऐश्वर्य भी दो प्रकार है—सशरीर और अशरीर।

स्वप्न में जैसे शरीर, इन्द्रिय के अभाव में मन से पुरुष विषय-भोग करता है, वैसे विद्वान् पुरुष भी अशरीर होने पर मन से ऐश्वर्य-भोग करता है और संकल्प से जब सशरीर होता है, तब जाग्रत् अवस्था के समान ऐश्वर्य का उपभोग करता है। इसलिये दोनों प्रकार का ऐश्वर्य विद्वान् में रहता है।

विद्वान् एक शरीर से ऐश्वर्य-भोग के लिये अनेक शरीरों की रचना करता है। इस पर शंका होती है कि अनेक शरीरों की रचना लकड़ी के यन्त्र के समान आत्मरहित शरीर उत्पन्न किये जाते हैं या हम लोगों के समान आत्मा के सहित शरीर उत्पन्न किये जाते हैं ? इस पर महर्षि वेदव्यास कहते हैं :

'प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति' (ब्र० सू० ४।४।१५)

—जैसे एक प्रदीप विकारशक्ति के योग से अनेक बत्तियों में प्रवेश करता है, वैसे ही विद्वान् एक होने पर भी ऐश्वर्य के योग से अनेक शरीरों में प्रवेश करता है। **'स एकधा भवति त्रिधाभवति'** (छा० ७।२।६।२) वह एकधा होता है, त्रिधा होता है, यह श्रुति एक की अनेकता कहती है। सृष्टि के पूर्व वह एक प्रकार और सृष्टि के पश्चात् अनेक प्रकार का होता है। कहा जा सकता है कि विद्वान् न शरीर है और न चिन्मात्र, किन्तु लिङ्गोपहित आत्मा है और लिङ्ग शरीर एक है। जब तक लिङ्ग शरीर

अनेक न हों, तब तक अनेक शरीरों में प्रवेश सम्भव नहीं। किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सत्यसंकल्प होने से वह एक मन का अनुसरण करने वाले मन से सम्बद्ध अन्य शरीरों की रचना करेगा और उनकी सृष्टि होने पर उपाधि के भेद से आत्मा का भी भेद होने से अधिष्ठातृत्व युक्त होगा। विद्या और योग के बल से विद्वान् के लिङ्ग शरीर के व्यापी होने से उसका एक क्षण में ही अनेक देहों में प्रवेश हो सकता है। आदि मन अन्य मनों का नियामक होता है। मन से ही संकल्प द्वारा शरीर की रचना और शरीर में मन का प्रवेश होता है, क्योंकि मन व्यापक और सत्यसंकल्प युक्त है। उपाधि के भेद से आत्मा का भी भेद होगा ही। उपाधि और संकल्प निवारण होने पर पुनः एक ही रह जाता है। इस प्रकार न तो निरात्मक शरीरों की रचना होती है, न लकड़ी के यन्त्र के समान होती है और न शरीरों में अन्य जीवों का ही प्रवेश होता है।

विद्वान् संकल्प से ही शरीरों की रचना करता है और ऐश्वर्य-भोगता है। किन्तु श्रुति ने मुक्त विद्वान् के लिये ऐश्वर्य-भोग का अभाव कहा है– **'तत् केन कं विजानीयात्'** (बृ० ४।५।१५)--मुक्तावस्था में ज्ञानी किस करण से किस विषय को जाने ? **'न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्'** (बृ० ४।३।३०)—उससे द्वितीय नहीं है, अन्य रूप से विभक्त दूसरा नहीं है, जिसको वह प्राप्त करे। इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं :

'स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि' (ब्र० सू० ४।४।१६)

'न तु तद्०' श्रुति सुषुप्ति अवस्था का वर्णन करती है और 'तत् केन०' श्रुति मुक्ति के उद्देश्य से कही गयी है। कहीं पर श्रुति ने सुषुप्ति अवस्था के आधार पर विशेष ज्ञान का अभाव कहा है और कहीं पर कैवल्य अवस्था के आधार पर। यह प्रसंग से विदित हो जाता है। किन्तु सगुण विद्या के उपासक के लिये ऐश्वर्य का वर्णन स्वर्गादि के समान किया गया है। इस लिये किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

सगुणोपासक ब्रह्मलोक में ईश्वर की कृपा से ईश्वर सायुज्य प्राप्त करता है। सम्पूर्ण ऐश्वर्य का भोक्ता होता है, भोग के लिये इच्छामात्र से शरीर, इन्द्रिय और विषयों की रचना कर लेता है। प्रश्न होता है कि

जब सम्पूर्ण ऐश्वर्य उपासक को प्राप्त हैं और शरीर आदि की रचना भी संकल्प से कर लेता है, तो आकाश आदि जगत् की रचना भी वह कर लेता होगा ? क्योंकि **'आप्नोति स्वाराज्यम्'** (तै० १।६।२)—वह स्वाराज्य प्राप्त करता है, आदि श्रुतियों में उसका निरंकुश ऐश्वर्य देखने में आता है। इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं :

'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च' (ब्र० सू० ४।४।१७)

—जगत् के उत्पत्ति, पालन और विनाश आदि व्यापार को छोड़कर उपासक को अणिमा आदि रूप ऐश्वर्य प्राप्त होता है। क्योंकि सृष्टि प्रकरण में ईश्वर का ही कथन है और सृष्टि प्रकरण के संन्निधान में जीव का कथन भी नहीं है। ईश्वर नित्य सिद्ध और शब्द प्रमाण मात्र से जाना जाता है। जगत् के प्रलय के उपरान्त जगत् के उत्पादन में श्रुति ने ईश्वर का ही कथन किया है और उसी के अन्वेषण तथा जिज्ञासा का भी वर्णन किया गया है। उपासक को यदि जगत् का कर्त्ता आदि माना जाय तो बड़ी विसंगति उत्पन्न होगी। क्योंकि उपासक मन से युक्त होता है और अनेक उपासकों के मन भिन्न-भिन्न प्रकार के ही होंगे। ऐसी स्थिति में सभी में ऐकमत्य सम्भव नहीं, कोई सृष्टि करना चाहेगा और कोई जगत् का विध्वंस करेगा। यदि एक के संकल्प के अनुसार दूसरा व्यवहार करे, तो भी निरंकुश ऐश्वर्य न होगा। यदि एक को प्रधान और अन्य को अप्रधान माना जाय, तो ईश्वर ही प्रधान होगा और उसके अधीन ही सब जीव होंगे।

'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १।६।२) से उपासक का निरंकुश ऐश्वर्य कहा भी नहीं गया है। क्योंकि सूर्यमण्डल में रहनेवाले आधिकारिक पर ईश्वर के लिये ही वहवाक्य कहा गया है। अतः ईश्वर के अधीन ही यह स्वाराज्य प्राप्ति कही गयी है, क्योंकि पीछे ही ईश्वर की प्राप्यता का कथन है। इसलिये उपासक का भोग में स्वाराज्य है, जगत् के जन्म आदि में नहीं।

सगुण ब्रह्म में भी निर्गुण स्वरूप रहता है, किन्तु सगुणोपासक निर्गुण स्वरूप का दर्शन नहीं पाता और सगुण में भी केवल ऐश्वर्य की कामना

वाला होता है, जगदोत्पत्ति की इच्छावाला नहीं होता इसलिये जगदोत्पत्ति आदि व्यापार रहित ही उसका ऐश्वर्य होता है।

'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च' (ब्र० सू० ४-४-२१)

—और उपासक का सम्भोग मात्र से साम्य है, क्योंकि **'तमाहापो वै खलुमीयन्ते लोकोऽसौ'** श्रुति में कहा है कि उस उपासक से हिरण्यगर्भ सान्त्वनापूर्वक कहते हैं, मुझ से ये अमृतरूप जल भोगे जाते हैं, तुम्हारा भी यह अमृतोदक रूप लोकभोग्य है, तुम इसका यथेच्छ भोग करो। इस प्रकार भेद का व्यपदेश करने वाले लिङ्गों से उपासक का उपास्य देवता में केवल भोग का ही साम्य है। अतः उपासक का सातिशय ऐश्वर्य ही है।

'यदि उपासक का सातिशय ऐश्वर्य है, तो विनाशी ही होगा और विनाशी होने के कारण उसकी पुनरावृत्ति भी होगी ही।' इसके उत्तर में महर्षि बादरायणाचार्य कहते हैं :

'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् (ब्र० सू० ४-४-२२)

—यद्यपि सगुण विद्या सातिशय है, तो भी ईश्वर के प्रसाद से निर्गुण विद्या प्राप्त कर उपासक की अनावृत्ति होती है। क्योंकि **'नचपुनरावर्तते'** (छा० ८-१५-१), **'इमंमानवमावर्तं नावर्तन्ते'** (छा० ४-१५-१) श्रुति में कहा गया है कि वह फिर नहीं लौटता, इस मानवलोक में नहीं लौटता।

इस पृथिवी लोक से तीसरा द्युलोक—ब्रह्मलोक है। 'इमं' और 'मानवम्' विशेषण से भासित होता है कि इस कल्प में उपासक नहीं लौटते, किन्तु अन्य कल्प में लौटते हैं। ईश्वर की उपासना के बिना पंचाग्नि विद्या, अश्वमेध और दृढ़ ब्रह्मचर्य आदि साधनों से जो ब्रह्मलोक गये हैं, उनके तत्वज्ञान प्राप्ति का कोई नियम नहीं है, इसलिये उनकी आवृत्ति अन्य कल्प में होगी ही। और जो ईश्वरोपासना सहित ब्रह्मलोक गये हैं एवं दहर आदि विद्या के उपासना से जो गये हैं, उनकी सगुणविद्या के फल के नाश होने पर भी अचिन्त्य ईश्वर के प्रसाद से आत्मज्ञान की प्राप्ति होगी और इससे उनकी मुक्ति होगी। इस प्रकार अनावृत्ति की श्रुति संगत होती है, क्रममुक्ति ही श्रुति का अभिप्राय है।

—०*०—

५

ज्ञान खण्ड

इस खण्ड के कुछ आधार वाक्य

'लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम् ।
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु ॥'

—अध्यात्मोपनिषद् ३

'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय'

—श्वेताश्वतर ६.१५

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन ।'

—बृहदारण्यक उपनिषद् ४.४.२२

आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य :'

—बृहदारण्यक उपनिषद् ४,५.६

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'

--कैवल्योपनिषद् ३

'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च'

—ब्रह्मसूत्र ४.१.३

'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'

—छान्दोग्य उपनिषद् ६.८.७

'अहं ब्रह्मास्मि'

—बृहदारण्यक उपनिषद् १.४.१०

अज्ञान, अध्यास एवं ज्ञान

अज्ञान से प्राणी का बन्धन होता है और ज्ञान से मोक्ष। अज्ञान और अज्ञानजनित समस्त दुःखों का निवारण करना ही परम पुरुषार्थ है। अज्ञान अभाव रूप नहीं है, किन्तु ज्ञान का विरोधी है। प्रकाश का विरोधी अन्धकार होता है, वैसे ही ज्ञान का विरोधी अज्ञान है। किन्तु प्रकाश का उदय होने पर जिस प्रकार अन्धकार और अन्धकार जनित रज्जुसर्प आदिक भ्रमों का विनाश होता है, उसी प्रकार ज्ञानोदय होने पर अज्ञान तथा उसके कार्यों का सम्पूर्ण रूप से विनाश हो जाता है। ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान ही सत्य दर्शन है और अनात्मदर्शन मिथ्या है। रज्जु में सर्प-दर्शन, शुक्तिका में रजत एवं स्थाणु में पुरुष-दर्शन 'मिथ्या दर्शन' हैं। रज्जुसर्प-दर्शन से भय, कम्प आदि उत्पन्न होते हैं, किन्तु जब प्रकाश में रज्जु के दर्शन होते हैं, तब सर्प और सर्पजनित भय आदि सम्पूर्ण दुःखों का निवारण हो जाता है। इन दृष्टान्तों के अनुसार आत्मा में अनात्मा का दर्शन मिथ्या है और दुःख एवं जन्म-मरण की परम्परा प्रदान करता है। आत्मा का सत्य दर्शन इनका विरोधी है, अतः जन्म-मरण एवं समस्त दुःखों का निवारक होने से परम पुरुषार्थ और वरणीय है।

अज्ञान ही संशयज्ञान एवं विपर्ययज्ञान के रूप में प्रतिफलित

होता है। 'अध्यास' भी इसे कहा जाता है। 'अधि' पूर्वक 'अस' धातु से 'अध्यास' शब्द निष्पन्न होता है। 'अस' धातु का अर्थ है--निक्षेप अर्थात् आरोप। किसी एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप 'अध्यास' कहलाता है। जिस वस्तु पर आरोप होता है, उसे 'अधिष्ठान' कहते हैं। रज्जु अधिष्ठान में सर्पका आरोप, शुक्ति में रजत का अध्यास एवं स्थाणु में पुरुष की प्रतीत, इनमें रज्जु, शुक्ति तथा स्थाणु अधिष्ठान हैं और सर्प रजत तथा पुरुष अध्यसित हैं। अधिष्ठान सत्य है और अध्यसित पदार्थ मिथ्या। इस प्रकार आरोप या अध्यास सत्य तथा मिथ्या का मिलित रूप है। सत्य वस्तु-दर्शन से अध्यास का निवारण होता है, जैसे सत्य रज्जु के साक्षात्कार होने पर मिथ्या सर्प का निवारण हो जाता है।

अध्यसित वस्तु अधिष्ठान-साक्षात्कार के समय नहीं रहती, किन्तु दिखायी देती हैं। इसका कारण है कि वह वस्तु कभी इन्द्रियगोचर थी, किन्तु अध्यास के समय वह संस्कारमात्र थी। संस्कार से स्मृति और अध्यास दोनों होते हैं। स्मृति विना अनुभव के नहीं हो सकती, अनुभव नष्ट होने पर संस्कार रूप में शेष रहता है। अनुभव की हुई वस्तु संस्कार रूप से रहती है, वही स्मृति-पथ से वस्तु रूप में दिखाई पड़ती है। स्मृति में स्मर्यमाण वस्तु सन्निहित नहीं रहती, केवल उसका संस्कार मात्र रहता है, संस्कार से ही वस्तु की प्रतीति होती है। अध्यास में भी अध्यसित वस्तु सन्निहित नहीं रहती, केवल उसके पूर्व दर्शन से उत्पन्न संस्कार मात्र रहता है। पूर्व में देखे हुये सर्प के सदृश अन्य सर्प-दर्शन के समय पूर्व के सर्प का स्मरण होना 'स्मृति' है और पहले के सर्प-दर्शन के संस्कार से रज्जु में सर्प की प्रतीति 'अध्यास' है। वस्तु की अविद्यमानता में वस्तु की प्रतीति 'अध्यास' और वस्तु के समान वस्तु की विद्यमानता में वस्तु की प्रतीति 'स्मृति' है। यही स्मृति और अध्यास में भेद है। रज्जु को पहले देखा था, उसे कुछ काल पश्चात् देखने पर 'यह वही रज्जु है' यह दर्शन न तो स्मृति है और न अध्यास। यह 'प्रत्यभिज्ञान' है, तात्पर्य सत्य अधिष्ठान में सत्य का ही दर्शन हुआ है।

अध्यास दो प्रकार का है--तादात्म्याध्यास और संसर्गाध्यास। 'यह मैं' अर्थात् मैं मनुष्य हूं, इसमें 'मैं' और 'यह' का तादात्म्याध्यास है। 'मैं मनुष्य

हूं' इसमें 'मैं' (आत्मा) और 'मनुष्य' (शरीर)में ऐक्यरूप अंश का ही भान होता है, इसलिये यह तादात्म्याध्यास कहलाता है। 'यह मेरा शरीर है' इसमें 'यह' और 'मेरा' का संसर्गाध्यास है। इसमें 'यह' और 'मेरा' में भेदांशरूप संसर्ग का भान होता है, इसलिये यह संसर्गाध्यास कहा जाता है। ऐक्यरूप अंश का भान होना तादात्म्य और भेदांशरूप संसर्ग का भान होना संसर्ग अध्यास है।

अहंकार में जाड्य आदि धर्म हैं और आत्मा में चैतन्य आदि धर्म। अहंकार और आत्मा अत्यन्त भिन्न होने पर भी दोनों धर्मी हैं। दोनों धर्मियों का परस्पर भेद-ज्ञान न होने से परस्पर में परस्पर का तादात्म्य और परस्पर के धर्मों के विनिमय से अध्यास होकर लोक व्यवहार होता है। इसी प्रकार बुद्धि, मन, चित्त, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, शरीर आदि एवं पुत्र, मित्र, कलत्र आदि धर्मी तथा इनके धर्मों का अध्यास आत्मा में होता है। धर्मी का अध्यास स्पष्ट नहीं प्रतीत होता, किन्तु धर्मों का अध्यास स्पष्ट प्रतीत होता है। 'मैं बधिर हूं,' 'मैं अन्धा हूं,' 'मैं विचार कर रहा हूं' स्थानों में कान, नेत्र तथा बुद्धि के धर्मों का स्पष्ट भान होता है। इसी प्रकार जड अहंकार में चेतन आत्मा के धर्मों का भी अनुभव होता है। चैतन्य, नित्यत्व एवं आनन्दत्व का भान होने से अन्तःकरण में आत्मा के धर्मों का अध्यास होता है। आत्मा और अहंकारादि अनात्मक परस्पर विरुद्ध स्वभाव हैं, जैसे आलोक और अन्धकार। आत्मा चेतन है, अनात्मा जड, आत्मा ज्ञानस्वरूप है, अनात्मा अज्ञ तथा आत्मा सत् है, अनात्मा मिथ्या। मिथ्या वस्तु सत्यरूप से कैसे भासती है और सत्य मिथ्यारूप से कैसे प्रतीत होती है? इसके ही दृष्टान्तरूप में रज्जुसर्प, शुक्ति-रजत आदि का उल्लेख किया गया है। रज्जु में सर्प-धर्म के समान तथा शुक्ति में रजत-धर्म के समान आत्मा में अनात्मा-धर्म का अध्यास होता है।

रज्जु में सर्प की तरह आत्मा या ब्रह्म में यह विश्व भी कल्पित है। एक सत् आत्मा में आकाश, वायु, तेज, जल, भूमि, अन्न, भवन, स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी, स्वर्ग, नरक आदि सब प्रतीत होते हैं। अनन्त नाम एवं रूपों द्वारा जो भी प्रतीत होता है, वह सब अनात्मा है। इस नाम तथा

रूप के द्वारा आत्मा आच्छादित हो रहा है। आत्मा को ढकनेवाला नाम और रूप ही अभिव्यक्त होता है, आत्मा का दर्शन किसी को नहीं होता। इस नाम-रूपात्मक अनात्मा या मिथ्या जगत् को ही 'विषय' भी कहा जाता है। क्योंकि आत्मा अनात्मा से ही परिचय योग्य हो रहा है। विषय शब्द वि+सि+अच् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न हुआ है। षिञ् (सि) धातु का अर्थ बन्धन है। जो बन्धन करता है वही विषय है। अनात्मा आत्मा का बन्धन करता है—आच्छादन करता है, अपने को नाम तथा रूपों द्वारा निरूपणीय बनाता है, इससे 'अनात्मा' को 'विषय' कहा जाता है। जो विषय से बद्ध होता है, वह विषयी है। आत्मा ही विषयी या अविषय है एवं आत्मा से अतिरिक्त जो भी है वह सब विषय है। इस प्रकार आत्मा में सम्पूर्ण विश्व कल्पित है और इस अध्यास से ही समस्त प्राणियों के व्यवहार चल रहे हैं।

लौकिक और शारीरिक व्यवहार के समान शास्त्रीय व्यवहार भी अध्यास मूलक ही हैं। विधिशास्त्र, निषेधशास्त्र, उपासना, पूजा आदि जितने भी कार्य होते हैं, वह सब अध्यास मूलक ही हैं। **'ब्राह्मणो यजेत'**—ब्राह्मण यज्ञ करे, इस विधिवाक्य से आत्मा में वर्णं का अध्यास होता है। **'न ह वै स्नात्वा भिक्षेत'**—ब्रह्मचारी समावर्तन के पश्चात् ग्रहस्थाश्रम में आकर भिक्षाटन न करे, इस वाक्य से आत्मा में आश्रम का अध्यास सिद्ध होता है। **'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत'**—आठ वर्ष के ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करना चाहिये, इसमें वर्ण तथा वय का अध्यास आत्मा में कहा गया है। इसी प्रकार विधि-निषेधात्मक शास्त्र में अन्य वाक्य भी ब्राह्मणादि अधिकारी का कथन करते हुये अध्यास की सूचना देते हैं।

प्रतीकोपासना भी अध्यास है। क्योंकि **'मनो ब्रह्मेत्युपासीत'** (छा० ३।१८।१)—मन ब्रह्म है, ऐसी उपासना करनी चाहिये, **'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः'** (छा० ३।१९।१)—आदित्यब्रह्म है ऐसा उपदेश है, इस प्रकार मन, आदित्य आदि से ब्रह्मदृष्टि का अध्यास है। उपास्य-उपासक, पूज्य-पूजक एवं गुरु-शिष्य आदि सभी भाव अध्यासमूलक ही हैं। अपने में प्रमाता की कल्पना किये विना कोई किसी को उपदेश नहीं कर सकता। प्रमाता

ही प्रमाज्ञान का कर्ता है। अकर्ता आत्मा में प्रमाज्ञान का कर्तृत्वारोप करना ही पड़ेगा। विना प्रमाण के प्रमाता उपदेश दे नहीं सकता, यह प्रमाण ही प्रमा का कारण है। और विना व्यापार के प्रमाता प्रमाण को कार्य में व्यापृत नहीं कर सकता, किन्तु अक्रिय, अविकारी आत्मा का किसी प्रकार भी व्यापार नहीं है। बुद्धि आदि अचेतनों के साथ तादात्म्य–अध्यासवश उनके व्यापार लेकर स्वयं आत्मा व्यापारवान् प्रतीत होता है। इसी कारण लौकिक, वैदिक एवं मोक्षशास्त्रीय सभी व्यवहार अध्यास पर ही आश्रित हैं। इसी अभिप्राय से उपनिषद् में कहा है—

'लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम्।
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु॥' (अध्या० ३)

--लोक, देह और शास्त्रानुसार आचरण का त्याग कर अपने अध्यास का निवारण करो।

आत्मा में अनात्मा और अनात्मा में आत्मा का अध्यास अनादि सिद्ध है, इसी प्रकार दोनों धर्मियों के धर्मों का भी अध्यास सबको अनुभव में नित्य प्रति आता ही है। इस अध्यास के कारण ही बन्धन में प्राणी पड़ते हैं। इस लिये अध्यास 'सत्य' है। किन्तु अधिष्ठान आत्मा का ज्ञान होने पर अध्यास की सत्ता क्षण मात्र भी नहीं ठहरती, अध्यास 'असत्य' सिद्ध होता है। क्योंकि आत्मा निर्विकार, निराकार, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव है, निर्लेप, असंग और एक है। अनात्मा इसके विपरीत है, अतः विरुद्ध स्वभाव वाले आत्मा और अनात्मा का एक साथ होना असम्भव है। प्रकाश और अन्धकार के समान आत्मा तथा अनात्मा हैं। प्रकाश में न तो अन्धकार रह सकता है और न अन्धकार में प्रकाश। इसी प्रकार आत्मा और अनात्मा भी एक साथ नहीं रह सकते। लोहा और अग्नि का तादात्म्य सम्बन्ध होता है। लोहे में अग्नि की दाहिका शक्ति से शरीर जल जाता है, लोहा जला नहीं सकता किन्तु अग्नि के तादात्म्य सम्बन्ध से 'लोहा जलाता है'—ऐसा लोग कहते हैं। आत्मा और अनात्मा का इस प्रकार तादात्म्य हो नहीं सकता, क्योंकि आत्मा निरवयव और निर्लेप है।

विरुद्ध स्वभाव वाले जब दो धर्मियों का सम्बन्ध नहीं हो सकता, तो उनके धर्मों का परस्पर सम्बन्ध हो, यह असम्भव है। स्फटिक और रक्त पदार्थ, इन दोनों धर्मियों का जब संसर्ग हो, तभी स्फटिक में रक्त पदार्थ का धर्म लालिमा आ सकती है। असंग आत्मारूप धर्मी का किसी भी धर्मी के साथ संसर्ग नहीं है, तो धर्म का संसर्ग हो ही कैसे सकता है? रज्जु में सर्प का एवं शुक्ति में रजत का अध्यास होता है, रज्जु में न सर्प है और न शुक्ति में रजत। प्रकाश में देखने पर कहीं भी सर्प की स्थिति नहीं देखी जाती, एक मात्र रज्जु ही दिखलाई पड़ती है। पास जाने पर शुक्ति में चांदी भी नहीं देखी जाती, केवल शुक्ति ही दिखाई पड़ती है। सर्प और चांदी मिथ्या ही प्रतीत होते थे। इसी प्रकार ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य ज्ञान से एक मात्र आत्मा के ही दर्शन होते हैं, विश्वप्रपञ्च, अहंकारादि और उनके धर्मों का कहीं भी अस्तित्व नहीं रहता। अध्यसित समस्त विश्व, देह और उनके धर्म वैसे ही लुप्त हो जाते हैं, जैसे खरगोश के सींग। एक मात्र अधिष्ठान स्वरूप आत्मा ही शेष रहता है। इस लिये आत्मानात्म का अध्यास 'मिथ्या' है। वस्तुत: आत्मा-अनात्मा का अध्यास 'असत्' है। किन्तु व्यवहार में सत्य प्रतीत होता है, इसलिये 'सत्' है। अध्यास को सत्य कहें या असत्य, यह समस्या अत्यन्त कठिन है। इसका पूर्णतया निरूपण करना असम्भव है, इसी लिये आत्मानात्म के अध्यास को 'अनिर्वचनीय' कहा जाता है।

यहां शङ्का होती है कि 'रज्जु, शुक्ति आदि में सर्प, रजतादि का अध्यास भले ही हो, किन्तु आत्मा में अध्यास सम्भव नहीं। क्योंकि रज्जु आदि अध्यास के प्रत्यक्ष अधिष्ठान हैं, वे इन्द्रिय संयुक्त हैं और विषय भी हैं। किन्तु आत्मा न तो इन्द्रिय संयुक्त है और न विषय है, इस लिये वह अधिष्ठान नहीं हो सकता।' इसका समाधान है कि आत्मा विषय होता ही न हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। 'मैं' ऐसे अध्यास का आत्मा विषय है, 'मैं' प्रतीति में आत्मा भासित होता है। 'मैं' का अर्थ चिदात्मा भी है, उसकी प्रतिबिम्ब रूप से जिसमें प्रतीति होती है, उस अहङ्कार का आत्मा विषय है। तात्पर्य अहङ्कार में आत्मा का अध्यास होने से आत्मा भासमान है और आत्मा भासमान होने से अध्यास होता है। अध्यास

अनादि है, पूर्व-पूर्व अध्यास में भासमान आत्मा उत्तरोत्तर अध्यास का अधिष्ठान होता है, इस लिये अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं कह सकते।

आत्मा प्रत्यक्ष और स्वप्रकाश है। मूढ से लेकर विद्वान् तक किसी को भी आत्मा में संशय नहीं होता, क्योंकि 'मैं हूँ' यह सभी मानते हैं, इसलिये आत्मा प्रसिद्ध है और स्वप्रकाश है। आत्मा स्वप्रकाशत्व रूप से भासमान होता है, इसलिये वह अध्यास का अधिष्ठान हो सकता है। इन्द्रिय संयुक्त विषय में ही अध्यास हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। आकाश इन्द्रिय से ग्रहण नहीं किया आसकता, फिर भी आकाश में अविवेकी लोग पृथिवी–तलच्छाया का अध्यास करते हैं। 'इन्द्रनील मणि की कढ़ाई के समान मलिन है, धुयें जैसा है, पीला है' ऐसा प्रत्यक्ष अध्यास करते हैं। आकाश और नीलगुण में सादृश्य नहीं है, तो भी अध्यास देखने में आता है। इसी प्रकार आत्मा और अनात्मा में सादृश्य न होने पर भी अध्यास होता ही है।

यह अध्यास अज्ञान का कार्य है, इसका निवारण होता है ज्ञान से। 'किन्तु अज्ञान कारण का वर्णन न कर कार्यरूप अध्यास का वर्णन क्यों किया गया ?' इसका उत्तर है कि कारणरूप अज्ञान सुषुप्ति में स्वरूप से अनर्थरूप में नहीं दिखाई देता, जाग्रत् अवस्था में कार्यरूप से कर्तृत्व–भोक्तृत्व आदि अध्यासरूप से अनर्थरूप है। रज्जु को न जानने से कोई अनर्थ नहीं होता, किन्तु रज्जु को सर्परूप से जानने में भय, कम्पादि रूप अनर्थ होते ही हैं। इसी प्रकार आत्मा को केवल न जानने से कोई अनर्थ नहीं होता, किन्तु आत्मा को अहङ्कार, बुद्धि, इन्द्रिय, देह आदि रूप से जानने पर सुख-दुःख, कर्तापन-भोक्तापन और जन्म-मरणादि का अनर्थरूप प्रवाह चल पड़ता है। इसीलिये अध्यास का कथन आवश्यकीय है।

आत्मा में जिस बुद्धि, इन्द्रिय आदि का अध्यास होता है, उस बुद्धि, इन्द्रियादि के किये हुये ब्रह्महत्या आदि महापातक तथा ज्योतिष्टोमादि यज्ञों के पुण्यों का लेशमात्र भी आत्मा से सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार सर्वज्ञत्व, अल्पज्ञत्व, क्षुधा, पिपासा, स्वर्ग–नरक, जन्म–मरण या बन्ध–मोक्ष आदि का भी किञ्चित् सम्बन्ध आत्मा से नहीं है। तात्पर्य अध्यास-जनित

गुण-दोषों से अधिष्ठान किञ्चित् भी लिप्त नहीं होता । इसीलिये अध्यास और अध्यास जनित कार्यों का निवारण ज्ञान से होता है ।

यदि आत्मा में अध्यास सत्य ही होता, तो उसकी निवृत्ति ज्ञान से नहीं हो सकती । इसी प्रकार यदि आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व, जन्म-मरणादि गुण भी वास्तव में हों, तो भी उनका निवारण ज्ञान से कभी सम्भव नहीं । ज्ञान से तो मिथ्या कल्पित वस्तु का निवारण होता है, वास्तविक वस्तु का नहीं । रज्जु में कल्पित मिथ्या सर्प का निवारण रज्जु के ज्ञान से होता है । इसी प्रकार आत्मा में कल्पित देहादि का निवारण आत्मज्ञान से होता है । रज्जु सर्प का निवारण न तो किसी कर्म से हो सकता है और न भावना से, इसके लिये एकमात्र मार्ग है ज्ञान का । इसी प्रकार अध्यास जनित बन्धन का और उसके कारण का निवारण अधिष्ठान स्वरूप आत्मा के ज्ञान से ही हो सकता है, न कर्म से सम्भव है और न उपासना से । इसीलिये श्रुति की स्पष्ट घोषणा है—**'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः'** (श्वे० ६।१३)—उस स्वकाश–देव को जान कर पुरुष अविद्यादि समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है । उस स्वप्रकाश को जान कर पुरुष मृत्यु के पार हो जाता है । इससे भिन्न मोक्ष प्राप्ति के लिये और कोई मार्ग नहीं है—

'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।' (श्वे० ६।१५)

आत्मा स्थूल, सूक्ष्मादि शरीर से रहित है, इसका प्रतिपादन भी श्रुति करती है । स्थूल देहरहित, अनेक अनित्य शरीरों में स्थित महान और विभु आत्मा को जानकर विद्वान् शोक नहीं करता—

> **'अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् ।**
> **महान्तं विभुमात्मानं मत्वाधीरो न शोचति ।।** (कठ० १-२-२२)

इस श्रुति में स्थूल देह का निराकरण किया गया है । **'अप्राणोह्यमनाः शुभ्रः'** (मु० २-१-२)—प्राणरहित, मनरहित, शुद्ध है, इसमें प्राण से क्रियाशक्ति का और मन से ज्ञानशक्ति का निषेध करने से कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियों का भी निषेध किया गया है । इसी प्रकार आत्मा अवयवरहित,

क्रियारहित, अपरिणामी, राग आदि दोषों से शून्य और कारणरूप अविद्या तथा उसके धर्मों से रहित है--

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६-१९)

आत्मा सम्पूर्ण धर्मों से रहित है। इतना ही नहीं शरीररहित आत्मा को वैषयिक सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते--

'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रियेस्पृशतः' (छा० ८-१२-१)

क्योंकि आत्मा सभी प्रकार के देहों व उनके धर्मों से रहित तथा स्वयं शान्त और निष्क्रिय है। वह एकमात्र असंग पुरुष है--**'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'** (बृ० ४-३-१५)

शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप, सच्चिदानन्दघन, एक, अद्वितीय तत्व ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एवं शरीर का अधिष्ठान है। आत्मा, ब्रह्म, सत्, पुरुष, शिव आदि विभिन्न नामों से शास्त्रों में इसका ही प्रतिपादन किया है। प्रत्यग-भिन्न रूप से वेदान्त शास्त्रों में इसी की जिज्ञासा कही गई है। खण्डित ब्रह्म या आत्मा की जिज्ञासा का कोई महत्व नहीं, पूर्ण ब्रह्म ज्ञान से ही मोक्ष होता है। इसी पक्ष का प्रतिपादन उपनिषदों में किया गया है--

'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३-२-९)--जो 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है।

'आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान्, न विभेति कुतश्चन' (तै २-९)--ब्रह्म के स्वरूप आनन्द को जानने वाला द्वितीय पदार्थ न होने के कारण भयरहित होता है।

'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति' (बृ० १-४-१०)--उस जीवसंज्ञक ब्रह्म ने गुरु के उपदेश से अपने को 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा जाना।

'तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (बृ० १-४-१०)--उस ज्ञान से वह ब्रह्मपूर्ण हुआ।

'तैद्धतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृ० १-४-१०) --वह 'ब्रह्म मैं हूं' ऐसा ज्ञान प्राप्त कर वामदेव मुनीन्द्र शुद्ध ब्रह्मस्वरूप हुये, उन्होंने मैं मनु हूं, मैं सूर्य हूं ऐसा देखा।

इस प्रकार अनेक श्रुतियां ब्रह्म एवं जीव का एकत्व बतलाती हैं और एकत्व ज्ञान से अज्ञान-निवृत्ति, पूर्ण ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति एवं मुक्ति का प्रतिपादन करती हैं। इतना ही नहीं, भेद ज्ञान की निन्दा भी की गई है—

'यत्र हि द्वैतमिव भवति' (बृ० २-४-१४)—जहाँ अज्ञानावस्था में द्वैत की तरह होता है।

'मृत्योःसमृत्युमाप्नोति य इहनानेवपश्यति' (बृ० ४-४-१९)—जो यहाँ भेद दृष्टि रखता है, वह जन्म-मरण-परम्परा में पड़ता है।

इसी प्रकार की अनेकों श्रुतियां हैं, जिनमें भेदज्ञान को भ्रान्ति और अनर्थ का कारण कहा है। कर्म और उपासना प्रतिपादक वाक्य अध्यास-जनित हैं, किन्तु ब्रह्म एवं आत्मा के एकत्व प्रतिपादक वाक्य अध्यासरूप नहीं हैं, यह प्रमा रूप हैं।

'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १-४-१०)—मैं ब्रह्म हूं।

'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २-५-१९)—यह आत्मा ब्रह्म है।

'तत्त्वमसि' (छा० ६-८-७)—वह तू ही है।

इत्यादि वाक्य अध्यासजनित भेद-भ्रम का निवारण करते हैं और अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप का अपरोक्ष अनुभव कराते हैं। रज्जुसर्प में रज्जु अधिष्ठान और सर्प अध्यस्त है। इसमें सर्प-ज्ञान भ्रम है, सर्प बुद्धि दृढ़ करने वाले कर्म, भावना या ज्ञान सभी अनर्थ रूप हैं और रज्जुस्वरूप का प्रकाश करने वाला ज्ञान ही वास्तव में भ्रमनिवारक ज्ञान है। इसी प्रकार निखिल विश्व प्रपञ्च एवं जीव के अधिष्ठान ब्रह्मात्मस्वरूप के प्रकाशक वाक्य अध्यास मूलक कैसे हो सकते हैं? वह तो अध्यास और अध्यास-जनित बन्धन का निवारण करते हैं और एकमात्र अधिष्ठान ब्रह्म को ही शेष रखते हैं।

उपनिषदों के तात्पर्य को भगवान् वेदव्यास ने 'ब्रह्मसूत्र' में इसी रूप से रखा है। वह ज्ञान को ही एकमात्र मोक्ष का स्वतन्त्र साधन स्वीकार करते हैं :

'पुरुषार्थोऽतः शब्दादित बादरायण' (ब्र० सू० ३-४-१)

—आचार्य बादरायण का मत है कि इसी औपनिषद् स्वतन्त्र आत्म-ज्ञान से मोक्षरूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है। **'तरति शोकमात्मवित्'** (छा०

७-१-३), 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३-२-९), 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २-१-१)--आत्मवेत्ता शोक से तर जाता है, जो कोई उस परम ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म को ही प्राप्त होता है, ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है और ब्रह्मज्ञ परब्रह्म को प्राप्त होता है, इस प्रकार की श्रुतियां प्रमाण हैं।

'अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा' (ब्र० सू० ३-४-२५)

--इस सूत्र से कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान स्वतन्त्र ही पुरुषार्थ हेतु है, इसलिए अपने-अपने आश्रम में विहित कर्मों की ब्रह्मविद्या अपेक्षा नहीं रखती।

कर्मों का फल उत्पाद्य, आप्य, संस्कार्य और विकार्य चार प्रकार का ही होता है, अन्य कोई गति कर्म की नहीं है। किन्तु मुक्ति इन चारों प्रकार के फलों से पृथक् तथा नित्य सिद्ध है और पुरुष से अभिन्न है। इसलिये लौकिक या वैदिक किसी भी कर्म से मुक्ति नहीं मिल सकती। उपासना भी कर्म का सूक्ष्म रूप है, इससे मन की चञ्चलता दूर होती है, एक प्रतीक में मन स्थिर होता है, ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है और उपास्य को मरणोपरान्त उपासक पाता है। उपासना भी अध्यासमूलक होने से उससे मुक्ति असम्भव है। जब तक अध्यास का निवारण नहीं होगा और अधिष्ठान का ज्ञान नहीं होगा, तब तक मोक्ष सम्भव ही नहीं।

अध्यास का निवारण अधिष्ठान के ज्ञान से ही होगा। इसलिये एकमात्र ज्ञान से ही जन्म-मरण-परम्परा का विनाश और अखण्ड, नित्य एवं चिद्घन स्वरूप मुक्ति की प्राप्ति होगी। वस्तुतः जीव मुक्तस्वरूप आत्मा ही है, अज्ञान के कारण अपने को हस्त, पादयुक्त शरीर, जन्म-मरण वाला और कर्ता-भोक्ता मानता है। जब शास्त्र-प्रमाण से अज्ञान का निवारण करता है और 'मैं मुक्तस्वरूप ब्रह्मात्मा हूं' इस प्रकार दृढ़ निश्चय ज्ञान द्वारा करता है, तब वह जन्म-मरण-परम्परा से पृथक् हो जाता है। मुक्त होते हुये ही मुक्त होता है। इसलिये मुक्ति में स्वतन्त्र ज्ञान ही हेतु है, इसमें संशय नहीं।

०⁀०⁀०

ज्ञान के साधनों पर एक दृष्टि

शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप, निर्गुण, निराकार, निष्क्रिय, आकाशवत्, एवं सर्वदोषविवर्जित एक, अद्वितीय, आत्मा ही है। यही ज्ञान-क्रिया शक्ति का अक्षय स्रोत है। सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक विश्व प्रपञ्च इसी में कल्पित है। ज्ञान-क्रिया स्वरूपिणी शक्ति ही कल्पना करने वाली है, आत्मा तो अपने स्वरूप सच्चिदानन्द में ही स्थित रहता है। 'बृहदारण्यक' में कहा है कि प्रथम पुरुषाकार (पुरुष की तरह शिर, कर, चरणादि वाला विराट् पुरुष) प्रजापति ही था। प्रथम उत्पन्न हुये प्रजापति ने विचार किया कि 'मैं कौन हूँ और कैसे लक्षणोंवाला हूँ ?' अपने प्राण समुदायरूप देहेन्द्रियसंघात से भिन्न कोई और पदार्थ न देखा। उसने आरम्भ में अपने को ही 'अहमस्मि' (मैं हूँ) ऐसा कहा, इस लिये वह 'अहम्' नामवाला हुआ—

'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः सोनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततो ऽहंनामाभवत्। (१।४।१)

कारणरूप प्रजापति ने 'अहमस्मि' कहा था, इसी से इस समय भी उसके कार्यभूत जीवों में जब किसी को 'तू कौन है ?' ऐसा कहकर पुकारा जाता है, तो पहले 'अयमहम्' (यह मैं हूँ) नाम बतला कर फिर अपना विशेष 'देवदत्त' आदि नाम बतलाता है—

'तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति' (१।४।१)

इस आख्यायिका से यह ज्ञात होता है कि ज्ञानस्वरूप प्रजापति भी पूर्व संस्कार के कारण पुरुषाकार होने पर अपने स्वरूप से अनभिज्ञ थे। अपने स्वरूप का 'अज्ञान' था। पुरुषाकार शरीर समुदाय में प्रथम 'अहम्' भावना न थी। 'संशय' था कि यही हमारा स्वरूप है या अन्य। इस पर विचार किया और अन्त में जब कोई अन्य पदार्थ दिखाई न दिया तो शरीर को ही 'मैं' मान लिया। शरीर में 'अहम्' भावना करना 'विपर्यय ज्ञान' या 'अध्यास' हुआ। इस प्रकार अज्ञान, संशयज्ञान और विपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गये। आज भी प्राणीमात्र में यह तीनों देखे जाते हैं। विपरीत ज्ञान (शरीर को ही 'मैं' मानना) होने पर पुरुष में अपूर्णता आजाती है। अपूर्णता से कामना होती है रमण की, रमण में ही वह पूर्णता का अनुभव करता है। रमण होता है विषयों के साथ, इसी से प्रजापति ने दूसरे की इच्छा की—**'सद्वितीयमैच्छत्'** (बृ० १।४।३)। उसने स्त्री की कामना की, वह आदि पुरुष सत्यसंकल्प वाला था, इसलिये कामना करते ही भावना से स्त्री-पुरुष के परिमाणवाला हो गया। तात्पर्य इतना ही कि शरीर में अभिमान होने से पुरुष में कामना होती है। यदि सत्यसंकल्पवाला है, तो संकल्प से कामना की पूर्ति हो जाती है और यदि क्षीण संकल्प पुरुष है, तो कामना की पूर्ति के लिये कर्म करता है। कर्म से विषयों का संग्रह और उनका उपभोग करता है।

नेत्रों से रूप विषय का उपभोग करता है, कर्ण से शब्द का, नासिका से गन्धका, जिह्वा से रस का और त्वचा से स्पर्श का भोग भोगता है। इसी प्रकार जननेन्द्रिय से रति का, वाणी से शब्दोच्चारण का, हाथ से आदान-प्रदान का, पैर से गमनागमन का और गुदा से मल-त्याग का कर्म करता है। अन्तःकरण से विषयों का चिन्तन, मनन और उनके प्राप्त करने के उपाय सोचता है। एक विषय का उपभोग करने के अनन्तर दूसरे की कामना होती है, दूसरे के पश्चात् तीसरे की तीव्र इच्छा होती है। इस प्रकार विषय की कामना और उपभोग का क्रम निरन्तर चलता रहता है। प्रिय विषयोपभोग के संस्कार अन्तःकरण में अङ्कित हो जाते हैं,

इससे पुनः उनकी प्राप्ति की इच्छा होती है। यह संस्कार जन्म-जन्मान्तर तक क्षीण नहीं होते। प्रिय विषय की प्राप्ति में यदि किसी के द्वारा रुकावट होती है, तो उस पर क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध में पुरुष हिंसा भी कर बैठता है। इस प्रकार पुरुष राग-द्वेषसंयुक्त, विषयों का दास और इन्द्रिय परतन्त्र होकर प्रायः अशुभ कर्मों में ही प्रवृत्त होता है। मृत्यूपरान्त कर्मानुसार मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि योनियों में विषयोपभोग करता जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवाहित होता रहता है।

बीज से अंकुर, शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्पादि निकलते हैं। वैसे ही अज्ञानरूपी बीज से 'संशयज्ञान', 'विपर्यय ज्ञान', 'कामना', 'कर्म', 'विषय', 'विषयोपभोग', 'इन्द्रियलोलुपता', 'आसक्ति', 'राग', 'द्वेष', 'क्रोध', 'अविवेक' और जन्म-मरणादि महान् दुःखों का विषवृक्ष उत्पन्न हो जाता है। प्राणी का अन्तःकरण विषयाकार हो जाता है, उसमें विवेक, वैराग्य का स्थान ही नहीं रहता। यही कारण है कि आत्मज्ञान की ओर उसकी रुचि नहीं होती, इतना ही नहीं वह आत्मज्ञान को व्यर्थ का शब्दाडम्बर कहता है और उसका विरोध करता है। वह न ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है, न आत्मा को, न धर्म को और न इन्द्रिय-निग्रह को। उसकी दृष्टि में प्रिय विषय और उनका उपभोग ही सब कुछ है, वही धर्म है, वही ईश्वर है, और वही उसका पावन कर्तव्य है।

ऐसे विषयी पुरुषों के लिये भी अपने शास्त्रों में उन्नति का मार्ग बतलाया गया है। वह कहते हैं कि 'यदि विश्व से भी सर्वाङ्ग सुन्दरी रमणियों के उपभोग की इच्छा है, यदि विश्व के सम्राट् से भी अधिक, पूर्ण और सदैव ऐश्वर्य चाहते हो और जो भी इच्छा करो उसी समय वह वस्तु उपस्थित हो जाय तो स्वर्ग की कामना से यज्ञ करो। स्वर्ग में अमर जीवन, अक्षय सुख और पूर्ण ऐश्वर्य प्राप्त होगा।' लौकिक-पाशविक कर्मों से वैदिक यज्ञादि कर्मों की ओर प्रवृत्त कराना ही उनका उद्देश्य है। इससे स्वर्गिक सुख तो मिलेगा ही, किन्तु यज्ञादि कर्मों से लौकिक विषयों की ओर उसकी चेष्टा न होगी। कालान्तर में विवेक का उदय होगा और विषयों की ओर प्रवृत्ति में कमी होगी।

जब स्वर्ग-सुख और स्वर्ग के अनित्य का विवेक उत्पन्न होगा, तब सकाम कर्मों से अरुचि हो जायगी। 'सकाम यज्ञादि कर्मों का फल सीमित तथा विनाशी है, निष्काम यज्ञादि कर्मों का फल अनन्त सुख की प्राप्ति है और अविनाशी है'। ऐसा निश्चय होने पर उसकी निष्काम कर्म में प्रवृत्ति होती है। वेद के नित्य स्वाध्याय, यज्ञ, दान और अनाशक तप से ब्राह्मण आत्मा को जानने की इच्छा करते हैं :

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'

(बृ० ४-४-२२)

यह श्रुति ज्ञान के साधन रूप से यज्ञादि कर्मों को बतलाती है। ज्ञान में प्रतिबन्धक हैं--अनेक जन्मार्जित पाप, प्रज्ञा-मान्द्य, कुतर्क और विपरीत ग्रहण। निष्काम कर्म, वेदाध्ययन, दान एवं तप से पुण्योपार्जन, बुद्धि की निर्मलता, शरीर में अनात्मभावना और श्रद्धा उत्पन्न होती है। तब ज्ञान के प्रतिबन्धक पापादि क्षीण होते हैं, पुण्य की वृद्धि, प्रज्ञोत्कर्ष और गुरु तथा अध्यात्म शास्त्रों में श्रद्धा बढ़ती है। इसलिये यज्ञादि कर्म ज्ञानोत्पन्न में सहकारी हैं। 'ब्रह्मसूत्र' में भी कहा है :

'सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत्' (३-४-२६)

—विद्या अपनी उत्पत्ति में सभी आश्रम कर्मों की अपेक्षा करती है, क्योंकि 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि श्रुति से विविदिषा द्वारा ज्ञान के साधन का कथन है। अश्व रथ में ही जोता जाता है, हल में नहीं, वैसे ही कर्म भी अयोग्य होने से मोक्ष में अपेक्षित नहीं हैं। तात्पर्य कर्म से मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता, किन्तु अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञानोत्पन्न होगा और ज्ञान से मोक्ष। इस प्रकार परम्परा से कर्म मोक्ष के साधन अवश्य हैं, साक्षात् मोक्ष के नहीं।

ज्ञानोत्पन्न में निष्काम यज्ञादि कर्म साधन हैं, किन्तु इनका प्रभाव अन्तरङ्ग कम होता है, बहिरङ्ग अधिक है। इन कर्मों से स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर, बाह्यकर्म से अन्तर इन्द्रियनिग्रह की ओर एवं कर्म से संन्यास की ओर अधिकारी पुरुष बढ़ता है। अन्तरङ्ग साधन का सूत्रकार विधान करते हुये कहते हैं :

'शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदंगतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्'
(ब्र० सू० ३-४-२७)

--इसका अर्थ है कि यद्यपि यज्ञादि कर्मों से ज्ञान में साधनत्व कहा है, तथापि ब्रह्मज्ञान के अभिलाषी को शम, दम आदि से युक्त होना चाहिये। क्योंकि ज्ञान के अङ्गरूप से 'तस्मादेवंवित्' इत्यादि श्रुति से शम, दमादि का विधान है और विहित होने के कारण शमादि का अवश्य अनुष्ठान करना चाहिये। सूत्र में जिस श्रुति की ओर संकेत किया गया है, वह यह है :

'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' (बृ० ४-४-२३)

—इस प्रकार जाननेवाला शान्त—बाह्य इन्द्रियों के व्यापार से उपशान्त—, दान्त—अन्तःकरण की तृष्णा से निवृत्त, उपरत--सब एषणाओं से विनिर्मुक्त संन्यासी, तितिक्षु--द्वन्द्व सहन करने वाला, समाहित–इन्द्रिय और अन्तःकरण से व्यावृत्त होकर एकाग्र रूप से समाहित होकर आत्मा में आत्मा को देखता है।

निष्कर्ष यह कि निष्काम कर्मों से ईश्वर की प्रसन्नता होती है, चित्त शुद्ध होता है, तब विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता का उदय होता है। यह साधन चतुष्टय अन्तरङ्ग है, इनके लक्षण इस प्रकार हैं :

विवेक—स्थूल शरीर अन्नमय है। माता-पिता द्वारा उपभुक्त अन्न से वीर्य बनता है। वीर्य से स्थूल शरीर उत्पन्न होता है और अन्न के सेवन से इसकी वृद्धि होती है। अन्त में इसका विनाश होता है, अतः यह अनित्य तथा विनाशी है। इसके विपरीत आत्मा चेतन, अविनाशी तथा सर्वदा एक रूप से रहने वाला है। शरीर में प्राण, मन, बुद्धि एवं आनन्द भी विनाशी हैं; कभी उत्पन्न होते हैं और कभी मरते हैं। सदैव एक रूप से स्थिर नहीं रहते, इसलिये अनित्य हैं। किन्तु इनका प्रकाशक, ज्ञाता एवं सर्वकाल में रहने वाला आत्मा नित्य, सच्चिदानन्दस्वरूप है।

इसी प्रकार आकाश, वायु, तेज, जल एवं भूमि तथा इनके कार्य स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि तथा नद, नदी, वृक्ष, पर्वतादि और

समस्त वैषयिक पदार्थ अनित्य हैं। क्योंकि सभी उत्पन्न होते और विनाश को प्राप्त होते हैं। किन्तु इनका अधिष्ठान ब्रह्मात्मा सदैव एक रूप से स्थित रहता है, इसलिये वह नित्य है। इस प्रकार का विचार 'नित्यानित्य विवेक' कहा जाता है। अनित्य पदार्थ का त्याग और नित्य आत्मा में बुद्धि को स्थिर करने से आत्मदर्शन एवं दृढ़ निश्चय होता है।

वैराग्य—स्त्री, पुरुष, धन, सम्पत्ति, मान, प्रतिष्ठा एवं स्वर्गलोक तथा ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने भी भोग्य पदार्थ हैं; उनको अनित्य समझ कर मन से राग-भावना का परित्याग करना ही 'वैराग्य' है। काक एवं शूकर-विष्ठा में जिस प्रकार हेय बुद्धि होती है, उसी प्रकार लोक-परलोक के भोगों में हेय बुद्धि होना वैराग्य है। राग-द्वेष रहित मानसिक स्थिति ही सच्चे वैराग्य का लक्षण है। ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर आत्मस्वरूप ही शेष रह जाता है और पुरुष की बुद्धि उसी में स्थिर हो जाती है।

शम—यद्यपि विवेक तथा वैराग्योदय होने पर मन की स्वरूप में स्थिति हो जाती है। तथापि अनेक जन्म-जन्मान्तरों के वैषयिक भोगों के सूक्ष्म संस्कार होने से मन स्वभावतः उस ओर गमन करता है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व तथा मैं—मेरे की भावना शरीरेन्द्रिय एवं विषय पदार्थों में उत्पन्न होती रहती है। जिस प्रकार तरंगित जल में स्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई पड़ता, उसी प्रकार मानसिक वृत्ति के उदय होने पर स्वरूप का प्रतिबिम्ब भी नहीं भासित होता। इसलिये मन को शरीरेन्द्रिय तथा वैषयिक पदार्थों से बार-बार हटाना ही परम कर्तव्य है। अनित्य पदार्थों से मन का लौटाना ही 'शम' है।

दम—इसी प्रकार ज्ञान-कर्मेन्द्रिय भी वैषयिक भोगों की लोलुप होने से बार-बार विषयों की ओर जाती हैं। उन इन्द्रियों का विषयों की ओर से निग्रह करना ही 'दम' है। इससे इन्द्रियां और मन शान्त हो जाते हैं।

उपरति—विवेक, वैराग्य, शम तथा दम के द्वारा समस्त वैषयिक पदार्थ एवं उनकी वासना से पूर्णरूपेण मुक्त हो जाने पर पुरुष का कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। ऐसी स्थिति आने पर सम्पूर्ण कर्मों का त्याग ही एकमात्र मार्ग रह जाता है। वाह्य एवं अभ्यन्तर समस्त कर्मों का संन्यास

ही 'उपरति' है। उपरति से अन्तःकरण आत्माभिमुख होता है और आत्मा में स्थिति हो जाती है।

तितिक्षा—किन्तु प्रारब्ध कर्मानुसार शरीर में सुख-दुःखात्मक भोग उपलब्ध होते ही हैं। उन भोगों से विचलित न होना और बिना प्रतिकार सभी प्रकार के कष्टों को सहन करना ही 'तितिक्षा' है। यदि कष्टों से साधक विचलित होकर उनके दूर करने के प्रयत्न में लग जाता है, तो शरीर में अहं भावना उत्पन्न हो जाती है और मानसिक वृत्ति का प्रवाह अनात्म पदार्थ में होने लगता है। इस कारण तितिक्षा का स्थान महत्व-पूर्ण है।

श्रद्धा—स्वयं साधक की बुद्धि भ्रम, प्रमादादि संयुक्त होती है। इस कारण असत् को ही सत् मान लेता है, ऐसा होने पर पुरुषार्थ से च्युत हो जाता है। अतः भ्रम, प्रमादादि से रहित शास्त्र-वाक्य एवं तदनुसार गुरु-वाक्य द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलना ही श्रेयस्कर होता है। अतः शास्त्र तथा गुरु-वाक्यों में पूर्ण भक्ति अनिवार्य है। इसी का नाम 'श्रद्धा' है।

समाधान—गुरु एवं शास्त्र-प्रदर्शित आत्मतत्त्व को जान कर उसी में बुद्धि स्थिर करना चाहिये। राग-द्वेष द्वन्द्वों में भी सम स्थिति रहना एवं आत्मतत्त्व में तैलधारावत् चित्त की वृत्ति का प्रवाहित होना 'समाधान' है।

मुमुक्षुता—इन साधनों के सम्पूर्ण होने पर भी यदि मोक्ष की इच्छा नहीं है, तो पुरुष मुक्त नहीं होता। इस कारण मोक्ष की इच्छा परमा-वश्यकीय है। 'संसार रूपी बन्धन से मुक्ति कैसे होगी ?' इस प्रकार की सुदृढ़ भावना को 'मुमुक्षुता' कहते हैं।

इस प्रकार साधन-चतुष्टय-सम्पन्न पुरुष ज्ञान का अधिकारी है। इन साधनों से अज्ञान जनित कामना, कर्म, विषयोपभोग, इन्द्रियलोलुपता, आसक्ति, राग-द्वेषादि द्वन्द, क्रोधादि मानसिक विकार एवं अविवेक का निवारण होता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा इनसे आच्छादित रहता है। अन्तः-करण कामना आदि दोषों का निवास स्थान है। इनके कारण ही अन्तः-करण दूषित होता है, जब ये कामादि दोष अन्तःकरण से दूर हो जाते हैं, तब वह शुद्ध हो जाता है। जैसे घर से कूड़ा निकाल देने पर अथवा दर्पण

से मल धोने पर घट तथा दर्पण निर्मल हो जाते हैं, वैसे ही अन्तःकरण भी निर्मल हो जाता है। निर्मल अन्तःकरण में ही आत्मा प्रतिबिम्बित होता है और सूक्ष्म वस्तु को ग्रहण करता है।

शुद्ध चित्त में ही जिज्ञासा होती है : 'मैं कौन हूं ?', 'यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ ?', 'इसका रचयिता कौन है ?', 'कौन इसका उपादान कारण है ?' और 'मेरा तथा उसका सम्बन्ध क्या है ?' जिज्ञासा की निवृत्ति 'श्रवण' से होती है। इसीसे श्रुति कहती है।

'आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'

(बृ० ४।५।६)

—अरे मैत्रेयि ! आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार करना चाहिये, इसके लिये श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करना चाहिये। श्रवण ब्रह्मनिष्ठ आचार्य से कर्तव्य है। क्योंकि आचार्यवान् पुरुष को ही ब्रह्मज्ञान होता है : **'आचार्यवान् पुरुषो वेद'** (छा० ६।१४।२)।

आत्मा एवं ब्रह्म के एकत्व प्रतिपादक वाक्यों का सुनना ही 'श्रवण' है। असम्भावना आदि कारणों से यदि श्रवण किया हुआ तत्त्व चित्त में स्थिर न होता हो, तो साधक-बाधक युक्तियों के द्वारा तत्त्व के एकत्व का निश्चय 'मनन' है। विपर्यय ज्ञान का निवारण निदिध्यासन से होता है। तैलधारावत् चित्त का प्रवाह आत्मा में प्रवाहित होना 'निदिध्यासन' है।

'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७)—वह तू है, आदि महावाक्य एकत्व प्रतिपादक हैं। 'तत्', 'त्वम्' एवं 'असि' ये तीन पद हैं इस महावाक्य में। 'तत्' का अर्थ है वह, 'त्वम्' का तू और 'असि' का है। इस प्रकार स्थूलत्व, कृशत्व आदि देह-धर्म, काणत्व, बधिरत्व आदि इन्द्रिय धर्म एवं सुख-दुःख, कर्तृत्व-भोक्तृत्व तथा अल्पज्ञत्व आदि अन्तःकरण के धर्मों का अपने में मिथ्या आरोप कर जो सम्पूर्ण व्यवहार करता है, वह प्रत्यक्षरूप से स्थित 'त्वं' पद का वाच्य अर्थ है। जो स्वयं ज्ञानस्वरूप होने से देहेन्द्रियादि के धर्मों से विलक्षण एवं देहेन्द्रियादि का साक्षी है, वह 'त्वं' पद का लक्ष्यार्थ है। तात्पर्य शरीरादि उपाधि संयुक्त आत्मा ही वाच्यार्थ है और उपाधिरहित, शुद्ध, चिदानन्दस्वरूप आत्मा लक्ष्यार्थ कहा जाता है।

वेदान्त-प्रतिपादित विश्वातीत, अक्षर, अद्वितीय एवं स्वयं प्रकाश जो तत्त्व है; वह 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ है। विश्व का अभिन्न निमित्तोपादान कारण, सर्वज्ञ, सर्ववित्, सम्पूर्ण प्राणियों का कर्म-फल-प्रदाता, शासक एवं मायोपाधिक ब्रह्म ही 'तत्' पद का वाच्यार्थ है।

तत् और त्वं पद का सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध से ब्रह्म एवं जीव की एकता का प्रतिपादन होता है। 'तत्' पदार्थ परोक्ष है और 'त्वं' पदार्थ प्रत्यक्ष। प्रथम सर्वज्ञ, शासक एवं कर्म-फल-प्रदाता है, दूसरा अल्पज्ञ, शासित एवं कर्म-फल-भोक्ता है। ये परस्पर विलक्षण हैं, इसलिये लक्षणा के द्वारा अर्थज्ञान होता है। जहां पर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विरोध से शब्द मुख्य अर्थ का बोध न करा सकें, उस स्थान में उसकी मुख्य अर्थ के सम्बन्धी अमुख्य अर्थ में प्रवृत्ति होती है। इसे लक्षणा कहा जाता है।

लक्षणा तीन प्रकार की होती है—जहती, अजहती और जहदजहती। वाच्य अर्थ का सर्वथा परित्याग कर वाच्यअर्थ के सम्बन्धी में जो शब्द की वृत्ति होती है, वह जहती लक्षणा है। 'गंगायांघोष:' इसका उदाहरण है। गंगा में गोप-ग्राम है, गंगा शब्द का अर्थ है प्रवाह, किन्तु प्रवाह में ग्राम की स्थिति असम्भव है। इसलिये 'गंगा' शब्द अपने वाच्य अर्थ (प्रवाह) के सम्बन्धी तट को बोधित करता है, अतः 'गंगा' शब्द का लक्ष्य अर्थ गंगा-तट है। यह लक्ष्यार्थ जहती लक्षणा से सिद्ध होता है। इस लक्षणा के द्वारा 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि समस्त वाच्य अर्थ का त्याग करने पर शेष क्या रहेगा ?

वाच्य अर्थ का त्याग न कर वाच्य अर्थ के सम्बन्धी में जो शब्द की वृत्ति होती है, वह अजहती लक्षणा कही जाती है। 'काकेभ्योदधि रक्षताम्' (कौवे से दही की रक्षा करो) इसका उदाहरण है। इसमें वाच्य अर्थ 'काक से दधि की रक्षा करो' का त्याग न कर उसके सम्बन्धी गिद्ध, श्वान आदि में जो काक शब्द की वृत्ति है, वह अजहती लक्षणा है। तात्पर्य है कौवे, श्वान आदिकों से दही की रक्षा करो। तत्त्वमसि के वाच्यार्थ में प्रबल विरोध है, अतः इनके परित्याग के बिना अर्थ की संगति नहीं हो सकती। इसलिये अजहती लक्षणा के द्वारा भी अर्थ सम्भव नहीं।

वाच्य अर्थ के एक देश का त्याग कर दूसरे एक देश का जो बोध कराती है, वह भागत्याग (जहदजहती) लक्षणा है। 'सोऽयं देवदत्तः' इसका उदाहरण है। 'सः' पद भूतकाल-विशिष्ट देवदत्त का बोध कराता है और 'अयं' पद वर्तमानकाल-विशिष्ट देवदत्त का। इसलिये परस्पर विरुद्ध अंश—भूतकाल और वर्तमानकाल का त्याग कर एक ही देवदत्त का बोध कराता है। इसी प्रकार तत्त्वमसि के तत् पद के सर्वज्ञत्व-परोक्षत्व आदि ब्रह्म-धर्मों का त्याग और त्वं पद के अपरोक्षत्व-अल्पज्ञत्व आदि जीव-धर्मों का त्याग करने से शुद्ध, कूटस्थ एवं अद्वितीय ब्रह्म का बोध होता है इसलिये भागत्याग लक्षणा का इसमें उपयोग है।

तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के अर्थ का विचार करने पर एक सच्चिदानन्दस्वरूप ही अवशिष्ट रहता है। माया तथा उसके कार्य और अविद्या एवं उसके कार्यों का सर्वथा मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। माया और अविद्या की उपाधि ईश्वर तथा जीव से निवृत्त हो जाने पर दोनों की एकता सिद्ध होती है। जिस प्रकार घट, मठ उपाधि के निवारण होने पर घटाकाश और मठाकाश की एकता सिद्ध होती है, वैसे ही ईश्वर तथा जीव की स्वरूप से एकता होती है। इस एक स्वरूप में स्थिति होने पर जीव सर्वथा बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार अज्ञान का निवारण श्रवण से, संशय तथा असम्भावना का मनन से और विपर्यय ज्ञान (अध्यास) का निवारण निदिध्यासन से होता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि साधनों से किसी नवीन वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती, प्राचीन स्वरूप का ही दर्शन होता है। स्वस्थ पुरुष जब ज्वराक्रान्त होता है, तब ओषधि द्वारा उसका ज्वर दूर किया जाता है। ज्वर दूर होने पर पुनः स्वस्थ हो जाता है, स्वस्थता कोई नवीन वस्तु नहीं मिली, प्राचीन की ही प्राप्ति हुई। इसी प्रकार जीव अज्ञानाक्रान्त होकर साधनों के द्वारा अज्ञानादि का निवारण करता है, अज्ञानादि के निवारण होने पर पुनः पूर्व के समान आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है। किसी नवीन वस्तु को साधनों से प्राप्त नहीं करता, किन्तु सनातन आत्म-स्वरूप का ही साक्षात्कार करता है।

एक बात और, साधनों में तारतम्य है। सकाम कर्म बाह्य हैं और निष्काम कर्म अन्तरंग। शम, दमादि निष्काम कर्म से भी अन्तरंग हैं और शमादि की अपेक्षा निष्काम कर्म बहिरंग। इसी प्रकार श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन साधन अन्तर्तम हैं और शमादि उनकी अपेक्षा बाह्य। श्रवणादि से भी अन्तरंग समाधि है। बाह्य साधनों से अन्तरंग साधनों की ओर जितना प्रवेश करेंगे, उतना ही आत्मा के निकट पहुंचेंगे। अन्तर्तम साधन समाधि में स्थिति होने पर यदि बाह्य साधनों की उपेक्षा हो तो अनुचित नहीं। आत्मस्थिति होने पर किसी भी साधन में रत रहना उचित नहीं है, उस समय सभी साधन बाधक प्रतीत होते हैं। वस्तुतः फिर तो साधनमय जीवन ही बन जाता है। यदि किसी कारण कोई साधन स्वभाव में परिणत न हो, तो उसके लिये कोई चिन्ता की आवश्यकता नहीं। यदि नदी पार कर लिया तो तैरना न भी आता हो तो कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि अब नदी-पार करना शेष नहीं। इसी प्रकार यदि समाधि के द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर लिया तो फिर किसी भी साधन के लिये चिन्ता नहीं करना चाहिये, क्योंकि अब कोई कर्तव्य शेष नहीं।

निदिध्यासन के पश्चात् समाधि की स्थिति आती है। चित्त का प्रवाह तैलधारावत् निरन्तर चेतनतत्व में चलता रहता है। प्रलयकालीन समुद्र के समान या महाकाशवत् एकमात्र चेतनतत्व का ही साक्षात्कार होता है। इस वृत्ति में भी ध्याता, ध्यान और ध्येय का समावेश रहता है। किन्तु अभ्यास की परिपाकावस्था में ध्याता और ध्यान का विस्मरण हो जाता है, एकमात्र ध्येय स्वरूप ही शेष रहता है। तब निदिध्यासन से वही 'समाधि' हो जाती है। जिस प्रकार वायुरहित स्थान में दीपक की ज्योति निष्कम्प प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार चित्त-वृत्ति निष्कम्प आत्मस्वरूप में निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। वह चित्त-वृत्ति आत्मस्वरूपिणी हो जाती है, आत्मा में लीन होती है, उसका भान किञ्चित् भी नहीं होता। व्युत्थान अवस्था में स्मृति होती है कि 'इतने समय तक समाधि में रहे'।

इस समाधि के सिद्ध होने पर अनन्त कोटि जन्म-जन्मान्तरों, कल्प-कल्पान्तरों के संचित कर्म भस्म हो जाते हैं। जैसे रुई के ढेर में अग्नि

प्रज्वलित होने पर समस्त रुई भस्म हो जाती है, वैसे ही ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होने पर अज्ञान और अज्ञानकृत सञ्चित कर्मों का ढेर भस्म हो जाता है। आत्मज्ञानी के बन्धन विनष्ट हो जाते हैं, वह मुक्त और निर्भय हो जाता है। उसका कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता और कुछ प्राप्तव्य भी नहीं रहता।

भय का कारण अज्ञान ही है। प्रथमोत्पन्न प्रजापति जिनका वर्णन पूर्व में आया है, वह भी शरीरेन्द्रिय रूप आत्मनाश के भय से भयभीत हो गये थे। किन्तु जब विचार किया, 'यदि मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है, तो मैं किस से डरता हूं?' तभी वह भय से निवृत्त हो गये :

स हायमीक्षां चक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय' (बृ० १-४-२)

श्रुति यहां स्वयं प्रश्न करती है कि **'कस्माद्धचभेष्यद्'**—किन्तु उसे भय क्यों हुआ? स्वयं उत्तर भी देती है कि भय तो दूसरे से ही होता— **'द्वितीयाद्वै भयं भवति'** (बृ० १-४-२।

इस आख्यान से यही निश्चय होता है कि भय का कारण अज्ञान प्रजापति में विद्यमान था, इस दूसरे की विद्यमानता के कारण प्रजापति भी भयभीत हो गये। किन्तु पूर्वजन्मार्जित ज्ञान के स्मरण से उनका अज्ञान निवृत्त हो गया और एकत्व के निश्चय से वह भी अभय हो गये। निष्कर्ष यह कि मानव हो या देव, प्रजापति हों या ब्रह्मा सभी में भय, बन्धनादि का कारण अज्ञान है और निर्भय, मोक्ष तथा सदानन्द का कारण है ज्ञान।

समाधि अवस्था में अभेद दर्शन ही ज्ञान है। क्योंकि वहां ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का अभाव होता है। ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय में प्रथम ज्ञान का विस्मरण होता है, फिर ज्ञाता का। ज्ञेय शेष रहता है, फिर ज्ञेय-दर्शन भी विलुप्त हो ज्ञाता है और अखण्ड, सर्वभेदविवर्जित, एक, ज्ञानस्वरूप आत्मा ही शेष रहता है। दृश्य, दर्शन और दृष्टा तीनों के अभाव होने पर कौन? किसको? किससे देखे? जिसके द्वारा पुरुष सब पदार्थों का ज्ञान करता है, उसे किस साधन से जाना जा सकता है? हे मैत्रेयि! विज्ञाता को किसके द्वारा जाने?

'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृ० ४-५-१५)

संन्यास एवं सद्गुरु का संयोग

ज्ञान के साधनों में संन्यास की महत्वपूर्ण भूमिका है। क्योंकि ब्रह्म निष्क्रिय तथा शान्त है, और कर्म सक्रिय, अशान्त एवं काम-मूलक होते हैं। जब तक साधक का अन्तःकरण निष्क्रिय, शान्त और संकल्परहित न होगा, तब तक ब्रह्मज्ञान असम्भव है। कर्म कर्ता, करण आदि की अपेक्षा से होते हैं और ज्ञान निरपेक्ष होता है। कर्म प्रवृत्तिमार्ग है और ज्ञान निवृत्तिमार्ग। इसलिये दोनों में परस्पर विरोध है। प्रवृत्तिमार्ग के त्याग करने पर ही निवृत्ति मार्ग पर गमन हो सकता है। अतः विना संन्यास के ज्ञान सम्भव नहीं। इसलिये संन्यास पर एक विहङ्गम दृष्टि डालना समुचित प्रतीत होता है।

ब्रह्मचर्यादि आश्रमों की अपेक्षा संन्यास आश्रम चतुर्थ तथा अन्तिम है। इस आश्रम में ही ब्रह्मज्ञानोत्पन्न होता है। ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याध्ययन; गृहस्थ में देव, पितृ तथा ऋषि-ऋण से उद्धार होने के लिये यज्ञादि कर्म; वानप्रस्थ में तप तथा उपासना एवं संन्यासाश्रम में मोक्ष के लिये ब्रह्मज्ञान का सम्पादन किया जाता है। इस प्रकार क्रमपूर्वक ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से संन्यास में प्रवेश करे : **'आश्रमादाश्रमं गत्वा'** (मनु० ६।३४)। अथवा यदि मन में पूर्ण वैराग्य हो तो

ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ले, या गृहस्थ से अथवा वानप्रस्थ से संन्यास ग्रहण करे :

'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदगृहाद्वा वनाद्वा' (जाबाल उप०४)

इन शास्त्र-वाक्यों मे कहा गया है कि 'ब्रह्मचर्यादि आश्रम से संन्यास गृहण करे'। क्योंकि मोक्ष का अंग संन्यास है, इसलिए मोक्षार्थी पुरुष संन्यास में मन लगावे : **'मनो मोक्षे निवेशयेत्'** (मनु०६।३६)। 'किन्तु यदि कोई विधुर होने के कारण अनाश्रमी है, तो क्या उसका मोक्ष एवं संन्यास में अधिकार नहीं है ?' इसके उत्तर में महर्षि वेदव्यास का कथन है :

'अन्तरा चापि तु तद्दृष्टे :' (ब्र०सू०३।४।३६)

--अन्तरालवर्ती पुरुषों का भी ब्रह्मविद्या आदि में अधिकार है, क्योंकि श्रुति में रैक्व प्रभृति अनाश्रमियों का अधिकार देखा जाता है।

'विशेषानुग्रहश्च' (ब्र० सू० ३।४।३८)

—और विधुर आदि पुरुषों के लिये जप, उपवास तथा देवाराधनादि कर्म विशेषों से चित्त-शुद्धि द्वारा ब्रह्मविद्या में अधिकार सुना जाता है। 'मनुस्मृति' २।८७ में कहा है :

'जप्येनैव तु संसिद्ध्येत् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥'

—ब्राह्मण जप से ही संसिद्ध हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। वह यागादि अन्य कर्म करे या न करे, क्योंकि ब्राह्मण दयावान् कहा जाता है। इससे अनाश्रमी विधुर आदि ब्राह्मण का भी ब्रह्मविद्या और तदंगभूत संन्यास में अधिकार सिद्ध होता है। 'किन्तु इससे क्षत्रिय तथा वैश्य का संन्यास में अधिकार नहीं प्रतीत होता ?' ठीक है, क्षत्रिय तथा वैश्य का संन्यास में अधिकार नहीं है, वह आश्रमी हों या अनाश्रमी। क्योंकि श्रुति-स्मृति में संन्यास आश्रम केवल 'ब्राह्मण' के लिये कहा है :

'ब्राह्मणोनिर्वेदमायाद्' (मु० १।२।१२)

--ब्राह्मण ही वैराग्यपूर्वक संन्यास करे।

'ब्राह्मणाः······व्युत्थाय' (बृ० ३।५।१)

--ब्राह्मण संन्यास का ग्रहण करके।

'ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्' (मनु० ६।३८)

—ब्राह्मण गृहस्थ से संन्यास ग्रहण करे।

इसी प्रकार अन्य अनेकों शास्त्र-वाक्य उपलब्ध होते हैं, जिनमें संन्यास का विधान ब्राह्मण के लिये ही किया गया है। इस पर कुछ लोगों का कहना है कि 'ब्राह्मण' शब्द श्रुति-स्मृति में तीनों वर्णों का उपलक्षक है, क्योंकि यज्ञादि में त्रैवर्णिको का अधिकार है। इसलिये संन्यास में भी तीनों वर्णों का अधिकार है। किन्तु यह ठीक नहीं, **'ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन'** (बृ० ४।४।२२) इस श्रुति में ब्राह्मण शब्द तीनों वर्णों का उपलक्षण हो सकता है, क्योंकि यज्ञादि में द्विजों का अधिकार है। किन्तु जहां संन्यास का प्रसंग है, वहां केवल ब्राह्मण के लिये ही कहा है। 'बृहदारण्यक' ३।५।१ के भाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य ने स्पष्ट कहा है: **'ब्राह्मणाः ब्राह्मणानाम एवाधिकारो व्युत्थाने, अतो ब्राह्मण ग्रहणम्'**—
—संन्यास में ब्राह्मणों का ही अधिकार है, इस लिये यहां 'ब्राह्मण' पद ग्रहण किया गया है। 'मनुस्मृति' 'में **ब्राह्मणः प्रव्रजेद्ग्रहात्'** ६।३८ भी केवल ब्राह्मण के लिये ही आया है। क्योंकि अन्त में कहा गया है कि यह परलोक में अक्षय पुण्य-फल का देने वाला चतुर्विध—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—धर्म ब्राह्मण का कहा गया, अब राज (क्षत्रिय)—धर्म सुनो:

'एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत॥' (६।९७)

इससे स्पष्ट हो जाता है कि संन्यास धर्म एक मात्र ब्राह्मण के लिये ही है, किसी अन्य वर्ण के लिये नहीं। इसके विपरीत यदि तीनों वर्णों के लिये किसी स्मृति में संन्यास का वचन मिलता है, तो वह श्रुति-विरुद्ध होने से बाधित है। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में स्पष्ट कहा है:

'चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ताः स्वाश्रमाः श्रुतिचोदिताः।
क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेको वैश्यशूद्रयोः॥'

—ब्राह्मणों के लिये श्रुतिविहित चारों आश्रम कहे गये हैं, क्षत्रिय के लिये तीन आश्रमों का विधान है, वैश्य के लिये दो आश्रमों का और शूद्र के लिये एक आश्रम कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि ब्राह्मण का ही संन्यास आश्रम में अधिकार है, अन्य वर्ण का नहीं।

'यदि ज्ञानांग संन्यास में केवल ब्राह्मण का ही अधिकार है, तो क्या क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्त्रियों का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है ? क्या ये लोग मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं ?' इस प्रश्न का उत्तर है कि मोक्ष के सभी अधिकारी हैं। ब्रह्मविद्या में भी सभी का अधिकार है। यज्ञ, दान, तप और वेदाध्ययन के द्वारा एवं श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा क्षत्रिय तथा वैश्य भी ब्रह्मज्ञान का सम्पादन कर सकते हैं। इसी प्रकार पुराणों के श्रवण, देवाराधन आदि के द्वारा शूद्र तथा स्त्री भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकती हैं। ज्ञानोत्पन्न होने पर फलरूप संन्यास में सभी का अधिकार है। किन्तु आश्रम संन्यास—लिङ्ग संन्यास--व्यक्त संन्यास में अधिकार केवल ब्राह्मण का ही है। मानस संन्यास—अलिङ्ग संन्यास या त्याग संन्यास में सभी का अधिकार है। पुरुष हो या स्त्री ऐसा संन्यास सभी कर सकते हैं। किन्तु संन्यास आश्रम में काषायवस्त्र केवल ब्राह्मण के लिये ही बतलाया गया है, अन्य किसी वर्ण के लिये नहीं। अन्य योगियों के लिये धातु (कुंकुम, हरताल आदि से) रंगे हुये वस्त्र बतलाये हैं।

'काषायं ब्राह्मणस्योक्तं नान्यवर्णस्य कस्यचित्।
मोक्षाश्रमे सदाप्रोक्तं धातुरक्तं तु योगिनाम्॥'

(अत्रि स्मृति)

राजा जनक, अश्वपति, राम, कृष्ण आदि परम ज्ञानी होने पर भी गृहस्थाश्रम में ही रहे, संन्यासाश्रम में प्रवेश नहीं किया। विदुर भी जाति के शूद्र थे किन्तु ब्रह्मज्ञानी थे। उन्होंने ब्रह्मज्ञान जानते हुये भी धृतराष्ट्र को उपदेश नहीं किया। इसी प्रकार अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। किसी भी क्षत्रियादि ने विधिपूर्वक संन्यासाश्रम ग्रहण किया हो, इसका कहीं उल्लेख नहीं है। इस प्रकार यही निश्चय होता है कि ब्रह्मविद्या में तो सभी का अधिकार है, किन्तु संन्यास में ब्राह्मण मात्र का ही है।

यद्यपि संन्यास तथा त्याग का वाच्यार्थ एक ही है। दोनों का तात्पर्य है--नित्य, नैमित्तिक आदि कर्म एवं कामना का परित्याग। किन्तु संन्यास का लक्ष्यार्थ भिन्न है, 'नारायणोपनिषद्' २।७८ में कहा है: **'न्यास इति ब्रह्म ब्रह्म हि परः'**—संन्यास ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही पर है। इस प्रकार संन्यास का वास्तविक अर्थ ब्रह्म है। **'ज्ञानं संन्यास लक्षणम्'** (ना० परि० ३।१६)

--ज्ञान का लक्षण संन्यास है और अभेद दर्शन ही ज्ञान है : **'अभेद दर्शनं ज्ञानम्'** (मैत्रे० २।२), इस प्रकार प्रत्यगात्मस्वरूप से स्थित होना ही ब्रह्म, ज्ञान एवं संन्यास शब्दों का वास्तविक अर्थ है। इसी लक्ष्यार्थ को दृष्टि में रखते हुये श्रुति ने कहा है :

'कर्मत्यागन्न संन्यासो न प्रेषोच्चारणेन तु ।

सन्धौ जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः ॥' (मैत्रेय्युपनिषद् २।१७)

--न कर्मत्याग से संन्यास होता है न प्रेषोच्चारण से। जीव तथा आत्मा का ऐक्यस्थल--सन्धि ही संन्यास शब्द से कही जाती है। तात्पर्य जहां पर समस्त मानसिक वृत्तियों का पूर्णरूपेण विलय हो जाता है, वही 'संन्यास' है। ब्रह्मात्मा में ही सम्पूर्ण वृत्तियों का लय होता है, क्योंकि वही अधिष्ठान है; इसलिये वही संन्यास का लक्ष्यार्थ है।

इस लक्ष्यार्थ में पहुंचने के लिये संन्यास के वाच्यार्थ का अवलम्बन लेना ही होगा। इसी से श्रुति का कथन है :

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (कैवल्यो० ३)

—न कर्म से मोक्ष मिलता है, न सन्तान से और न धन से ही प्राप्त होता है, एकमात्र त्याग से ही अमृतत्व प्राप्त होता है। गीता में भी कहा है : **'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी'** (५।१३)—नित्य, नैमित्तिकादि समस्त कर्मों को विवेक बुद्धि के द्वारा त्याग कर सुख पूर्वक स्थित हो जाता है। 'ब्रह्मसूत्र' में :

'ऊर्ध्वरेतः सु च शब्दे हि' (ब्र० सू० ३।४।१७)

—कहा है कि संन्यास आश्रम में ब्रह्मविद्या का श्रवण है। क्योंकि **'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति'** (बृ० ४।४।२२)—इसी आत्मलोक को चाहते हुये संन्यासी सब कर्मों का संन्यास करते हैं। इसलिये सम्पूर्ण कर्मों के त्याग द्वारा ही मोक्ष मिलता है। अन्य श्रुति में कहा है :

'वमनाहारवद्यस्य भाति सर्वेषणादिषु ।
तस्याधिकारः संन्यासे त्यक्त देहाभिमानिनः ॥
यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु ।
तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथापतितो भवेत् ॥'

(मैत्रय्यु० २।१८।१९)

—जिसे लोकैषणा आदि सब एषणायें वमन आहारवत् प्रतीत होती हैं, उस देहाभिमानरहित पुरुष का संन्यास में अधिकार है। जब मन से समस्त वस्तुओं में वैराग्य उत्पन्न हो जाय, तभी विद्वान् संन्यास ग्रहण करे, अन्यथा पतित हो जाता है।

संन्यासी छः प्रकार के होते हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत। शिखा, यज्ञोपवीत, दण्ड, कमण्डलुधारी, पादुका, कौपीन, कन्थाधारण करने वाले, श्वेतोर्ध्वपुण्ड्र, त्रिदण्ड और अपने पुत्र के गृह में जो भिक्षा करते हैं, वह 'कुटीचक' हैं। कुटीचक के ही समान चिन्हों को धारण करने वाले, तीर्थस्थानों में भ्रमण करते हुये, भिक्षावृत्ति से रहकर जो आत्माभिलाषी हैं, वह 'बहूदक' हैं। शिखा त्यागकर, यज्ञोपवीत-धारण करने वाले, हाथ में झोली और कमण्डलु रखने वाले एवं केवल एक रात्रि ग्राम में निवास करने वाले और कृच्छ्र, चान्द्रायणादि व्रतशील, एकदण्डधारी 'हंस' कहलाते हैं। 'परमहंस' वे कहलाते है, जो एक-दण्डधारण कर मुण्डन करायें, यज्ञोपवीत रहित हों, पञ्चगृहों से कर में ही भिक्षा लेते हों और सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर आत्मनिष्ठा में रहते हों। जो गोमुखवृत्ति से गृहत्रय में शरीर के रक्षार्थ फल या अन्नाहार करते हों और दिगम्बर हों, वह 'तुरीयातीत' हैं। 'अवधूत' के लिये कोई नियम नहीं है, वह पतितवर्जन पूर्वक सभी वर्णों से अजगरवृत्ति के समान आहार करने वाले और स्वरूपानुसन्धानपर होते हैं।

ज्ञान-प्राप्त करने के लिये जो संन्यास लिया जाता है, उसे 'विविदिषा' संन्यास कहते हैं और जो ज्ञानोत्पन्न के अनन्तर संन्यास होता है, उसे 'विद्वत्' संन्यास कहा जाता है। विद्वत् संन्यास मे क्षत्रियादि का भी अधिकार है। किन्तु आश्रम के चिह्न दण्ड, काषायवस्त्र आदि ब्राह्मण ही धारण कर सकता है, क्षत्रियादि नहीं। इनके अतिरिक्त एक प्रकार का 'आतुर संन्यास' भी है। मृत्युकाल समझ कर जो संन्यास लिया जाता है, वह आतुर संन्यास है। इसका विधान ब्राह्मण के लिये ही है। जो पुरुष सामान्य आत्मज्ञान-सम्पन्न हैं, वह भी संन्यास ग्रहण करते हैं और संन्यासाश्रम

में श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का अभ्यास कर ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान में परिपूर्ण हो जाते हैं। ऐसे ही पुरुषों की ओर लक्ष्य कर श्रुति का कथन है :

'आत्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः···भिक्षाचर्यं चरन्ति'। 'तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः'। (बृ० ३।५।१)

—इसका अर्थ है कि ब्राह्मण आत्मा को जान कर···भिक्षाचर्या से विचरण करते हैं। अतः ब्राह्मण पाण्डित्य—वेदान्त विचार—श्रवण से निश्चय कर बाल्य द्वारा—श्रवणजन्य ज्ञान के बल से अर्थात् मनन से असम्भव आदि का निराकरण कर शुद्ध चित्त से रहने की इच्छा करे। श्रवण और मनन कर तदन्तर मुनि—निदिध्यासन करने वाला हो, अमौन—पाण्डित्य और बाल्य इन दोनों को तथा मौन को प्राप्त कर 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार ब्राह्मण होता है। तात्पर्य जो परोक्षज्ञान वाले संन्यासी हैं, उनके लिये पाण्डित्य, बाल्य और मौन का विधान किया गया है। पाण्डित्य से अज्ञान का निवारण, बाल्य से असम्भावनादि का निराकरण एवं मौन से भेद-दर्शन का उपमर्दन कर ब्रह्म का अनुभव करता है, तभी 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः' (ब्रह्म का जानने वाला ब्राह्मण होता है) के अनुसार वस्तुतः ब्राह्मण होता है और कृतकृत्य हो जाता है।

सूत्रकार ने भी इनका विधान किया है :

'सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्' (ब्र०सू०३।४।४७)

'अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्' (ब्र० सू० ३।४।५०)

'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' (ब्र०सू०३।४।५१)

—प्रथम सूत्र में कहा है कि पाण्डित्य तथा श्रवण की अपेक्षा मौन या निदिध्यासन तृतीय होने से इसकी विधि है। जिस पक्ष में भेद-दर्शन की प्राप्ति है, उस पक्ष में यह विधि युक्त ही है। जैसे दर्शपूर्ण मास प्रधान आदि विधि में सहकारी रूप से, अग्नि के आधान आदि अंग का विधान होता है, वैसे ही ब्रह्म-प्रधान वाक्य में मौन की विधि है।

--दूसरे सूत्र का अर्थ है कि बालक के समान अपने ज्ञान और वैराग्य को लोगों में प्रकट नहीं करता हुआ विचरण करे। क्योंकि 'अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः' (जाबा०६) जिसका चिह्नव्यक्त नहीं है, आचार व्यक्त नहीं है, इस प्रकार श्रुति है। भावशुद्धि का विद्या के उपकार रूप से अन्वय है।

--तीसरे सूत्र का अर्थ है कि प्रस्तुत प्रतिबन्ध न हो, तो इसी लोक में--जन्ममें विद्या उत्पन्न होती है और यदि कोई प्रतिबन्ध हो, तो विद्या जन्मान्तर में भी उत्पन्न हो सकती है। कोई नियम नहीं है कि इसी जन्म में विद्या का फल होगा या जन्मान्तर में। क्योंकि **'शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः'** (क०२।७)—बहुत से लोग सुनते हुये भी उसे नहीं जानते, इस कथन से प्रतिबन्ध की सिद्धि होती है।

'वार्तिक सार' आदि ग्रन्थों में प्रतिबन्ध भूत, वर्तमान और भविष्य-भेद से तीन प्रकार के हैं। वामदेव और शुकदेव आदि का प्रतिबन्धक्षय भूत था इसी लिये विद्या साधन सामग्री के न होने पर भी गर्भ में ही विद्योत्पत्ति हो गई थी। प्रतिबन्धक्षय होने पर जन्मान्तर के श्रवणादि से ही विद्या उत्पन्न हो गयी। इस जन्म में आत्म विद्या श्रवणादि होने पर जिनको तत्त्वज्ञान नहीं होता, उनका प्रतिबन्धक्षय भावी है और जिन महापुरुषों को विद्या श्रवणादि के उपरान्त तत्त्वज्ञान हो जाता है, उनका प्रतिबन्धक्षय वर्तमान है। वर्तमान प्रतिबन्ध का वर्णन करते हुये श्री विद्यारण्य स्वामी ने कहा है :

'प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः।
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः॥'

(ध्यानदीप ४३)

विषयासक्ति, प्रज्ञा की मन्दता, कुतर्क और विपरीत ज्ञान का दुराग्रह, ये वर्तमान प्रतिबन्धक हैं। जब शम, दमादि एवं श्रवण, मननादि के द्वारा इन प्रतिबन्धों का क्षय होगा, तो तत्त्वज्ञान तुरन्त ही होगा। तात्पर्य तत्त्वज्ञान न होने में प्रतिबन्ध ही बाधक हैं, प्रतिबन्धक का निवारण होने पर एक बार के श्रवण से ही तत्त्वज्ञानोत्पत्ति होगी, इसमें संशय नहीं। इस कारण शमादि और श्रवणादि की निरन्तर आवृत्ति करते रहना चाहिये :

'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्र० सू० ४।१।१)

—'श्रवण करना चाहिये, मनन करना चाहिये, निदिध्यासन करना चाहिये' श्रुति में अनेक बार प्रत्यय की आवृत्ति का उपदेश है, इसलिये जब तक आत्म साक्षात्कार न हो जाय, तब तक श्रवण आदि की आवृत्ति करनी चाहिये।

आत्मसाक्षात्कार प्रत्यक्ष होता है, इस लिये श्रवणादि की आवृत्ति आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त ही कर्तव्य है। जैसे अवघातादि की समाप्ति तण्डुल की निष्पत्ति होने पर ही होती है, क्योंकि तण्डुल की प्राप्ति ही अवघात का दृष्ट फल है, वैसे ही आत्मसाक्षात्कार श्रवणादि का प्रत्यक्ष फल है, अतः फल-प्राप्त-पर्यन्त श्रवणादि की आवृत्ति करते रहना चाहिये।

एक बात और। सुवर्ण तथा हीरा आदि रत्न की खान के ऊपर भ्रमण करते रहने पर भी भूगर्भ विद्या से अनभिज्ञ पुरुष उससे अपनी दरिद्रता दूर नहीं कर सकते। वैसे ही सम्पूर्ण प्राणी प्रति दिन ब्रह्म के पास जाते हैं, किन्तु उसका ज्ञान न होने के कारण सदैव दुःखी और बन्धन ग्रस्त रहते हैं। भूगर्भ विद्या का अभिज्ञ यदि बतला दे कि 'यहां हिरण्य और यहां हीरा का भंडार है, तो प्रयत्न से उसको पाकर पुरुष का दारिद्रय दूर हो जाता है। वैसे ही ब्रह्मज्ञानी गुरु के द्वारा यह कहने पर कि 'तू ही ब्रह्म है' वह मननादि से साक्षात्कार कर लेता है और कहता है कि 'मैं ही ब्रह्महूँ', तब सम्पूर्ण दुःख और बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस लिये ब्रह्मज्ञ गुरु परमावश्यक हैं।

उपनिषदों में गुरु की शरण जाना और उनसे विद्योपदेश ग्रहण का उल्लेख बार-बार किया गया है। 'मुण्डक' में कहा है :

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'

(१।२।१२)

—उस नित्य आत्म तत्त्व का साक्षात्कार करने के लिये हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जाना चाहिये। गुरु शास्त्राध्ययन और श्रवण किये हुये अर्थ से सम्पन्न हों एवं अद्वितीय ब्रह्म में ही जिनकी पूर्ण निष्ठा हो, ऐसे गुरु के निकट आत्मोद्धार के लिये गमन करना चाहिये। जब तक 'श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ' इन दो गुणों से

सम्पन्न गुरु न होंगे, तब तक शिष्य का संशय दूर न होगा और आत्मानुभव भी न हो सकेगा।

'छान्दोग्य उपनिषद' ६।१४।१–२ में गुरु की महत्ता प्रदर्शित करने के लिये एक आख्यायिका कही गई है। गान्धार देश निवासी एक सम्पन्न पुरुष अपने गृह के प्राङ्गण में सो रहा था। द्रव्य-हरण करने वाले चोरों ने उसके हाथ-पैर बाँध दिये और नेत्रों में पट्टी बाँध कर अत्यन्त जनशून्य वन में उसे छोड़ दिया। व्याघ्रादि पशु तथा कुश, कण्टकादियुक्त वन में वह क्षुधा-पिपासा-संतप्त दुःख से आर्तनाद कर रहा था। उधर से कोई दयालु पुरुष निकला। उसने नेत्रों से पट्टी खोली, हाथ-पैरों के बन्धन भी खोल दिये और गान्धार देश का मार्ग बतला दिया। वह पुरुष बुद्धिमान था, मार्ग पूंछता हुआ अपने गृह आया और परिवार से मिल कर प्रसन्न हो गया।

इसी प्रकार तेज, जल तथा अन्नादिमय देहरूप वन में, जो वात, पित्त, कफ, रुधिर, मेद, मांस, अस्थि, मज्जा, शुक्र, कृमि और मल-मूत्र से पूर्ण तथा शीतोष्णादि अनेकों द्वन्द्व एवं सुख-दुःख से युक्त है। यह जीव मोह-रूप वस्त्र से बँधे हुये नेत्रवाला होकर, स्त्री, पुत्र, मित्र, पशु, धन, सम्पत्ति बन्धु आदि दृष्ट-अदृष्ट अनेकों विषय तृष्णाओं से बँधा पुण्य–पापरूप चोरों द्वारा छोड़ा गया है। देहारण्य में पड़ा जीव आर्तनाद करता है—'मैं सुखी-दुःखी हूँ', 'मैं पण्डित-मूढ़ हूं', 'उत्पन्न तथा मृत्युग्रस्त हूँ', 'जरायुक्त, पापी हूं', 'मेरा पुत्र मर गया है', 'धन नष्ट हो गया है' हा! मैं मारा गया, अब कैसे जीवित रहूँगा, मेरी क्या गति होगी? मेरा रक्षक कौन है?' पुण्य की अधिकता से कोई दयालु, सद्ब्रह्मात्मज्ञ, बन्धनमुक्त सद्गुरु प्राप्त होते हैं और दयावश सांसारिक विषयों के दोष-दर्शन का मार्ग बतलाते हैं। जब वह विषय-भोगों से विरत हो जाता है, तब सद्गुरु बतलाते हैं कि 'तू संसारी नहीं है, पुत्रत्वादि धर्मवाला भी नहीं है, तू जरा-मरण रहित, नित्य, अविनाशी, आत्मतत्त्व है'। गान्धारदेशीय पुरुष के समान बुद्धिमान होने से अपने सदात्मा को प्राप्त कर सुखी और शान्त हो जाता है।

इसी लिये श्रुति कहती है: **'आचार्यवान्पुरुषो वेद'** (छा० ६।१४।२)—

आचार्य सम्पन्न पुरुष ही आत्मतत्त्व को जानता है। सद्गुरु अनुपम हैं। पारसमणि के स्पर्श से लौह सुवर्ण बन जाता है, किन्तु पारस नहीं बनता। परन्तु सद्गुरु की कृपा होने पर शिष्य सद्गुरु ही बन जाता है, इस कारण गुरु उपमारहित हैं। शास्त्र-वाक्य, गुरूपदेश एवं शिष्य का अनुभव जब इन तीनों की एकरूपता होती है, तभी शुद्ध अनुभव होता है। ब्रह्मात्मानन्दानुभव होने पर वह पूर्ण, शान्त एवं अद्वयब्रह्म ही हो जाता है।

गीता में भी भगवान् का कथन है कि उस परमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिये ज्ञानी--शास्त्रज्ञ एवं तत्त्वदर्शी--जिसने तत्त्व का प्रत्यगभिन्नरूप से साक्षात्कार किया हो, उस पुरुष से तत्त्व-ज्ञान के लिये प्रणिपातपूर्वक सेवा एवं निष्कपट भाव से प्रश्न करने पर, वह ज्ञानसम्पन्न तत्त्वदर्शी गुरु तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे--

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (गी० ४।३४)

इस कथन से भगवान् ने भी आत्मज्ञान के लिये गुरु का विधान किया है। कुछ लोग कहते हैं कि 'गुरु की आवश्यकता ही क्या? स्वयं आत्मा गुरु है'। किन्तु यह ठीक नहीं, आत्मा तो अपना स्वरूप ही है। यदि वही गुरु होता तो सभी को लौकिक–पारलौकिक ज्ञान हो जाना चाहिये था। पर ऐसा नहीं देखा जाता। विना गुरु के 'क, ख, ग' का भी जब ज्ञान नहीं हो सकता। तब परलोक या ब्रह्मात्मज्ञान का होना तो असम्भव ही है। अतः असंदिग्ध रूप से सद्गुरु की अपेक्षा है और विना गुरु के आत्मज्ञान सम्भव ही नहीं।

:o⊂⊃o⊂⊃o:

मुक्ति और मुक्त

प्रतिबन्ध का निवारण होने पर ब्रह्मविद्या उत्पन्न होती है और विद्योत्पन्न होने पर पुरुष को मोक्ष मिलता है। अब प्रश्न होता है कि मोक्ष में उत्कर्षापकर्ष है या नहीं ? मोक्ष इसी जीवन में होता है कि मृत्यूपरान्त परलोक में ? मोक्षोपरान्त पुरुष जीवित रहता है या नहीं ? और मोक्ष आत्मा से भिन्न है या अभिन्न ? इत्यादि विचार यहां किया जा रहा है।

प्रतिबन्ध के अभाव में एक बार के श्रवण से ही ज्ञानोत्पन्न होता है और प्रतिबन्ध होने पर अनेक बार के श्रवण से भी ज्ञानोत्पन्न नहीं होता। वायु आदि के प्रतिबन्ध से दीप की उत्पत्ति में विलम्ब होने पर भी उसके उत्पन्न होने पर अन्धकार दूर होने में बिलम्ब नहीं होता। वैसे ही राग आदि प्रतिबन्धक होने पर ज्ञानोत्पन्न में विलम्ब सम्भव है, किन्तु ज्ञानोत्पन्न होते ही अनात्मप्रत्ययस्वरूप अज्ञान के दूर होने में विलम्ब नहीं होता। स्थाणु में पुरुष की प्रतीति अन्धकार आदि के कारण होती है, पर जब अन्धकारादि की निवृत्ति होती है, तब स्थाणु-प्रतीति में कुछ भी बिलम्ब नहीं होता। स्थाणु प्रतीति से चोर आदि का भय तुरन्त निवृत्त हो जाता है। उसी प्रकार राग, प्रज्ञामान्द्य आदि प्रतिबन्ध निवृत्त होने पर आत्मवृत्ति की उत्पत्ति के साथ ही

अनात्मप्रत्यय का निवारण होता है। अनात्मप्रत्यय का निवारण और आत्मवृत्ति का उदय ही मोक्ष है।

स्वर्ग के साधन यज्ञादि में तारतम्य है, अधिक यज्ञ करने पर अधिक समय तक स्वर्ग में उत्कर्ष प्राप्त होता है और सीमित यज्ञ करने पर अपकर्ष के साथ अल्पावधि तक ही स्वर्ग में स्थान मिलता है। इसी प्रकार उपासना के तारतम्य में भी फल का उत्कर्षापकर्ष है। ब्रह्मलोक में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्यभेद से मुक्ति चार प्रकार की कही गई है। यह मुक्ति-भेद साधन के उत्कर्षापकर्ष के कारण है। किन्तु ज्ञान में इस प्रकार का कोई उत्कर्षापकर्ष नहीं है, इस लिये मुक्ति में भी कोई भेद नहीं है। साधारण मनुष्य हो या ब्रह्मा ज्ञान से मुक्ति एक ही प्रकार की होती है। इस पर शंका होती है कि 'ज्ञान भी बुद्धि की आत्माकार वृत्ति ही है। एक पुरुष ने चिरकाल तक आत्मवृत्ति का अभ्यास किया, दूसरे ने अल्पकाल ही अभ्यास किया एवं तीसरे व्यक्ति ने केवल एक बार ही आत्मवृत्ति की, तो निश्चय ही तीसरे से दूसरे को फल अधिक होगा और दूसरे से प्रथम व्यक्ति को अधिक मोक्ष फल होगा।' इसका समाधान है कि ऐसा नहीं होगा, ज्ञान से मुक्ति होती है, यह सिद्धान्त है और एक बार आत्मवृत्ति होना ही ज्ञान है, जब ज्ञानोत्पन्न हो गया, तो मोक्ष भी हो गया ही। फिर आत्मप्रत्यय अधिक काल तक करे या न करे अथवा जीवन पर्यन्त करता रहे या न करे, इससे कोई अन्तर नहीं आता। यह कहीं भी नहीं कहा है कि एक बार, दश बार, सौ बार अथवा जीवन पर्यन्त आत्मवृत्ति का प्रवाह प्रवाहित होने पर ही मुक्ति होगी। अनेक बार या जीवन पर्यन्त आत्मप्रत्यय तो ध्यान है, ज्ञान नहीं। यदि किसी को अनात्मप्रत्यय की प्रतीति से विक्षेप होता हो, तो चिरकाल तक आत्मा का ध्यान करता रहे इससे कोई हानि-लाभ नहीं। अज्ञानावरण का ध्वंस तो एक बार के ज्ञानोत्पन्न से ही हो चुका और मोक्ष भी प्राप्त हो गया। फिर आत्मप्रत्यय का मोक्ष से कोई सम्बन्ध ही नहीं।

मोक्षावस्था एक रूप है, क्योंकि ब्रह्म ही मुक्तावस्था है और ब्रह्म अनेक नहीं हो सकते। सूत्रकार ने कहा है—

'एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः' (ब्र०सू०३।४।५२)

—इसका अर्थ है कि ज्ञानोत्पन्न में कोई नियम नहीं है कि इस जन्म में हो या जन्मान्तर में। इसी प्रकार मुक्तिफल में किसी विशेष नियम की आशंका नहीं है, क्योंकि उसी अवस्था का अवधारण किया गया है। **'ब्रह्मवेदब्रह्मैवभवति'** (मु० ३।२।९)—ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है, इत्यादि श्रुतियों में साक्षात्कार के बाद मोक्षावस्था का अवधारण है।

ब्रह्म स्वरूप का वर्णन सभी वेदान्तों में एक ही प्रकार का बतलाया गया है—

'सवा एष महानज आत्माजरोऽमृतोऽमरोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५)

—यह महान् अज आत्मा अजर, अमृत, अमर, अभय ब्रह्म है।

'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८)

—स्थूल नहीं, अणु नहीं।

'यत्र नान्यत्पश्यति' (छा० ७।२४।१)

—जिस भूमा तत्व में अन्य दृष्टव्य को अन्य कारण से अन्य दृष्टा नहीं देखता।

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५)

—जहाँ उसका सब आत्मा ही हो गया, वहां किससे, किसको देखें ?

इसी प्रकार अन्याय श्रुतियों में भी ब्रह्मस्वरूप उत्कर्षापकर्ष रहित, निर्विशेष और आत्मा से अभिन्न कहा गया है। यज्ञादि कर्म से स्वर्ग साध्य है और उपासना से भी मुक्ति साध्य है, इसलिये साधन के उत्कर्षापकर्ष से फल में भी उत्कर्षापकर्ष होना ठीक ही है। किन्तु इनमें मुक्ति साध्य नहीं है, नित्यसिद्ध स्वभाव ही ज्ञान से प्राप्त किया आता है। प्राप्ति की ही प्राप्ति होती है, अप्राप्ति की प्राप्ति नहीं होती। इस लिये साधन के उत्कर्षापकर्ष से मुक्ति फल में उत्कर्षापकर्ष नहीं है। साधन तो प्रतिबन्ध-निवारण के लिये हैं, मोक्ष के लिये नहीं, क्योंकि मोक्षस्वरूप आत्मा तो प्राप्त ही है। अतः ज्ञान में मुक्ति एक रूप ही होती है, न्यून या अधिक का कोई भेद नहीं है।

शास्त्रों में ब्रह्म और आत्मा का एकत्व प्रनिपादन किया गया है :

'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७)

—वह सत्यस्वरूप है, वह आत्मा है, वह तू है।

'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३।७।३)
—यह तेरा आत्मा सर्वान्तर्यामी है, अमृत है।
'अहंब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०)—मैं ब्रह्म हूँ।
सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ०४।५।७)

—जो सबको आत्मा से भिन्न जानता है, सब उसे परास्त कर देते हैं
'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'—(क० ४।१०)
—जो इस तत्त्व में भेद देखता है, वह मरण परम्परा को प्राप्त होता है। ब्रह्म ही आत्मा है और आत्मा ही ब्रह्म है, इस प्रकार दोनों एक हैं, नाम-मात्र का अन्तर है। जो इस अभेद दर्शन में भेद-ग्रहण करते हैं, वह पुरुषार्थ से पतित हो जाते हैं। जन्म-मरण और अनादि दुःख परम्परा में ही पड़े रहते हैं। सूत्रकार ने भी कहा है :

'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' (ब्र० सू० ४।१।३)

—'ब्रह्म आत्मा है' इस प्रकार ब्रह्म का ध्यान करना चाहिये और **'तत्त्वमसि'** आदि वाक्य इसी का ज्ञान कराते हैं, अतः 'ब्रह्म आत्मा है' इसी प्रकार ग्रहण करना चाहिये। तात्पर्य अभेद दर्शन का प्रतिपादन सभी शास्त्र करते हैं। इस लिये अभेद दर्शन ही परमपुरुषार्थ है। आत्मा सभी को प्राप्त है, प्राणी का स्वरूप ही है। अज्ञानावरण के कारण दर्शन नहीं होता, अज्ञानावरण हटने पर शास्त्र-प्रमाण से आत्मानुभव होता है। आत्म दर्शन होने पर पुरुष का बन्धन विनष्ट हो जाता है, वह मुक्त होता है। फिर उसका जीवन में कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता, क्योंकि 'जो कुछ करना था कर लिया और जो कुछ पाना था, पा लिया' इस प्रकार का उसका निश्चय होता है। स्वयं ब्रह्मस्वरूप में स्थित रहता है, न उसको पाप कर्म स्पर्श कर सकते है, न पुण्य कर्म। क्योंकि कर्माकर्म से पृथक् वह ज्ञानस्वरूप आत्मा ही हो गया है। उसके सभी कर्म ज्ञानाग्नि द्वारा भस्म हो चुके हैं, अतः जीवित अवस्था में भी वह मुक्त ही है।

उपासकों का जीवन पर्यन्त उपासना करना कर्तव्य है, किन्तु ब्रह्म-ज्ञानियों का कोई कर्तव्य नहीं है।

'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' (ब्र० सू० ४।१।१३)

—इस सूत्र से महर्षि ने कहा है कि ब्रह्म के साक्षात्कार के बाद उत्तर और पूर्व पापों के असंश्लेष और विनाश होते हैं, क्योंकि **'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते'** (छा० ४।१४।३)—जैसे कमल के पत्तों को जल नहीं लगता, इसी प्रकार ऐसा जानने वाले में पाप कर्म नहीं लगता। इस श्रुति में ब्रह्मज्ञानी के आगामी पापकर्मों का ब्रह्मज्ञानी से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, यह बतलाया गया है। इसी प्रकार अन्य श्रुति में कहा है : **'तद् यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मनः प्रदूयन्ते'** (छा० ५।२४।३)—इसलिये जैसे मुञ्जमध्यवर्ती तृण का अग्रभाग अग्नि में प्रक्षिप्त होने पर जल जाता है, इसी प्रकार इस विद्वान् के सब पाप भस्म हो जाते हैं। इसमें पूर्व के समस्त संचित पापों का विनाश कहा गया है। यही श्रुति भी कहती है :

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥'

(मु० २।२।८)

—उस सर्वज्ञ, असंसारी पर (कारण स्वरूप) और अवर (कार्य-स्वरूप) परमात्मा का साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थियां टूट जाती हैं, सब संशय नष्ट हो जाते हैं और इसके सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानी का पूर्व कर्म और ज्ञान के पश्चात् कर्मों के फलों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। ज्ञान से पहले अनेक जन्म-जन्मान्तर और कल्प-कल्पान्तर के एकत्रित पाप कर्म एवं इस जन्म में भी पहले के कर्म सभी ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाते हैं। और ज्ञान के पश्चात् किये गये पापकर्मों का ज्ञानी से स्पर्श ही नहीं होता, क्योंकि वह कर्तृत्वरहित होता है।

यह शङ्का भी उचित नहीं कि **'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि'**—जिन कर्मों का उपभोग नहीं किया गया है, वह सौ कल्पकोटि में भी क्षय नहीं होते। क्योंकि कर्मों में फलदायिनी शक्ति है। किन्तु वह शक्ति विद्या आदि कारणों से प्रतिबद्ध होने से क्षीण हो जाती है। 'कर्म में फल देने की शक्ति है', शास्त्रका इतना कथन मात्र है, किन्तु प्रतिबन्ध या अप्रतिबन्ध में शास्त्र का व्यापार नहीं है। 'कर्म क्षीण नहीं होता' यह सामान्य नियम है। किन्तु **'सर्वं पाप्मानं तरति'**—सब पाप को

तैरता है, इस प्रायश्चित आदि से उसका विनाश इष्ट ही है। इसी प्रकार **'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा'** (गी० ४।३७)—वैसे ही ज्ञानाग्नि—तत्त्वज्ञान सब कर्मों को भस्म कर देता है, यह विशेष नियम है। अतः ज्ञान के पश्चात् कर्मों का कोई अस्तित्व नहीं रहता।

इस पर कहा जाता है कि 'पापकर्म शास्त्र विरुद्ध और बन्धनकारक होने से ज्ञानी के क्षय हो जाते हैं। किन्तु पुण्यकर्म शास्त्रीय हैं और ज्ञान से उनका कोई विरोध भी नहीं है, वह तो ज्ञानी में रहते ही हैं।' इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं :

'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु' (ब्र० सू० ४।१।१४)

—पूर्व और उत्तर पुण्य का पूर्वोत्तर पाप के समान असम्बन्ध और विनाश होता है और ब्रह्मविद् के बन्ध हेतु पुण्य-पाप का अभाव होने से मुक्ति अवश्य होगी। **'उभे उहैवैष एते तरति'** (बृ० ४।४।२२)—यह ब्रह्मवेत्ता इन दोनों—पुण्य एवं पापलक्षण कर्मों को तैर जाता है। जिस प्रकार पापकर्म बन्धन कारक हैं, वैसे ही पुण्यकर्म भी बन्धन कारक हैं। आत्मा अकर्ता है, कर्म अध्यास के कारण होते हैं, जब विद्वान् अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है और 'मैं कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित, अकर्ता-अभोक्ता ब्रह्मस्वरूप ही हूँ' ऐसा अनुभव करता है, तब उनका न पापकर्म से सम्बन्ध रहता है न पुण्यकर्म से। इसलिये ज्ञान के पहले इस जन्म के या कोटि जन्मों के पुण्य का भी विनाश पाप के साथ ही हो जाता है और ज्ञान के पश्चात् पापकर्म के समान पुण्यकर्म का भी विद्वान् से स्पर्श नहीं होता। वह अकर्ता होता है।

संचित पुण्य-पापात्मक कर्मों का विनाश होता है और आगामी पुण्य-पापरूपकर्मों का ज्ञानी से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। किन्तु आरब्धकर्म देह की स्थिति पर्यन्त विद्यमान रहते हैं। यही निर्णय सूत्रकार कहते हैं :

'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः' (ब्र० सू० ४।१।१५)

—जिनका फल आरब्ध नहीं है, ऐसे संचित पुण्य-पाप कर्म ज्ञान से नष्ट होते हैं। क्योंकि **'तस्य तावदेव चिरम्'** (छा० ६।१४।२)—श्रुति से देहपात पर्यन्त आरब्धकर्म की अवधि कही गई है। यदि आरब्ध कर्म का भी विनाश स्वीकार किया जाय, तो ब्रह्मज्ञानी का देहपात तुरन्त ही हो

जाना चाहिये। क्योंकि जिन कर्मों से शरीर मिला है, यदि वही न रहे तो फिर शरीर ही कैसे रह सकता है ? अग्नि और बीजों का संसर्ग होने पर वीज भस्म हो जाते हैं, किन्तु जो बीज खेत में अंकुरित हो गये हैं, वह अंकुररूप से विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार संचित कर्म ज्ञानाग्नि से भस्म हो गये हैं, किन्तु जो कर्म शरीर रूप से फलोन्मुख हो चुके हैं, उनका विनाश अपने कार्य के क्षीण होने पर ही होगा। यद्यपि रज्जुसर्प का भ्रम प्रकाश से निवारण हो चुका है, तथापि अन्धकार में संस्कार के कारण पुनः भ्रम की प्रतीति होती ही है, किन्तु अब निश्चय रज्जु का ही होता है, सर्प का नहीं। इसी प्रकार अज्ञान का बाध होने पर कर्म की कोई स्थिति नहीं रहती, तथापि संस्कार के कारण कर्म में प्रवृत्ति देखी जाती है, पर 'आत्मा अकर्ता है' इसका विस्मरण नहीं होता। कर्तापन, भोक्तापन की भ्रान्ति अब नहीं रहती। वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि की तत्त्वज्ञानोपरान्त भी देह की स्थिति का वर्णन मिलता है। इस कारण ज्ञानोपरान्त भी विद्वान् जीवित रहता है और जीवन्मुक्ति के आनन्द का उपभोग करता है। आरब्ध कर्म क्षीण होने पर शरीर पात होता है।

'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते' (ब्र० सू० ४।१।१९)

—अनारब्ध से अन्य आरब्ध पुण्य और पापों का भोग से नाश कर पुरुष ब्रह्मसम्पन्न होता है। **'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये'** (छा० ६-१४-२)—उस पुरुष को उतने ही काल तक विलम्ब होता है, जब तक उसका देहपात नहीं होता, देहपात होते ही वह सत्स्वरूप में सम्पन्न हो जाता है। **'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'** (बृ० ४-४-६)—ब्रह्म ही होकर ब्रह्म में लीन होता है। **'जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहोऽपि स केवलः'** (अध्या० १६)—जिसको जीवित अवस्था में ब्रह्मत्व की प्राप्ति हुई है, वह विदेह में भी ब्रह्म को पाता है। इत्यादि श्रुतियों से यह जाना जाता है कि इसी जीवन में मुक्ति मिलती है और मुक्ति के उपरान्त प्रारब्ध-भोग क्षीण होने पर शरीर पात होता है। सशरीर मुक्तावस्था में रहता है और अशरीर होने पर भी मुक्त ही रहता है। वस्तुतः दूसरों की दृष्टि में शरीर है, किन्तु उसकी दृष्टि में शरीर नहीं रहता, वह तो अपने ब्रह्मस्वरूप में

ही स्थित रहता है। शरीरपात के अनन्तर कोई हेतु ही नहीं रहता जिससे पुनः उसका जन्म हो। क्योंकि अज्ञान और उससे उत्पन्न कर्म का विनाश सम्यक् ज्ञान से पहले ही हो चुका है। अतः उसका पुनर्जन्म नहीं होता, प्रारब्ध कर्म क्षीण होने पर निश्चय ही मुक्त हो जाता है।

प्रारब्ध कर्म क्षीण होने पर तत्त्वदर्शी पुरुष के प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता। वह इसी जीवन में ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। शरीर, इन्द्रिय तथा प्राण से उसकी पृथक् स्थिति रहती है और प्रारब्ध-क्षय होने पर शरीरेन्द्रियादि अपने मूल कारण में विलीन हो जाती हैं एवं आत्मा महान् आत्मा में उसी प्रकार मिल जाता है, जैसे घट टूटने पर घटाकाश महाकाश में मिल जाता है।

श्रुति, सूत्र और स्मृति में इसका प्रतिपादन किया गया है। सूत्रकार कहते हैं :

'स्पष्टो ह्येकेषाम्' (ब्र० सू० ४-२-१३)

—इसका अर्थ है कि काण्वों की शाखा में ब्रह्मविद् के प्राणों की उत्क्रान्ति का निषेध मिलता है, इसलिये तत्वज्ञ के प्राणों का देह से उत्क्रमण नहीं होता। आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया—**'यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति'** (बृ० ३-२-११)—जब यह ब्रह्मवेत्ता पुरुष मृत्यु को प्राप्त होता है, तब उसके प्राण ऊर्ध्व को जाते हैं या नहीं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि प्राण उत्क्रमण नहीं करते—**'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः'** (बृ० ३-२-११)। तब क्या यह ब्रह्मवेत्ता मरता नहीं है ? इस शंका के निवारण के लिये याज्ञवल्क्य ने कहा—

'अत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते'
(बृ० ३-२-११)

—वे यहीं इस परमात्मा में ही अभेद को प्राप्त हो जाते हैं। तात्पर्य तत्त्ववेत्ता के भूत और इन्द्रियवर्ग अपने मूलभूत परमब्रह्म सत्ता में एकीभाव से लीन हो जाते हैं, जैसे समुद्र में तरंग। तब क्या वह मरता नहीं है ? ऐसी बात नहीं, वह मरता है, क्योंकि वह फूल जाता है। बाह्य वायु से भर जाता है और निश्चेष्ट पड़ा रहता है। इसी प्रकार दूसरी श्रुति भी कहती है :

'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ० ४-४-६)

—जिसे कामना नहीं है, जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता, वह ब्रह्म ही रह कर ब्रह्म को प्राप्त होता है। इसी प्रकार महाभारत में भी कहा है कि सब भूतों का जो आत्मरूप है और जिसको भूतों का आत्मभाव से ज्ञान है, ऐसे प्राप्य पदरहित ब्रह्मवेत्ता के पद की इच्छा करने वाले देवता भी उसके मार्ग में मोहित हो जाते हैं :

'सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः ।
देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः ॥'

इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी के प्राण शरीर से निकल कर अन्य कहीं नहीं जाते, इसलिये न उनको किसी परलोक की प्राप्ति होती है और न पुनर्जन्म की। उसकी इन्द्रियां और भूतवर्ग अपने मूलस्वरूप परमआत्मा में ही विलीन हो जाते हैं। जैसे ये नदियां समुद्र में जाकर विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार प्रत्यग् ब्रह्म का दर्शन करने वाले इस पुरुष के ये प्राण, श्रद्धा आदि जो पुरुष में कल्पित हैं, ज्ञेय पुरुष को प्राप्त कर उसमें विलीन हो जाते हैं :

'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' (प्रश्न० ६-५)

पारमार्थिक दृष्टि से परमात्मा में ही सम्पूर्ण कलायें विद्वान् की लीन होती हैं और व्यावहारिक दृष्टि से पार्थिवादि कलायें पृथिवी आदि स्वप्रकृति में लीन होती हैं। या ऐसा भी समझा जा सकता हैं कि पृथिवी का विकार अपनी प्रकृति पृथिवी में लीन होता है, जल का जल में, तेज का तेज में, वायु का वायु में और आकाश का विकार अपनी प्रकृति आकाश में विलीन होकर अनन्तर उनके साथ परमात्मा में लीन होता है।

'अविभागो वचनात्' (ब्र० सू० ४-२-१६)

—सूत्र में कहा गया है कि विद्वान् की कलाओं का ब्रह्म के साथ अविभाग है, क्योंकि कलाओं के लय के पीछे कहा है कि **'भिद्येते तासां**

नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति' (प्रश्न० ६-५) --इन कलाओं के नाम और रूप का नाश हो जाता है, जो तत्त्व नष्ट नहीं होता, उस अनष्ट तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता 'पुरुष' कहते हैं, वह कलारहित अमृत है। अविद्या से उत्पन्न कलायें विद्या से उसी प्रकार नाश हो जाती हैं, जिस प्रकार ज्ञान से रज्जु में सर्प का नाश होता है। अतः जब मूल कारण अविद्या का ही उच्छेद विद्या से हो गया, तब अविद्या की शाखा, प्रशाखायें स्वतः नष्ट हो ही जायंगी। इस प्रकार एक परम तत्त्व में ही अविद्या और उसके कार्य शरीर तथा इन्द्रियों का प्रविलय हो जाता है।

घट-नाश के पश्चात् घटाकाश महाकाश में लीन होता है, घटोपाधि से रहित हो जाता है। वैसे ही शरीरोपाधि के परम कारण ब्रह्म में लीन होने पर आत्मा भी परमात्मा में लीन हो जाता है। घटाकाश महाकाश से न तो पृथक् है और न घट-नाश पर लीन ही होता है, क्योंकि घट की स्थिति में भी वह आकाश ही है और घट-नाश के पीछे भी आकाश ही रहता है। केवल घटोपाधि के कारण 'घटाकाश' कहा जाता है और घटाकाश की अपेक्षा आकाश को 'महाकाश' कहते हैं। घटोपाधि न रहने पर केवल 'आकाश' ही रहता है। घटाकाश का आकाश में विलीन होना कोई नये स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु प्राचीन स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार 'जीवात्मा' उपाधि के कारण कहा जाता है और इसकी अपेक्षा 'परमात्मा' कहा जाता है। वस्तुतः तो एक 'आत्मा' ही है। शरीरोपाधि के समय भी आत्मा ही है और शरीर का नाश होने पर भी आत्मा ही रहता है। विद्या से अविद्योपाधि का निवारण होने पर अपने प्राचीन आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति होती है, यही आत्मा की प्राप्ति है, कोई नवीन वस्तु की प्राप्ति नहीं होती।

(क) **'संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्'** (ब्र० सू० ४।४।१)

(ख) **'मुक्तः प्रतिज्ञानात्'** (ब्र० सू० ४।४।२)

(ग) **'आत्मा प्रकरणात्'** (ब्र० सू० ४।४।३)

(घ) **'अविभागेन दृष्टत्वात्'** (ब्र० ४।४।४)

इत्यादि सूत्रों में इसी का निश्चय किया गया है। इनके क्रमशः अर्थ हैं :

(क) प्रकाशस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार करके उसी आत्मरूप से विद्वान् आविर्भूत होता है, क्योंकि **'स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते'** (छा० ८।१२।३) —उसी अपने आत्मरूप से आविर्भूत होता है, ऐसी श्रुति है।

(ख) मुक्ति को प्राप्त पुरुष पूर्ण आनन्द रूपसे अवस्थित रहता है, क्योंकि **'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि'** (छा० ८।११।३)—मैं अब तुमसे इसी आत्मा के विषय में फिर व्याख्यान करूँगा, इसी श्रुति में अवस्थातीत आत्मा के व्याख्यान करने की प्रतिज्ञा है। उसी का निरूपण 'स्वेन रूपेण' से करके **'स उत्तमः पुरुषः'** (छा० ८।१२।३)—वह उत्तम पुरुष है, कहा है।

(ग) **'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाऽभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः'** (छा० ८।१२।३) (—पर ज्योति को प्राप्त करके उसी अपने आत्मरूप से अभिनिष्पन्न होता है, वह उत्तम पुरुष है) इसमें 'ज्योति' शब्द से आत्मा का ही ग्रहण है, क्योंकि **'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः'** (छा० ८।७।१)–जो आत्मा पापरहित, जरारहित और मृत्युरहित है। इस प्रकार आत्मा का ही प्रकरण है।

(घ) मुक्त जीव निरतिशयानन्द ब्रह्मरूप से अभिन्न ही अवस्थित रहता है, क्योंकि 'स उत्तमः पुरुषः' इस वाक्य में तत् शब्द से अभिनिष्पन्न रूपका अनुवाद करके उसकी 'स उत्तमः पुरुषः' इस वाक्य से ब्रह्मरूपता कही गई है **'तत्त्वमसि'** (छा० ६।८।७)—वह तू है और **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृ० १।४।१०)–मैं ब्रह्म हूं आदि वाक्यों में भी जीव को ब्रह्म से अभिन्न कहा गया है।

मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म से अभिन्न होता है, जीवत्व (शरीर के धर्म–कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व आदि) का बाध होने पर अपने निर्विशेष सत्य, ज्ञानानन्दस्वरूप में अवस्थित होता है। यहां पर कुछ विद्वान् कहते हैं कि 'ब्रह्म सर्वज्ञ, सत्यकाम, सत्यसंकल्पादि धर्मों से युक्त है, इस कारण तमुक्त पुरुष भी सत्यज्ञानानन्द स्वरूप के साथ सर्वज्ञत्वादि धर्मों से भी संयुक्त अविस्थत होता है।

दूसरे विद्वान् इस पक्षका खण्डन करते हैं और कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप सत्यज्ञानानन्द ही है, अतः मुक्त इसी स्वरूप में अवस्थित होता है। सर्वज्ञ, सत्यकामत्व आदि धर्म यद्यपि ब्रह्ममें कहे गये हैं, तथापि वह उपाधि के सम्बन्ध से हैं, चैतन्य के समान आत्मस्वरूप नही हो सकते, इस कारण वह औपाधिक धर्म असत् हैं। 'आत्मरति' आदि शब्दों के समान हंसना, खेलना आदि शब्दों का प्रयोग स्तुति परक है। दुःख का अभाव कहने के अभिप्राय से धर्मों का संकीर्तन स्तुत्यर्थक है, मुख्य अर्थ में इनका अभिप्राय नहीं है। मायोपाधि से ब्रह्म में सर्वज्ञत्वादि धर्म कहे हैं और अविद्योपाधि से अल्पज्ञत्वादि धर्म जीव में हैं, औपाधिक धर्मों का बाध होने पर ही स्वरूप का एकत्व होता है। अतः उस स्थिति में न सर्वज्ञत्व धर्म हैं और न अल्पज्ञत्व धर्म। चैतन्य मात्र से स्वरूपावस्थिति होती है, क्योंकि **'एवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव'** (बृ० ४।५।१३)—सैन्धवघन के समान सर्वांश से यह ब्रह्म प्रज्ञानघन—ज्ञानैकरस एक ही है, इस प्रकार की श्रुति है। इसलिये सब धर्मों से रहित चैतन्यस्वरूप से मुक्त पुरुष की अवस्थिति होती है।

इस पर बादरायणाचार्य का कहना है—

'एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः' (ब्र० सू० ४।४।७)

—पारमार्थिक चैतन्यमात्र स्वरूप का स्वीकार करने पर भी पूर्वोक्त उपन्यास आदि हेतुओं से सर्वज्ञत्वादि धर्म व्यावहारिक होने से कोई विरोध नहीं है। तात्पर्य कि सर्वज्ञत्वादि धर्म अत्यन्त सत्य नहीं हैं और अत्यन्त असत्य भी नहीं हैं, क्योंकि श्रुति में दोनों प्रकार का कथन है। यदि अत्यन्त असत्य स्वीकार किया जाय तो समस्त व्यवहार का लोप हो जायगा और अत्यन्त सत्य स्वीकार किया जाय तो **'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्'** (क० १।२।१४)—जो धर्म से पृथक्, अधर्म से पृथक् तथा इस कार्यकारणरूप प्रपंच से भी पृथक् है, आदि अद्वैत श्रुतियों का बाध होगा। इसलिये सर्वज्ञत्वादि धर्म को अनिर्वचनीय मानना युक्ति संगत है। वस्तुतः आत्मा का सत्यज्ञानानन्द स्वरूप पारमार्थिक है, किन्तु व्यावहारिक रूप से सर्वज्ञत्वादि धर्मों को भी स्वीकार करना

चाहिये। यदि शंका हो कि अखण्ड चैतन्य मात्र के ज्ञान से मुक्त में अज्ञान का अभाव है और धर्मों का सम्बन्ध अज्ञान प्रयुक्त है, इसलिये यह दोनों कैसे सम्भव हैं ? तो इसका समाधान है कि जो ईश्वर के धर्म हैं, वे ही मुक्त पुरुष में अन्य जीवों द्वारा व्यवहृत होते हैं। स्वयं मुक्त पुरुष को इन धर्मों का भान नहीं होता। अज्ञ पुरुष अविद्या युक्त होते हैं, इसलिये निर्विशेष ब्रह्म उनको सविशेष—सगुण प्रतीत होता है। रज्जु सर्प के समान अज्ञानी को ब्रह्म धर्मयुक्त प्रतीत होता है और ज्ञानी को धर्मातीत। इसलिये प्रमाता के भेद से उन धर्मों की व्यवस्था होने से दोनों की उपपत्ति होती है।

इस प्रकार ज्ञान से अज्ञान और अज्ञानकृत निरतिशय दुःखों का समूल उच्छेद हो जाता है। और ब्रह्मस्वरूप निरतिशय आनन्द प्राप्त होता है। जीव ब्रह्म ही है, अज्ञान के कारण बन्धन में पड़ता है। ज्ञानोदय होने पर अज्ञान का परदा हट जाता है, तब अपने को सर्वथा मुक्त, अमर, चेतन, आनन्द, आकाशवत्, एक, अखण्ड एवं सर्वोपाधि विवर्जित रूप से देखता है। क्योंकि यही उसका वास्तविक स्वरूप है। वस्तुतः तो न निरोध है और न उत्पत्ति, न बद्ध है और न साधक, मुमुक्षु नहीं है और मुक्त भी नहीं हैं, यह परमार्थ है—

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्नबद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थतः॥'

(आत्मोपनि० ३१)

इसी प्रकार आत्मज्ञानी का अनुभव भी है, वह कहता है :

'न मे बन्धो न मे मुक्तिर्न मे शास्त्रं न मे गुरुः।
मायामात्रविकासत्वान्मायातीतोऽहमद्वयः ॥'

(आत्म प्र० १९)

—न मेरा बन्धन है, न मुक्ति है, न शास्त्र है, न गुरु है, माया के विकाश होने पर इनकी प्रतीत होती है, मैं माया से अतीत, अद्वय स्वरूप हूं। यही शास्त्र की उपयोगिता और पुरुष की कृतकृत्यता है।

मुक्त पुरुष का दृढ़ निश्चय होता है कि 'जो करना था वह कर चुके और जो पाना था वह पा चुके'। इसलिये जब कुछ प्राप्तव्य ही नहीं रहा, तो कर्तव्य स्वतः समाप्त हो जाता है। यज्ञादि कर्म, जप, तप, योग, उपासना एवं ज्ञान का परम लक्ष्य है ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति। 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार जब प्रत्यक्षानुभव होता है, तब जीव अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त हो जाता है। अनन्तर कोई कर्तव्य शेष न रहने से वह निर्द्वन्द्व, एवं ब्रह्मात्मानन्दार्णव में सदैव निमग्न रहता है। स्वाभाविक कर्म करते हुये भी वह अकर्ता ही रहता है और अपने स्वरूपानन्दामृत का सर्वदा पान करता रहता है।

:o⊃o⊃o: